

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

।। वीतरागाय नमः ।।

परमपूज्य आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज द्वारा विरचित

संयम प्रकाश

उत्तरार्द्ध–प्रथम भाग

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के परम शिष्य परम पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषणजी महाराज के मुनि अवस्था के प्रथम चातुर्मास के शुभ अवसर पर दिगम्बर जैन समाज कैलाश नगर द्वारा प्रकाशित एवं स्वाध्यायार्थ सप्रेम भेंट

(वीर निर्माण सम्वत २५२० विकम सम्वत २०५१ मिति दि० १४ सितम्बर १९९४)

प्राप्ति स्थान

श्री दिगम्बर जैन समाज

गली नं० २ कैलाश नगर दिल्ली-११० ०३१

मद्रक - राधा प्रेस २४६५ मेन रोड कैलाश नगर दिल्ली-११० ०३१

श्री महावीराय नमः

प्रकाशकीय

१० अप्रैल १९९४ पूज्य (१०५ क्षुल्लक श्री कुलभूषण जी अब मुनिराज श्री १०८ धर्मभूषण जी महाराज के मुनिदीक्षा समारोह में गन्नौर मडी (हरियाणा) जाने का सुअवसर मिला साथ मे जैन समाज कैलाश नगर के प्रधान ला० सुखवीर सिह जैन गली न० २ ला० जयपाल जैन (अरहत धागे वाले), श्री धर्मपाल जैन प्रधान गली न० १२ श्री चमनलाल जैन, श्री सुभाष चन्द जैन जोहडी वाले श्री सुरेन्द्र कुमार जैन पानीपत वाले, श्री सुखपाल सिह जैन श्री आदिश्वर जैन आदि अनेक महानुभाव और शालीमार बाग से श्री श्रीपाल जैन गोहाने वाले) भी थे। दीक्षा महोत्सव के पश्चात हम लोग महाराज श्री के दर्शनार्थ त्यागी भवन गये वहाँ महाराज श्री प्रसन्न और शात मुद्रा मे विराजमान थे। साथ ही एक ग्रथ चौकी पर विराजमान था।

धर्म चर्चा के बीच महाराज श्री ने सयम प्रकाश ग्रथ पर प्रकाश डाला और इसके पुन मुद्रण की प्रेरणा समाज को दी। महाराज श्री को यह ग्रथ पालम कालोनी दिल्ली से प्राप्त हुआ था। महाराज श्री की प्रेरणा के फलस्वरूप समाज ने ग्रथ प्रकाशन करना स्वीकार किया और महाराज श्री से मुनिअवस्था का प्रथम चातुर्मास कैलाश नगर मे करने की प्रार्थना महाराज श्री से की। पश्चात महाराज श्री का विहार गुरूवर आचार्य श्री १०८ शाति सागर महाराज के सानिध्य में अनेको स्थानो पर हुआ और जैन समाज कैलाश नगर ने अनेक स्थानों पर कैलाश नगर चातुर्मास की प्रार्थना दोहराई। समाज की भक्ति व पुण्योदय से समाज की प्रार्थना स्वीकार हुई।

महाराज श्री की प्रेरणा ग्रथ को प्रथम चतुर्मास जो १७९४ से कैलाश नगर मे होना था प्रकाशित कर वितरित कराने की थी। इस अल्प अवधि मे ग्रथ को प्रकाशित कराने के लिए हमे फिल्म द्वारा छपवाने का निर्णय लेना पडा और मुद्रण मे भी शीघ्रता की गई इसलिए मूलग्रथ की छपाई मे जो त्रुटिया रह गई थी वह पूर्णतया ठीक नहीं हो सकी, फिर भी सतोष है कि ग्रथ को पाठको तक समय पर देना सभव हो सका।

ग्रथ के रचियता परम पूज्य १०८ आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज परम तपस्वी थे।

इस ग्रथ में सयम का वर्णन है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसके सयम मे भेद प्रभेदो को बहुत विस्तार से समझाया गया है इसका प्रारम्भिक मगलाचरण से यह भी स्पष्ट है कि यह कोई नवीन रचना नहीं है, सयम-प्ररूपक विभिन ग्रथों के विषय का संग्रह मात्र है। सयम विषयक प्राय सभी जैन ग्रथों के प्रमाण इसमें मौजूद हैं। इतना ही नहीं जैनेतर साहित्य के प्रमाणो को भी ग्रथ के विषय को समझाने के लिए उदघृत किया गया है। इससे यह ग्रथ सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी बन गया है। विभिन्न विषयो को देखने के लिए पाठक तो यह चाहता है कि वह थोडे समय में बहुत अधिक जान जावे। ऐसे पाठकों के लिये इस प्रकार के सग्रह बहुत उपयोगी होते हैं।

सयम की उपयोगिता अत्याधिक रूप मे सभी धर्माचार्यो ने स्वीकार की है । घोर नास्तिक भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते। क्योकि परलोक को छोड भी दे तो भी इस लोक मे साधुओ को शॉत एव सफल जीवन व्यतीत करने के लिए इसकी नितात आवश्यकता है। सयम हीन जीवन पर्वत से गिर पाषाण खड की तरह कहाँ जाकर गिरेगा इसका कोई अदाज नहीं लगा सकता।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान होने के कारण समय को सर्वाधिक महत्व देता है। गृहस्थ धर्म प्रवृत्ति प्रधान है और मुनिधर्म निवृत्ति प्रधान है पर यदि इन दोनो मे ही सयम का अभाव हो तो न वह सच्चा गृहस्थ है न ही सच्चा मुनि। इस लिये यह कहना सर्वथा उचित है कि सयम ही मनुष्य के पवित्र जीवन की कसौटी है जैन शास्त्रो मे जैसा गभीर मनोवैज्ञानिक एव सम्पुर्ण विवेचन मिलता है ऐसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस लिए इस ग्रथ का स्वाध्याय करके भव्यो को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

इस ग्रथ के दस अधिकार है। आदि के पाच अधिकार (पूर्वाध मे)सकल सयम मुनि धर्म और अत के पाच अधिकार (उत्तरार्द्ध) मे देश सयम (ग्रहस्थ धर्म) का वर्णन है। पूवार्द्ध की पाच अधिकार प्रथम व द्वितीय भाग मे है। और उत्तरार्द्ध के पाच अधिकार तृतीय व चतुर्थ भाग में है।

ग्रथ के प्रकाशन मे सकल जैन समाज एव अन्य सहयोगियो का सहयोग हमे मिला जिसके फलस्वरूप बहुत कम समय मे यह ग्रथ प्रकाशित हो सका समस्त जैन समाज कैलाश नगर उनका आभारी है और आशा करते है कि भविष्य मे इसी प्रकार, आप सबका सहयोग हमको मिलता रहेगा।

ग्रथ का स्वाध्याय कर जन साधारण सयम की ओर अग्रसर होकर अपना जीवन सफल बनायें।

इसी भावना के साथ स्वाध्यायार्थ सप्रेम भेट

श्री दिगम्बर जैन समाज, कैलाश नगर दिल्ली-११००३१

अध्यक्ष	विशेष सहयोगी	सयोजक	सरक्षक
ला० सुखवीर सिह जैन	श्री श्रीपाल जैन (गोहाने वाले)	श्री सुरेन्द्र कुमार जैन (पानीपत वाले)	श्री धनपाल सिह जैन (दरियागज)

श्री १०८ आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज का जीवन परिचय

श्री आचार्य सूर्यसागर जी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ला नवमी शुक्रवार विक्रम सम्वत् १९४० को ग्वालियर रियासत के शिवपुर जिलान्तर्गत पेमसर नामक ग्राम मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री हीरालाल व माता का नाम गैंदबाई था। आप पोरवाल दिगम्बर जैन जाति के यसलहा गोत्र मे उत्पन्न हुए हैं।

गृहस्थाश्रम मे आपका नाम हजारीमल जी था। हीरालालजी के सहोदर भाई श्री बलदेव जी के कोई सतान नहीं थी अत हजारीमलजी उनके दत्तक हो गये। बलदेव जी की धर्मपत्नी का नाम भूलाबाई था। बलदेवजी झालरापाटन मे अफीम की दलाली करते थे। हजारीमलजी बाल्यावस्था मे ही झालरापाटन आ गये और वहाँ ही उन्हे सामान्य शिक्षा प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश स० १९५२ मे जबकि हजारीमलजी बारह वर्ष के ही थे श्री बलदेव जी की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद हजारीमलजी का पालन पोषण झालरापाटन के प्रसिद्ध सज्जन नाथूरामजी जोरजी रावके द्वारा हुआ। ये बलदेवजी के परम मित्र थे। परिस्थितिवश हजारीमलजी को विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी और छोटी अवस्था मे ही शिवपुर जिले के मेवाड ग्राम मे ओंकारमलजी पोरवाल की सुपुत्री मोताबाई के साथ विवाह भी हो गया। इसके कुछ दिनो बाद हजारीमलजी इन्दौर चले गये और वहाँ आपने रावराजा सर सेठ आदि अनेक पद विभूषित श्री हुकुमचन्दजी साहब के यहाँ तथा बाद मे स्वर्गीय सेठ कल्याणमलजी के यहाँ नौकरी की। किन्तु आपको नौकरी करना पसन्द नहीं आया। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ही आपने अच्छा समझा और एक कपडे की दुकान इन्दौर मे ही कर ली। साथ मे कपडे की दलाली भी करते रहे। इससे आपकी आर्थिक स्थिति सतोषजनक रही।

आपके कई सताने हुई। उनमें श्री शिवनारायणजी एव समीरमलजी दो पुत्र अब भी मौजूद हैं, जो इन्दौर मे ही कपडे का व्यवसाय करते हैं।

हजारीमलजी की बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर बहुत रुचि थी। शास्त्र, स्वाध्याय, पूजन प्रक्षाल, सामायिक आदि मे आप बचपन से ही काफी समय लगाया करते थे। ज्यो-२ अवस्था बढती गई, धर्म की ओर आप अधिकाधिक झुकते गये। भाग्यवश आपको धर्मपत्नी भी ऐसी ही मिली जो धार्मिक चर्चाओं को अच्छी तरह समझती और गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रथो का स्वाध्याय करती थी। इससे आपको ज्ञान वृद्धि में काफी सहायता मिली। पर दुर्भाग्यवश यह सहयोग बहुतकाल तक न रहा। वि० सवत् १९७२ मे आपकी स्त्री का देहान्त हो गया। पत्नी वियोग के पश्चात ससार शरीर और भोगों मे आप उदासीन रहने लगे और हृदय मे वैराग्य -मय जीवन व्यतीत करने की आकाक्षा बढने लगी।

स० १९८१ का वर्ष था। एक दिन रात्रि के समय श्री हजारीमलजी को यह स्वपन्न हुआ कि जलाशय मे एक तख्ते पर बैठा हुआ कोई आदमी उनसे कह रहा है कि "चलो आओ, दर न करो।" पर उसके आग्रह करने पर भी उन्होने जलाशय मे प्रवेश नहीं किया। तब उस आदमी ने तख्ते को किनारे पर लगाया और उनको किसी तरह तख्ते पर चढाकर थोडी दूर जल मे ले जाकर एक स्थान पर रखे हुए पीछी

कमण्डल की ओर सकेत करके कहा-इन्हे उठा लो। पर उन्होने इनकार कर दिया। उस व्यक्ति के दो तीन बार कहने पर भी जब उन्होंने पीछी कमण्डल नहीं उठाये और 'नहीं उठाऊँगा' यह कहते हुए ही बिस्तरो पर कुछ हटे तो पलग पर से गिर पडे।

यह सब स्वप्न था। कोई सच्ची घटना नहीं। फिर भी इसने हजारीमलजी के जीवन मे पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और उनका संसार छोडने का विचार और दृढ हो गया। सयोगवश उस वर्ष सवत् १९८१ मे श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) का चातुर्मास्य योग इन्दौर मे ही था। हजारीमलजी को ससार से विरक्ति हो गई थी। फलस्वरूप आसोज शुल्का षष्ठी वि० स० १९८१ को श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) के पास आपने ऐलक दीक्षा ले ली। ऐलक हो जाने के बाद इन्हीं हजारीमलजी का नाम सूर्यसागरजी रखा गया। इसके ५१ दिन पश्चात मगसर कृष्णा एकादशी को हाटपीपल्या (मालवा) मे उन्ही आचार्य शान्तिसागरजी के पास सर्व परिग्रह को त्यागकर आपने निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

मुनि-जीवन की दीक्षा के बाद स्वात्मोत्थान का विचार तो आपके सामने रहा ही, पर स्वेत्तर प्राणियो को किस तरह धर्म पर लगाना चाहिए यह विचार भी आपके हृदय मे सतत बना रहा और इसके अनुसार आपकी शुभ प्रवृत्तियॉ भी होती रहीं। आपके सद्उपदेशो से अनेक स्थानो पर पाठशालाएँ, औषधालय आदि अनेक परोपकारी सस्थाए खुलीं। सैकडो स्थानो मे विनाशकारी सघर्ष मिटकर शान्ति स्थापित हुई। जो झगडे न्यायालयो से न मिट सके थे, जो पचासो वर्षो से समाज की शक्ति को क्षीण कर रहे थे, जिनमे हजारो रुपये नष्ट हो चुके थे, जिनको लेकर बीसों बार मारपीट और सिर फुटबाल तक हो चुकी थी, परस्पर पिता-पुत्र, भाई-बहन स्त्री-पुरुष, आदि मे जिनके कारण खूब लडाइया चल रही थीं, परस्पर कुटुम्बियो मे जिनके वजह से आना जाना और मुख से बोलना तक बद था-ऐसे एक नहीं सैकडो व्यक्तिगत, सामाजिक पचायत परोपकारी सम्बन्धित चौमूँ, भिड, जयपुर, टोक, मुँगावली, दक्षुरई, चँदेरी, हाटपीपल्या, टीकमगढ, नेणवॉं, उदयपुर, सेपवारी, भीलवाडा, नरसिहपुरा, डबोक, साकरोदा भादवा, आदि सैकडो स्थानो के झगडे आपके उपदेशामृत से शात हुए। इससे जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। जिन-जिन नगरो व ग्रामो में आपका पदार्पण हुआ है, शान्ति की लहर दौड गई है। यही वर्तमान मुनि-समाज मे आपका आदरणीय स्थान है और सभी नवीन तथा प्राचीन विचार वालो-की आप मे श्रद्धा है। जैन समाज मे ही नहीं जैनेतरो पर भी आपके उपदेशो का प्रभाव पडता है और फलस्वरूप वे प्रतिज्ञाए लेते हैं।

मुनि दीक्षा लेने के बाद अब तक निम्नलिखित स्थानो पर आपका चातुर्मास्य योग हुआ है-

विक्रम सवत् १९८२ मे-ललितपुर। स ८३-८४ मे इन्दौर। स० -८५ मे-कोडरमा। स० ८६ मे-जबलपुर। स० ८७ मे -दमोह। स०८८ मे-खुरई। स० ८९ मे-टीकमगढ। स० ९० में-भिड। सं० ९१ मे-आगरा। स० ९२ में-लाडनूँ। स० ९३ में जयपुर। स० ९४ में-अजमेर। स० ९५ मे-उदयपुर (मेवाड)। स० ९७ मे-भिडर (मेवाड)। स० ९८ मे-भीलवाडा (मेवाड)। स० ९९ मे-लाडनूँ। स० २००१ में जयपुर। इन सभी स्थानो पर आपकी पावन-कृपा से जनता को बहुत लाभ पहुँचा हैं

धार्मिक शिक्षा एवं सामाजिक संगठन के प्रेरणा स्रोत

पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषण जी महराज

पूज्य मुनिराज करूणा की मूर्ति निस्पृह वृत्ति समाज सुधारक महान तपस्वी दिगम्बर सन्त हैं। आपकी आदर्श मुनिचर्या एवं ~~किठन~~ तपस्या का जनमानस पर अपूर्व प्रभाव है। आपकी प्रवचन शैली जनसाधारण की भाषा मे हृदय ग्राही-ओजस्वी एवं तर्क सगत है।

आप का जन्म श्रावण शुक्ल सप्तमी विक्रम सम्वत् ~~१९६६~~ को उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला अन्तरगत करनवाल ग्राम में सम्पन्न एव धार्मिक परिवार मे हुआ। आपके पिता श्री डाल चन्द जैन और माता श्रीमती हुक्मा देवी जैन सरल परिणामी सदग्रस्थ थे। आपका नाम प्रेम चन्द रखा गया। बालक प्रेम चन्द बचपन से ही धर्म के प्रति रूचिवान और जिज्ञासु थे। १७ वर्ष की अल्पायु मे आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज के सानिध्य में क्षुद्र जल का त्याग एव संयम का प्रतीक जनेऊ धारण किया। ग्रहस्थ मे रहते हुए आपने व्यापार में प्रमाणिकता स्थापित की परन्तु व्यापार आपका विषय नहीं था। आपका मन तो वैराग्य की ओर झुका हुआ था।। सयम के प्रति रूचि प्रणामों में निर्विता बढती गई और २४ वर्ष की आयु में आचार्य शिवसागर जी महाराज से स्वामियों की जयपुर में दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। निरन्तर धर्मध्यान, आहारदान साधु सतो में रहना व्रत सयम आपकी दैनिक चर्या बन चुके थे। फलत २८ वर्ष की आयु मे आचार्य विमल सागर जी महाराज से पहाडी धीरज दिल्ली में सप्तम प्रतिमा व्रत ग्रहण किए। साधना बढती गई और ४१ वर्ष की आयु मे पूज्य आचार्य १०८ श्री शांति सागर जी महाराज (हस्तिनापुर वालों से) रामपुर मनिहारन मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। महाराज श्री ने आप का नाम कुलभूषण रखा। आपका विहार सर्वत्र ग्राम-नगर उ०प्र०, हरियाणा, दिल्ली अनेक स्थानो में हुआ और अनेक चतुर्मास हुए। आपके उपदेशो से प्रभावित होकर जगह-जगह धार्मिक पाठशालाए स्कूल कालिज, त्यागी भवन, धर्मशाला बनवाए व जिनवाणी का जिर्णोधार कराया। आप उपदेशों मे समाज उद्धार, दहेज प्रथा पर प्रतिबंध एवं बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था आदि पर विशेष ध्यान देते हैं।

छपरौली मेरठ मे जैन कॉलिज एव गन्नौर मन्डी (हरियाणा) में जैन कालिज, धर्मशाला जिनमंदिर जिर्णोद्धार आदि बहुत बडे कार्य आपकी प्रेरणा से हुए परन्तु निस्पृह वृत्ति के परिणाम स्वरूप आपने किसी भी स्थान पर अपना नाम लिखवाने से मना कर दिया।

साधना दिन प्रतिदिन बढती गई एव परिणामों में निर्मलता आति गई। और दि० १७-४-९४ को गन्नौर मण्डी हरियाणा में परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शांति सागर जी महाराज से दिगम्बर मुनि व्रत ग्रहण किए। महाराज श्री ने आपका नाम मुनिवर श्री १०८ धर्मभूषण जी रखा

मुनि दीक्षा का समारोह बहुत आकर्षक था। गन्नौर मडी को दुल्हन की तरह सजाया गया था। दूर-दूर से सामाजिक नेता, राजनेता, विद्वान गण पधारे थे। अपार जन समूह दिगम्बरत्व की जय बोल रहा था।

महाराज श्री का मुनिअवस्था का प्रथम आहार सेठ चन्द्रभान आनन्द कुमार जैन (राइस मिल वाले) गन्नौर मण्डी हरियाणा मे हुआ था।

जैन समाज कैलाश नगर की प्रार्थना स्वीकार कर महाराज श्री ने मुनिअवस्था का प्रथम चतुर्मास का सौभाग्य कैलाश नगर वासियों को दिया। चतुर्मास में बहुत धर्म प्रभावना हो रही है प्रवचनो मे बहुत भीड रहती है। महाराज श्री की हम पर अपार कृपा है।

चतुर्मास के इस पुनित अवसर पर महाराज श्री के चरणो मे शत-शत नमोस्तु

दिगम्बर जैन समाज

कैलाश नगर दिल्ली-११००३१

संक्षिप्त जीवन परिचय

पिता	-	स्वर्गीय श्री डाल चन्द जैन
माता	-	स्वर्गीय श्रीमती हुक्मा देवी जैन
भाई	-	स्वर्गीय सलेक चन्द जैन व रूप चन्द जैन
बहिन	-	श्रीमती कमला तथा जयमाला देवी जैन
धर्मपत्नी	-	श्रीमती शीलवती जैन
सुपुत्र एव सुपुत्री	-	श्री आदिश कुमार जैन एव अजना जैन

———o———

पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्म भूषण जी महाराज का संदेश

1 **स्वाध्याय परम तप है**

स्वाध्याय से ज्ञान और ज्ञान से चरित्र मे निर्मलता आती है अत नित्यप्रति धार्मिक ग्रथो का घर व मदिर जी मे स्वाध्याय करना चाहिए।

2 नित्य प्रति देव दर्शन, रात्रि भोजन का त्याग और पानी छान कर पीना चाहिए।

3 मास मदिरा अडे आदि के सेवन का त्याग तो प्रत्येक जैन के जन्म से ही होता है चाँदी का वर्क, साबूदाने, रेशमी वस्त्र आदि का जिनके उत्पादन मे हिंसा होती है ऐसी सभी पदार्थो का त्याग करे।

4 विवाह आदि के अवसर पर रात्रि में सामूहिक भोजन एव दहेज प्रथा पर प्रतिबध लगावे।

5 जनसाधारण के हितार्थ प्रत्येक स्थान पर धर्मार्थ औषधालय खोले जायें जिनमें शुद्ध औषधि का प्रबध हो जिनके माध्यम से व्रतियो साधु सतों की सेवा भी की जा सके।

6 बच्चो का भविष्य उज्जवल बनाने और सासारिक करने के लिए धार्मिक पाठशालाए खोली जाए जिनके माध्यम से बच्चे ज्ञानवान चरित्रवान बने व अपने कर्तव्यों का बोध कर देश व समाज की उन्नति मे सहयोगी बने।

आशा है उपरोक्त तथ्यों की और समाज जागरूक होकर कर्तव्य का पालन करेगा।

शिष्य परम्परा

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (छाणी)

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विजयसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ निर्मलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (हस्तिनापुर)

परम पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषणजी महाराज



परम पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषण जी महाराज

भजन

हम स्यादवाद का डका फिर,
दुनिया मे आज बजायेगे।
प्रभु वीर जिनेश्वर के गुण गा,
जग से मिथ्यात्व हटायेगे।।
हठ का हम भूत भगायेगे,
अपेक्षा से समझायेंगे।
अनेक गुण है वस्तु मे,
स्याद वाद से बतलायेगे।।
है एक उमग भरी दिल मे,
लहराये अहिसा का झडा।
है भव्य जीवो से भरी हुई,
पृथ्वी को कर दिखलायेगे।।
परिग्रह वृत्ति को दूर भगा,
आकिचन धर्म अपनाएगे।
सिद्धान्त तीन महावीर के हैं,
जन-जन मे हम पहुचायेंगे।।
समत भद्र जैसा डका,
अक लक बन आज बजायेगे।
आचार्य कुन्द-कुन्द कह गये,
अध्यात्म सुमन संजोयेगे।।
जिन धर्म का बिगुल बजायेगे,
हम दूर भगा कायरता को।
छोड वृथा झगडो को हम,
झण्डे की लाज बचायेगे।।

❋ विषय-सूची ❋

विषय-सूची

॥ श्री सर्वज्ञजिनवाणी नमस्तस्यै ॥

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ जय जय जय, नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु !! नमोऽस्तु !!!

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः । कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोनमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका । मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंशकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री संयम प्रकाश नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य श्री सूर्यसागर महाराज आचार्येण विरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृणवन्तु ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दाद्या जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ १ ॥

— प्रत्येक मनुष्य को नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिए । —

।।जिनवाणी स्तुती।।

वाणी सरस्वती तू, जिनदेव की दुलारी।

स्याद्धाद नाम तेरा, ऋृषियो की प्राण प्यारी।।

सुर-नर मुनिन्द्र सबही, तेरी सुकीर्ति गावे।

तुम भक्ति में मग्न हो, तो भी न पार पावें।।

इस गाढ मोह मद मे, हमको नहीं सुहाता।

अपना स्वरूप भी तो, नहीं मातु याद आता।।

ये कर्म-शत्रु जननी, हमको सदा सताते।

गति चार माही हमको, नित दुख दे रूलाते।।

तेरी कृपा से मा कुछ, हम शांति लाभ कर लें।

तुम दत्त ज्ञान बल से निज पर पिछान कर ले।।

हे मात तुम चरण में, हम शीश को झुकायें।

दो ज्ञान दान हमको, जब लो न मोक्ष पावें।।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

उत्तार्द्ध-प्रथम किरण

(गृहस्थ धर्म)

संयम—प्रकाश

उत्तरार्द्ध

❀ मङ्गलाचरण ❀

नत्वा श्रीवीरजिनं कलिमलहरणं विशुद्धचिद्रूपम् ।
संयमविकाशकेऽस्मिन् वक्ष्येऽहमुपासकाचारम् ॥ १ ॥ *

ग्रन्थ के आरम्भ में जो मुनि और श्रावकों के आचरण निरूपण करने की प्रतिज्ञा की थी उसके अनुसार मुनियों के आचार का तो ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में सविस्तार (पांच किरणों में) वर्णन किया जा चुका है अब उत्तरार्द्ध में श्रावकाचार का वर्णन किया जायगा। इसके निम्न लिखित पांच अधिकार नियत किये गये हैं :—

(१)—सम्यग्दर्शनाधिकार
(२)—पाक्षिकाचाराधिकार
(३)—दर्शन-व्रत-प्रतिमाधिकार
(४)—सामायिकादिपरिग्रहत्यागप्रतिमाधिकार
(५)—उत्तमनैष्ठिक साधकाधिकार

इनमें से इस पहली किरण में क्रम प्राप्त सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डाला जाता है।

(*) द्वादशाङ्गों में श्रावक धर्मनिरूपक सातवें अङ्ग का नाम उपासकाध्ययन है। श्री वसुनन्दी ने भी स्वरचित प्राकृत श्रावकाचार का नाम उपासकाध्ययन रक्खा है। अत:उपासक शब्द को महत्त्वशाली समझ कर इस संयम-प्रकाश ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध का दूसरा नाम उपासकाचार भी रक्खा जासकता है।

अथ सम्यग्दर्शनाधिकार

देशसंयमी व मिथ्यात्वी का स्वरूप

जो भव्यजीव मिथ्यात्व, सासादन, और सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीन गुणस्थानों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पूर्वक अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान का धारक हो जाता है वही देशसंयत (विरताविरत) नामक पांचवें गुणस्थान में पूर्ण रूप से देशसंयम को पालन करने का अधिकारी होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी चारित्र मिथ्याचारित्र ही कहलाता है। स्मरण रखने की बात है कि अनादिकाल से जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध लगा हुआ है। यह पहले भी कहा जा चुका है। इन कर्मों में सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है। इस मोहनीय कर्म के दो भेद है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमें से दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा का जैसा शत्रु है वैसा चारित्र मोहनीय नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मदिरा से उन्मत्त हुआ मनुष्य स्वपर को भूल जाता है उसी प्रकार इस दर्शन मोहनीय के उदय से यह जीव जड़ चेतन के स्वरूप को भूल कर स्त्री पुत्रादि और धन गृहादि पर पदार्थों को अपनाने लगता है और आत्म-स्वरूप से विमुख हो जाता है। इस प्रकार आत्म स्वरूप को भूल जाना, उसमें रुचि का न होना, या उसमें संशय वा विपरीतता उत्पन्न हो जाना ही मिथ्यादर्शन है। इसी मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व भी कहते हैं। जो मिथ्यादर्शन का धारक जीव है वह मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाता है। कहा भी है—

मिथ्यात्वी द्वारा विपरीत श्रद्धान

मिच्छत्तरसपउत्तो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण मुणइ हियं च अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो ॥१३॥ [भावसंग्रह-देवसेन सूरि]

अर्थ—जिस प्रकार पित्तज्वर वाला मधुर पदार्थ को भी अत्यन्त कटु अनुभव करता है उसी प्रकार मिथ्यात्व का धारक जीव भी हित और अहित को न जान कर पदार्थों में विपरीत श्रद्धान करता है।

मिथ्यात्व के दो भेद

यह मिथ्यात्व अगृहीत और गृहीत (निसर्गज तथा अधिगमज) के भेद से दो प्रकार का है। कहा भी है—

किस जीव के कौनसा मिथ्यात्व होता है।

एकेन्द्रियादिजीवानां घोराज्ञानविवर्तिनाम् ।
तीव्रसंतमसाकारं मिथ्यात्वमगृहीतकम् । [अन. ध. टीका अ. २।१०]

अर्थ—एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के द्रव्यमन के अभाव से परोपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं है अतः इनके हेयोपादेय का विशेष ज्ञान न होने से घोर अन्धकार के समान अगृहीत मिथ्यात्व ही कहा गया है।

संज्ञी जीवों के गृहीत और अगृहीत दोनों तरह के मिथ्यात्व हो सकते हैं, उनमें भी बहुत से तो अगृहीत मिथ्यात्वी ही होते हैं; किन्तु जिनको परोपदेश आदि से वस्तु के यथार्थ स्वरूप में विपरीतता का दुराग्रह हो जाता है अर्थात् जो जीवादिक तत्त्वों के असली स्वरूप को न जान कर दूसरो के उपदेश से कुछ का कुछ स्वरूप जान लेते हैं वे गृहीत मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। ये क्रिया-अक्रिया-विनय और अज्ञानवादी के भेद से चार प्रकार के होते हैं।

क्रियावादी गृहीत मिथ्यादृष्टि के १८० भेद

(१) क्रियावादी—आस्तिक होते हैं इनमें क्रियावादियों के १८० भेद है। वे इस प्रकार हैं।

स्वभाववादी—स्वभाव ही सब कुछ करता है ऐसा मानने वाले।

नियतिवादी—भवितव्यता से ही सब कुछ होता है ऐसा मानने वाले।

कालवादी—काल ही सब कुछ करने वाला है ऐसा मानने वाले।

ईश्वरवादी—ईश्वर ही सब कार्यों को करता है ऐसा मानने वाले।

आत्मवादी—सर्व व्यापी आत्मा ही सब कुछ करता है ऐसा मानने वाले।

इनके प्रवर्तक कोक्कुल, कंठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांथविक, रोमश, हारीत, मुण्ड, और आश्वलायन आदि अनेक हुए हैं।

क्रियावादी के स्वभावादि ५ पांच भेदों को जीवादि नव पदार्थों से गुणित करने पर पैंतालीस भेद होते हैं और उन४५ भेदों को स्वतःआदि चार भेदों से गुणित करने पर १८०(एक सौ अस्सी) भेद हो जाते हैं। नीचे के कोष्ठक को देखने से यह स्पष्ट समझ में आजायगा।

स्वभाववादी १		नियतिवादी २		कालवादी ३		ईश्वरवादी ४		आत्मवादी ५	५
जीव १	अजीव २	आस्रव ३	बन्ध ४	संवर ५	निर्जरा ६	मोक्ष ७	पुण्य ८	पाप ९	४५
१ स्वतः		२ परत:		३ नित्य		४ अनित्य			१८०

अक्रियावादी गृहीत मिथ्यादृष्टि के ८४ भेद

(२) अक्रियावादी के चौरासी भेद होते हैं। ये नास्तिक है। इसके प्रवर्तक मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्बलि, माठर, और मौद्गल्य आदिक हैं।

जो क्रियावादी के पांच भेद पूर्व में बताये जा चुके हैं वे अक्रियावादी के भी होते हैं। उनको सात तत्त्वों से गुणित करने पर पैंतीस भेद हो जाते हैं। उनको फिर स्वतः एवं परतः दोनों से गुणित करने पर सत्तर भेद होते हैं। नियति तथा काल इन दो से सात तत्त्वों को गुणित करने पर १४ भेद होते हैं और इनको ७० में मिलाने पर चौरासी भेद अक्रियावादी के हो जाते हैं।

निम्न लिखित कोष्टक पंक्तियों से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

स्वभाव १		नियति २		काल ३	ईश्वर ४		आत्म ५
जीव १	अजीव २		आस्रव ३	बंध ४	संवर ५	निर्जरा ६	मोक्ष ७
स्वतः १				परतः २			३५
							७०

नियति १	काल २					
जीव १	अजीव २	आस्रव ३	बन्ध ४	संवर ५	निर्जरा ६	मोक्ष ७

प्रथम कोष्टक में ७० भेद दिखाये हैं वे स्वतः परतः बिकल्प की अपेक्षा; दिखाये हैं। द्वितीय कोष्टक में जो चौदह भेद दिखाये गये हैं वे स्वतः परतः विकल्प से रहित केवल नियति और काल की अपेक्षा से ही हैं; क्योंकि ऊपर के पांच विकल्पों में से नियति और काल के ही दो विकल्प ऐसे हैं जो कि स्वतः और परतः बिकल्प से सहित और रहित भी हो सकते हैं। स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये तीन विकल्पों में यह बात नहीं हो सकती। अतः इनको नहीं लिया है।

विनयवादी गृहीत मिथ्यादृष्टि के ३२ भेद

(३) विनयवादी के ३२ भेद होते हैं :—ये लोग देव, नृप, यति, ज्ञाति (कुल कुटुम्ब), वृद्ध, बालक, जननी और जनक इन आठों का मन, वचन, काय और दान से विनय करने का आदेश करते हैं। इसके प्रवर्तक वशिष्ठ, पराशर, जतुकर्ण, वाल्मीक, रोमहर्षण, और व्यास आदि हैं।

देवादिक आठ विकल्पों को मन आदिक चार भेदों से गुणित करने पर ३२ बत्तीस भेद हो जाते हैं इसका कोष्टक नीचे देखिए।

देव १	नृप २	यति ३	ज्ञाति ४	वृद्ध ५	बालक ६	जननी ७	जनक ८	३२ भेद
मन १		वचन २			काय ३		दान ४	

अज्ञानवादी गृहीत मिथ्यादृष्टि के ६७ भेद

(४) अज्ञानवादी के ६७ भेद होते हैं :—इस मत के प्रवर्त्तक साकल्प, वाष्कल, चारायण, कमठ, माध्यन्दिन, पिप्पलाद, और

वादरायण आदि हैं।

अज्ञानवादी के सदादि सात विकल्पों को नव जीवादि पदार्थों से गुणित करने पर त्रेसठ और सद्भावोत्पत्ति आदि शुद्ध चार विकल्पों के मिलाने से ६७ भेद होते हैं। नीचे के कोष्टक को देखिए—

सत् १	असत् २	सदसत् ३	अवाच्य ४	सदवाच्य ५	असदवाच्य ६	सदसदवाच्य ७			
जीव १	अजीव २	आस्रव ३	बन्ध ४	संवर ५	निर्जरा ६	मोक्ष ७	पुण्य ८	पाप ९	६३ भेद

शुद्ध चार भेद

सद्भावोत्पत्ति १	असद्भावोत्पत्ति २	सदसद्भावोत्पत्ति ३	अवाच्य भावोत्पत्ति ४	६७ भेद

३६३ प्रकार का पाखण्ड

क्रियावादी १८०, अक्रियावादी के ८४, विनयवादी ३२ और अज्ञानवादी के ६७ इन सबको मिलाने पर ३६३ (तीन सौ त्रेसठ) मत होते हैं। यही तीन सौ त्रेसठ प्रकार के पाखण्ड भी कहलाते हैं। यह सब कथन पंच संग्रह के आधार से है। अन्य ग्रंथों में भी कहा है :—

"असियसयकिरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वैणेया होंति बत्तीसा ॥ १३५ ॥ [भावप्राभृत]

अर्थ—एकसौ अस्सी क्रियावादियों के, चौरासी अक्रियावादियों के, सड़सठ अज्ञानवादियों के और बत्तीस वैनयिकों के-इस प्रकार ३६३ मत हैं।

मिथ्यादर्शन के पांच भेद और उनका स्वरूप

अब राजवार्तिकादि ग्रंथों के अनुसार मिथ्यादर्शन के पांच ५ भेद बताते हैं।

"पंचविधं वा" (अष्टमाध्याय प्रथमसूत्र वार्तिक २८)

एकान्त, विपरीत संशय, वैनयिक और अज्ञान के भेद से मिथ्यात्व पांच प्रकार का है।

(१) यह ऐसा ही है, किसी भी तरह अन्य रूप नहीं है। जैसे यह सब ब्रह्म ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, एक ही है, अनेक ही है, भिन्न ही है, अभिन्न ही है। इस प्रकार मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) जो पदार्थ जैसा है उससे उसे उल्टा मानना। जैसे परिग्रह सहित भी मुनि होता है, तथा केवली भोजन करते हैं, स्त्री को भी मुक्ति हो सकती है। इत्यादि मानना विपरीत मिथ्यात्व है।

(३) यह ऐसा है या ऐसा, अथवा यह है या नहीं। जैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समुदाय रूप मोक्ष मार्ग है या नहीं ? इस प्रकार संशय करना संशय-मिथ्यात्व है।

(४) सब देवताओं और सब मतों को किसी अपेक्षा के बिना ही समान रूप से सच्चा समझना वैनयिक-मिथ्यात्व है।

(५) अपने हिताहित को बिलकुल न समझना अज्ञान-मिथ्यात्व है।

"एयंतं संसइयं विवरीयं विणयजं महामोहं ।
अण्णाणं मिच्छत्तं णिद्दिट्ठं सव्वदरसीहिं ॥ ५ ॥ (दर्शनसार)

अब दर्शन सारादि के अनुसार इन पांचों की उत्पत्ति आदि का वर्णन करते हैं :—

एकान्तमत की उत्पत्ति

"सिरिपासणाह तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो । ÷
पिहियासवस्ससिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥ ६ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री पार्श्वनाथ स्वामी के धर्मोपदेश के पश्चात् और श्री वर्धमान स्वामी के धर्मोपदेश होने के पहिले २५० वर्ष का श्री पार्श्वनाथ स्वामी का जो तीर्थकाल है इसमें सरयू नदी के किनारे पलाश नामक नगर में श्री पिहितास्रव मुनि का एक शिष्य बुद्धिकीर्ति नामक मुनि था। वह किसी कारण से मछलियों को खाने लगा और जिन दीक्षा से भ्रष्ट होगया, फिर लाल वस्त्र धारण करके उसने यह उपदेश दिया कि मांस में जीव नहीं है। अतः जैसे फल, घी, दूध, और दही, आदि खाने में कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार मांस-भक्षण करने में भी कोई दूषण नहीं है। एवं मदिरा भी जल पान के समान निर्दोष है। जीव क्षण मात्र ही ठहरता है, फिर नष्ट हो जाता है। अतः पाप करने वाला दूसरा है और उसके फल को भोगने वाला दूसरा है। इत्यादि उपदेशों के द्वारा पाप कर्मों की प्रवृत्ति की एवं बौद्ध मत चलाया।

संशय (श्वेताम्बर) मत की उत्पत्ति

"छत्तीसेवरिससए विक्कमरायस्समरणपत्तस्स
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णोसेवडोसंघो ॥ ११ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—विक्रमादित्य राजा के मरण से १३६ वर्ष पश्चात् सोरठ देश के वल्लभीपुर में अष्टांग निमित्त ज्ञानी श्री भद्रबाहु आचार्य के प्रशिष्य और शान्ति नाम आचार्य के शिष्य जिनचन्द्र ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय चलाया।

इस सम्प्रदाय में अनेक बातें सिद्धान्त से विरुद्ध चलाई जिनमें से कुछ बातें ये हैं।

(१) स्त्री पर्याय से भी मुक्ति हो जाती है।

(÷) कोई तो यह कहते हैं कि यह बुद्धकीर्ति ही बुद्ध था। उसने जिन दीक्षा से भ्रष्ट होकर बौद्ध मत चलाया था। और अमितगति आचार्य लिखते हैं कि मौंडिलायन मुनि ने बौद्ध मत चलाया, और शुद्धौदन के पुत्र बुद्ध को अवतार बतलाकर पुजवाया।

(२) केवली भगवान् भी मनुष्यों के समान कवलाहार करते हैं।

(३) केवली भगवान् के भी रोग हो जाता है।

(४) वस्त्र धारक मुनि व गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

(५) महावीर स्वामी प्रथम ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे फिर देवों द्वारा क्षत्रियाणी के गर्भ में लाये गये।

(६) प्रासुक भोजन नीच शूद्र जाति वाले के घर से लेकर भी कर सकते हैं।

भाव संग्रह में लिखा है कि शान्तिकाचार्य ने अपने शिष्य जिनचन्द्र को शिथिलाचार के प्रचार से रोका तो जिनचन्द्र ने उनको मार डाला। वे मरकर व्यन्तर देव हुए और उपद्रव करने लगे, तब जिनचन्द्र ने आठ अंगुल का एक लकड़ी का चौकोर पासा बनवाकर उसमें उनके नाम का संकल्प करके अष्ट द्रव्य से पूजन करना प्रारम्भ कर दिया। तब उस व्यन्तर ने उपद्रव करना बन्द कर दिया। श्वेताम्बर इसको पर्युपासन नाम का कुल देव मानते हैं। इस पासे के बीच श्वेत वस्त्र रख कर पूजा की गई थी। अतः इस मत का नाम श्वेताम्बर पड़ गया। श्वेताम्बर अब भी इसकी पूजा करते हैं।

विपरीत मत की उत्पत्ति

"सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्तिसुद्धसम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो विय पव्वओ वक्को ॥ १६॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ में क्षीरकदम्बक आचार्य के शिष्य पर्वत ने अपने सहपाठी नारद से विवाद किया और अज शब्द का अर्थ बकरा बतलाया (जब कि उसका अर्थ तीन वर्ष का पुराना जौ है) तथा राजा वसु से भी इसीका समर्थन करवाया और इस प्रकार यज्ञ में पशु हिंसा का विधान सिद्ध कर धर्म विपरीत हिंसा मार्ग को चलाया। ×

भाव संग्रह में विपरीत मत के प्रवर्त्तक ब्राह्मण बतलाये हैं उसका कथन निम्न प्रकार है।

× यह कथन विस्तार पूर्वक श्री पद्म पुराण आदि में मिलता है वहा से देख लेना चाहिये।

"मयणाइ जलेण सुद्धिं तित्तिं मंसेण पियरवग्गस्स ।
पसुकयवहेणसग्गं धम्मं गोजोणि फासेण ॥ १७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण जलसे (गङ्गादि तीर्थों में स्नान से) आत्मा की शुद्धि, श्राद्ध में मांस भोजन कराने से पितरों की तृप्ति, यज्ञ में पशु हवन करने से स्वर्ग की प्राप्ति, और गाय की योनि स्पर्श करने से धर्म मानते हैं ।-:-

वैनयिक-मत की उत्पत्ति

"सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि ।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणोणंगाय कोई य ॥ १८ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—सब ही तीर्थंकरों के तीर्थों में वैनयिकों का उद्भव होता रहा है । इनमें कोई जटाधारी, कोई मुण्डित, कोई शिखाधारी तथा कोई नग्न होते हैं ।

"दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्तीय सव्व देवाणं ।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहि मूढेहिं ॥ १९ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—वैनयिक मतवालों का कहना है कि चाहे दुष्ट हो या गुणवान हो सभी देवों के प्रति समानरूप से नमस्कार भक्ति आदि करना चाहिये ।

अज्ञानमत की उत्पत्ति

"सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पास संघगणिसीसो ।
मक्कडि पूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए ॥ २० ॥ (दर्शनसार)

अर्थ—महावीर स्वामी के तीर्थ समय में, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के संघ का एक बहुश्रुत गणधर-शिष्य मस्करी पूर्ण नामा मुनि

-:-इस प्रकार का कथन वैष्णव धर्मानुयायियों की मनुस्मृति नाम की पुस्तक की पाचवी अध्याय में पाया जाता है ।

था। महावीर स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर जब समवसरण की रचना हुई तब वह उस समवसरण में जाकर बैठा। वह श्री वीर जिनेन्द्र का उपदेश सुनना चाहता था। परन्तु गौतम गणधर के बिना महावीर स्वामी को दिव्यध्वनि नहीं खिरी। जब गौतम स्वामी ने दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया तब महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी। तब इस मस्करीपूर्ण के चित्त में यह स्पर्धा उत्पन्न हुई कि मैं भी तो ग्यारह अंग का पाठी हूँ, क्यों मेरे लिए वीर स्वामी की दिव्यध्वनि नहीं खिरी? मुझको इन्होंने उपदेश क्यों नहीं दिया और क्यों अपने शिष्य गौतम के आते ही दिव्यध्वनि खिरने लगी? इस कारण मस्करीपूर्ण को डाह पैदा होगया और वह समवसरण के बाहर आकर महावीर स्वामी की निन्दा करने लगा कि यह सर्वज्ञ नहीं है और अज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस प्रकार प्रचार करने लगा। भाव-संग्रह में अज्ञान मत की उत्पति के विषय में लिखा है।

अण्णाणा ओ मोक्खं एवं लोयाण पयउ माणोहु।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए॥ १६४॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—अज्ञान से ही मुक्ति होती है और कोई भी देव नहीं है अतः अपनी इच्छानुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार वह जनता को उपदेश देने लगा।

एवं पंच पयारं मिच्छत्तं सुगगईणिवारणयं।
दुक्खसहस्सावासं परिहरियव्वं पयत्तेण॥ १६५॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—पूर्वोक्त पांच प्रकार के मिथ्यात्वों को जान कर इनका परित्याग करना चाहिये, क्योंकि इनको धारण करने से दुर्गति में हजारों प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं।

पांच प्रकार तो मिथ्यात्व के बता चुके अब मिथ्यात्व के दो प्रकार और बतलाते हैं। इनके मिलाने से मिथ्यात्व के ७ (सात) भेद बनाये हैं।

तं पुण सत्त पयारं विवरीयं एयन्तविणयं संजुत्तं।
संयमअण्णाणगयं चव्वक्कं तहेव संखं च॥ १॥ [भावसंग्रह पृ. ५]

अर्थ—उक्त पांच प्रकार के मिथ्यात्वों में चार्वाक और सांख्यमत को मिला कर ७ सात भेद हो जाते हैं।

चार्वाक-मत

कउला परिओ अक्खई अत्थि ण जीवो हुकस्स तं पावं ।
पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छई णरयसग्गं वा ॥ १७२ ॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—इस मत का प्रवर्त्तक कोलाचार्य है,वह कहता है कि न कोई जीव है और न पुण्य तथा पाप है। जैसे गुड़ और धात की (धवई के फूल) के योग से मदिरा तैय्यार हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, अग्नि, जल, और वायु, इन ४ भूतों के मिलने से शरीर में चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है और जब इन चार भूतों का संयोग नष्ट होता है, तब चेतना भी नष्ट हो जाती है। न कोई परलोक से आकर जन्म लेता है और न मरकर किसी दूसरे शरीर को धारण करता है।

सांख्यमत

संखो पुणु भणइ इयं जीवो अत्थित्ति किरियपरिहीणो ।
देहम्मि णिवसमाणो ण लिप्पए पुण्णपावेहिं ॥ १७७ ॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—सांख्य मत के प्रवर्त्तक कपिल मुनि का कहना है कि जीव तो क्रिया रहित है। देह में रहता हुआ भी पुण्य व पाप से लिप्त नहीं होता। प्रकृति ही कर्म करती है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के अनेक भेद हैं। यह सब भेद विवक्षा के कारण से हैं। यह मिथ्यात्व जीव का परम शत्रु है। हालाहल विष है। इसके समान और कोई रोग नहीं है। कहा भी है—

न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्नमिथ्यात्वसमं विषम् ।
न मिथ्यात्वसमोरोगो न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ २८ ॥ [अमितगति श्रावकाचार अ. २]

जब तक मिथ्यात्व नहीं हटता तब तक ज्ञान और चारित्र में समीचीनता नहीं आती और मिथ्यात्वी को मोक्ष तो दूर रहा, संसार में भी कोई उत्तमपद नहीं मिलता। मिथ्यात्व जीव का सबसे बड़ा शत्रु है। यह असाधारण विष एवं असाधारण रोग है क्योंकि—

विष के भक्षण करने से तो एक ही भव में ही मृत्यु होती है और शरीर का भयङ्कर रोग भी अधिक से अधिक एक बार ही मृत्यु का कारण हो सकता है। किन्तु मिथ्यात्व रूपी विष भक्षण से अनन्त संसार में जन्म मरण करने पड़ते हैं एवं मिथ्यात्व रोग से अनेक भवों में दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये इस मिथ्यात्व के समान न कोई विष है और न कोई रोग है। मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से ग्रसित पुरुष कभी भी निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता, अतः इसके बराबर कोई अन्धकार भी नहीं है। ऐसा विचार कर भव्य जीवों को सबसे प्रथम मिथ्यादर्शन और मिथ्यात्व की पोषक प्रवृत्तियों को हटाने के लिये सावधान रहना चाहिये। क्योंकि जब मिथ्यात्व हटेगा तभी सम्यग्दर्शन और उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी। अब आगे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की योग्यता वाले जीव का वर्णन करते हैं :—

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की योग्यता वाला जीव

चदुगदि मिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भजविसुद्धसागारो।
पढ मुव सम्मं स गिण्हदि पंचमवरलद्धि चरिमह्मि ।२। [लब्धिसार]
चउगदि भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो।
संसार तडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥ ३०७ ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—उक्त दोनों गाथाओं का भाव यह है कि कर्मवश चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनादि-मिथ्यादृष्टि निकट भव्य जीव के जब संसार में रहने की स्थिति अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरावर्तन काल जितनी रह गई हो, तब प्रथम उपशम सम्यक्त्व को धारण करने की योग्यता होती है, यह पहली काललब्धि है। इस प्रथम काल लब्धि की प्राप्ति होने के पश्चात् जब यह जीव पर्याप्त देव वा नारकी हो, अथवा सञ्ज्ञी पर्याप्त गर्भज मनुष्य वा तिर्यञ्च हो, एवं साकार ज्ञानोपयोग सहित हो, तथा क्षयोपशम लब्धि के प्रथम समय से लेकर प्रति समय बढ़ती हुई परिणामों की अनन्त गुणी विशुद्धता से पांचवीं करण लब्धि के उत्कृष्ट भागरूप अनिवृत्तिकरण परिणामों के अन्तिम समय में स्थित हो, भावों में पीत पद्म वा शुक्ल लेश्या का धारक हो, जागृत अवस्था वाला हो, और जिसके न तो उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का बंध हो और न जघन्य स्थिति वाले कर्मों का अर्थात् जो अन्तः कोटा कोटी सागरोपम स्थिति वाले नवीन कर्मों का बन्ध करे। और पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति को परिणामों की निर्मलता से संख्येय हजार सागरोपम कम अन्तः कोटा कोटी सागर परिणाम रख ले। यह कर्म स्थिति नाम की दूसरी काललब्धि होती है। इस द्वितीय काल लब्धि के होने पर नारकी× जीव के पर्याप्त होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात्

(×) यह वर्णन "सम्यक्त्व चारित्रे" सूत्र पर राजवार्तिक की टीका के अनुसार लिखा है।

पहिले तीन नरकों में तो जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और वेदनानुभव रूप तीन कारणों से और नीचे के शेष ४ नरकों में धर्म श्रवण के बिना दो कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव के पर्याप्त होने के बाद पृथक्त्व-÷- दिन के पश्चात् जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और जिन बिम्ब दर्शन इन तीन कारणों से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मनुष्यों के पर्याप्त होने के बाद आठ वर्ष की अवस्था के पश्चात् जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और जिन बिम्ब दर्शन से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। नवग्रैवेयक तक के देवों के पर्याप्त होने के एक मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इन देवों में १२वें स्वर्ग पर्यन्त तो जाति स्मरण, धर्म श्रवण, जिन बिम्ब दर्शन और देवर्द्धि निरीक्षण (देवों की संपदा को देखना) इन चार कारणों से, और आनतादि ४ स्वर्गों में देवर्द्धि निरीक्षण बिना ३ कारणों से, ग्रैवेयकों में जाति स्मरण बिना २ कारणों से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। ग्रैवेयकों के आगे नव अनुदिशादि में नियम से सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन पांच प्रकृतियों के उपशम से यह सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व तीन प्रकार का है उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक। इनमें से पहिले उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप दिखलाते हैं।

उपशम सम्यक्त्व

उपशम सम्यक्त्व वह कहलाता है जो पूर्वोक्त पांच प्रकृतियों के उपशम से हो, अर्थात् जैसे मैले जल में कतक (निर्मली के बीज) आदि डालने से उस पानी का कीचड़ बैठ जाता है और ऊपर का पानी बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये पांच प्रकृतियां सत्ता में विद्यमान रहने पर भी आत्म परिणामों में कुछ भी मलिनता उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि ये दबी रहती हैं।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है और सादि मिथ्यादृष्टि के भी। अनादि मिथ्यादृष्टि वह कहलाता है जिसके कभी भी पहिले सम्यक्त्व नहीं हुआ हो, इस अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ५ प्रकृतियों का उदय रहता है। इसलिये वह ऊपर कहे हुए काल लब्धि आदि निमित्तों की प्राप्ति होने पर पांचों प्रकृतियों का ही उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है।

(÷) तीन के ऊपर और नौ के भीतर की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व के प्रभाव से मिथ्यात्व के तीन भाग करता है। अर्थात् मिथ्यात्व सम्यक मिथ्यात्व, और सम्यक प्रकृति मिथ्यात्व। ये ही दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां कहलाती हैं। ये तीनों और चारों अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ ये सब मिलकर सात प्रकृतियां कहलाती हैं। सभी प्रकार के उपशम सम्यक्त्वों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसके पश्चात् ये नियम से छूट जाते हैं। इसलिये जो सम्यक्त्वी इस सम्यक्त्व के काल में ही उक्त तीनों प्रकृतियों की उद्वेलना से तीनों को ही मिथ्यात्व रूप कर डालता है, उस उद्वेलना करने वाले जीव के तो ५ प्रकृतियां ही सत्ता में रहता हैं और जो उद्वेलना नहीं करता उसके सात प्रकृतियां सत्ता में बनी रहती हैं। अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्वी फिर मिथ्यात्वी बन जाता, है इसी भाव को आचार्य अमितगति ने इस प्रकार दर्शाया है।

निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम्।
पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्यनिश्चितम् ॥ ४२ ॥ [अमित. श्रा. अ. २]

अर्थ—जैसे दिन के पीछे रात्रि होती है इसी तरह इस सम्यक्त्व के पीछे मिथ्यात्व आजाता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व का धारक जीव नियम से मिथ्यात्वी हो जाता है।

इस श्लोक के अनुसार नियम से मिथ्यात्वी बनकर चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम गुणस्थान में चला जाता है, और सादि मिथ्यादृष्टि कहलाने लगता है। इसके पश्चात फिर जब कभी सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य परिणामादि हो जाते हैं तभी जो ५ प्रकृतियों को सत्ता में रखकर मिथ्यात्वी हो जाता है वह तो ५ के उपशम से और जो सात प्रकृतियों की सत्ता से मिथ्यात्वी होता है वह सात के उपशम से सम्यक्त्वी बनता रहता है। यह क्रम जब तक यह जीव उपशम श्रेणी न मांडे तब तक चलता रहता है और प्रथमोपशम सम्यक्त्वी ही कहलाता है। एक जीव इस उपशम सम्यक्त्व को असंख्यात बार तक प्राप्त करके छोड़ता रहता है।

तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्माकोऽपिवेदकम्।
तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नी भूतनिर्वृतिः ॥ ४३ ॥ [अमित. श्रा. अ. २]

अर्थ—इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पश्चात् किसी भव्य जीव को वेदक सम्यक्त्व हो जाता है। इस वेदक सम्यक्त्व का धारक कोई निकट भव्य हो तो वह वेदक से क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाता है और जो क्षायिक सम्यक्त्वी होता है वह अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन

कर ७वें गुणस्थान में सातिशय अप्रमत्त होकर या तो वह चारित्र मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियों का क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणी मांडता है अथवा इतने तीव्र परिणाम न हों तो २१ प्रकृतियों को उपशम करने के लिये उपशम श्रेणी मांडता है। जो क्षायिक सम्यक्त्वी न होकर वेदक सम्यक्त्व का धारक रहकर ही ७वें गुणस्थान में जाता है वह अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन पूर्वक द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का धारक होकर २१ कषायों को उपशम करके उपशम श्रेणी मांडता है। इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के होने के पहिले सब-उपशम सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाते हैं। वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वाला जीव भी क्रम से अथवा अक्रम से पतन करता हुवा वापिस मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जा सकता है।

क्षायिकसम्यक्त्व

तत्कर्मसप्तके क्षिप्तं पङ्कवत् स्फटिकेऽम्बुवत्।

शुद्धेऽति शुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥ ५५ ॥ अनागार धर्मामृत पृ. १२६

अर्थ—कर्म भूमिज मनुष्य के केवली वा श्रुतकेवली के निकट दर्शन मोहनीय की तीन् प्रकृतियों के क्षय और अनन्तानुबन्धी चारों कषायों का विसयोजन होने पर क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, यह विशुद्ध उपशम सम्यक्त्व से भी अति विशुद्ध है।

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्व मे भी शङ्कादिक दोष न होने मे विशुद्धता है परन्तु वह छूट भी जाता है और क्षायिक सम्यक्त्व छूटता नहीं मोक्ष तक बराबर बना रहता है और अचल है। कहा भी है—

रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः।

जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ॥ १२६ ॥ अना. धर्मामृत टी.

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व निश्चल होता है अर्थात् वह अनेक प्रकार के हेतु और दृष्टान्त वाले वचनों के जाल में फंसकर अथवा भयङ्कर रूपों से भयभीत होकर कभी भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। यह सम्यक्त्व सादि अनन्त है अर्थात् होने के पीछे कभी नहीं छूटता। इसकी उत्कृष्ट स्थिति संसारी जीव के एक अन्तर्मुहूर्त सहित ८ वर्ष कम दो कोटि पूर्व और तेतीस सागर की है। यह सम्यक्त्व मुक्त जीव के भी रहता है और उसके इसकी स्थिति अनन्त काल की है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

पाकाद् शघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ।
शमे च वेदकं षट्कामगाढं मलिनं चलम् ॥ ५६ ॥ [अनागार धर्मामृत द्वि. अ.]

अर्थ—सम्यक्त्व की विरोधिनी जो सात प्रकृतियां हैं उनमें से मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और ४ अनन्तानुबन्धी कषाय ये ६ प्रकृतियां तो सर्वघाती हैं और एक सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व देशघाती है। वर्तमान सर्वघाती स्पर्द्धकों का (कार्माण पुद्गलों का) तो उदय में न आने रूप क्षय, अर्थात् बिना फल दिये ही खिर जाना, और आगामी काल में उदय आने योग्य स्पर्द्धकों का सत्ता रूप उपशम अर्थात् जहां के तहां ही ठहर जाना और देश घाती सम्यक् प्रकृति का उदय होना-इन तीनों बातों के होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। यह चल, मलिन और अगाढ़ रूप होता है।

अगाढ़तादि का स्वरूप

वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थानाकरतले स्थिता
स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥ ५७ ॥ [अनागार धर्मा. अ. २]
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥ ५८ ॥
तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धस्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ५६ ॥
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिवस्थितं ।
नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥ ६० ॥
समेऽप्यनन्त शक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं ।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ ६१ ॥ [अनागार धर्मा. अ. २]

तात्पर्य—जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ की लकड़ी अपनी जगह से खिसकती तो नहीं है परन्तु डगमगाती रहती है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का अपने द्रव्य से बनवा कर प्रतिष्ठित कराये हुए जिन बिम्ब में यह समझना कि यह तो मेरा है, और जो दूसरे के द्वारा प्रतिष्ठित हो उसको कहना यह दूसरे का है, ऐसा समझना अगाढ़पना है। जैसे शुद्ध सुवर्ण भी चांदी तांबा वगैरह के मेल से अशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह सम्यक्त्व भी शंकादि दोषों से मलिन हो जाता है। यही इसमें मलिनता है। जैसे एक ही जल अपनी अनेक लहरों में बट जाता है उसी तरह सर्व तीर्थङ्कर अनन्त शक्ति के धारक हैं तो भी अमुक उपसर्ग के निवारण करने के लिये श्री शान्तिनाथ स्वामी की ही पूजा करनी चाहिये, श्री पार्श्वनाथ स्वामी ही विघ्न के हर्ता हैं इत्यादि रूप जो वेदक सम्यग्दृष्टि के हृदय में विचार होता है यही चलपना है। अथवा यह वेदक सम्यक्त्व कुछ काल रहकर अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त से लगा कर ६६ सागर तक रहकर नियम से छूट जाता है इसलिये भी चल है। इन तीनों सम्यक्त्वों में उपशम* सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम तक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धावस्था तक रहता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दोनों सम्यक्त्व साधक हैं।

सम्यक्त्व का विशेष विवेचन

प्रथम नरक में तीनों सम्यक्त्व तथा शेष के छह नरकों में क्षायिक के बिना दोनों सम्यक्त्व होते हैं। शेष तीनों गतियों में तीनों सम्यक्त्व होते हैं। स्त्री पर्याय में तिर्यंचणी तथा देवियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

पण्डित दौलतरामजी ने "छहढालों" में भी कहा है।

प्रथम नरक विनषट भू जोतिष वान भवन षंढनारी ।
स्थावर विकलत्रय पशु में नहीं उपजे सम्यक धारी ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव मर कर पहिले नरक को छोड़कर शेष ६ नरकों में, भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषियों में इन तीनों प्रकार के देवनिकायों में तथा सैनी पंचेन्द्रिय को छोड़कर अन्य १२ जीव समासों में उत्पन्न नहीं होता। स्त्री वेद को तो चारों गतियों में ही

(*) यह उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का होता है१ प्रथमोपशम २ द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी दो प्रकार का है—अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व— : क्षयोपशम सम्यक्त्व से कषाय की २१ प्रकृतियों का उपशम करता है और ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।

धारण नहीं करता।

उक्त प्रकार से मिथ्यात्व के दोष और सम्यक्त्व के गुण जानकर मिथ्यात्व के सहायक जनक अन्य मत के देवों की प्रतिमा आदि रूप द्रव्य; संक्रान्ति व ग्रहणादि रूप काल; गया, प्रयाग, पुष्कर, गङ्गा, यमुनादि रूप क्षेत्र और श्री जिन कथित धर्म में शङ्का करना आदि भावों का त्याग करके सम्यक्त्व के उत्पादक श्री जिनेन्द्र के साक्षात् शरीर व प्रतिमा रूप द्रव्य; अर्ध पुद्गल परावर्तन रूप अथवा श्री जिनेन्द्र के पंच कल्याणक ही के होने अवसर रूप काल; समवशरण, जिनमन्दिर, सम्मेदशिखरादि रूप क्षेत्र तथा अधः प्रवृत्तिकरणादि रूप भावों का निमित्त मिलाकर सम्यक्त्वी बनना चाहिये।

सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व निश्चय और व्यवहार भेद से दो प्रकार का है। इनमें आत्म-विषयक रुचि का होना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

हिंसारहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिये देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९० ॥ [मोक्ष प्राभृत कुन्दकुन्दाचार्य]

अर्थ—हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव और निर्ग्रन्थ गुरु में श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है। यह व्यवहार सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। इसलिये यहां देव शास्त्र गुरु का विशेष स्वरूप दिखलाते हैं।

देव का स्वरूप

अठारह दोषों के नाम और आप्त का लक्षण

क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ मोहरागौ स्मृतिर्जरा।
रुग्मृती स्वेदखेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनिः ॥ ७ ॥
विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिताः।
एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः ॥ ८ ॥ [धर्म संग्रह श्रावकाचार अ. ३]

अर्थ—क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मोह, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्वेद, खेद, निद्रा, मद, विस्मय (आश्चर्य), रति और चिन्ता ये अठारह दोष सब संसारी जीवों के समान रूप से रहते हैं। इन १८ अठारह दोषों से जो रहित हो वही आप्त (यथाथ वक्ता) और कर्ममल रहित होने से सच्चा देव है।

वर्तमान में ब्रह्मा, विष्णु (श्री कृष्ण), महादेव, बुद्ध, गणेश सूर्य, हनुमान, भैरूं आदि देवों की; लक्ष्मी, सरस्वती, काली भवानी, शीतला आदि देवियों की; घोड़ा, बैल, आदि वाहनों की; बड़, तुलसी, पीपल, आदि वृक्षों की; तोप, तलवार, आदि शस्त्रों की; समुद्र, नदी, कूप, तालाब आदि जलाशयों की; अग्नि की; पर्वत, भूमि, देहली, दवात, कलम, हल, मूसलादि सैंकड़ों वस्तुओं की उनमें देवपने की बुद्धि रखकर पूजा की जाती है। उनमें से देहली हल मूसलादि तो स्पष्ट अचेतन (जड़) हैं। इनको छोड़कर जो हरिहरादिक देव माने जाते हैं उनमें भी विचार कर देखा जाय तो उक्त अठारह दोषों में से अनेक दोष उनके शरीर की आकृति व स्त्री, वस्त्र, शस्त्र, आदि के धारकपने से ही सिद्ध होजाते हैं। तथा और भी कितने ही दोषों का पता इतर शास्त्रों में कहे हुए उनके चरित्रों से लग जाता है। इन १८ दोषों में से राग-द्वेष और मोह ये तीन प्रधान दोष हैं जिनसे कि श्री जिनेन्द्र के सिवाय अन्य देव नहीं बचे हैं।

यद्यपि व्यवहार से जैन मत में भी इन्द्रादि स्वर्ग के देव, चन्द्र सूर्यादि ज्योतिषी देव, असुरकुमार नागकुमार आदि भवनवासी, देव और यक्ष, राक्षस, भूत-पिशाचादि व्यन्तर देवों के प्रति भाव रूप से देव शब्द का व्यवहार किया जाता है। जो मनुष्य व तिर्यंच मर कर स्वर्गादि में देव होने वाले हैं वे द्रव्य देव माने जाते हैं। निर्ग्रन्थ ऋषि, यति, अनगार, मुनि धर्मदेव कहलाते हैं। लौकिक में राजा नरदेव, ब्राह्मण भूदेव कहलाते हैं। परन्तु राग द्वेष मोह की रहितता की अपेक्षा से यदि विचार किया जावे तो श्री अरहन्त देव ही सच्चे देव हैं। स्वर्ग के इन्द्रादि देव भी आत्म कल्याण के लिये भक्ति पूर्वक इनकी स्तुति, वन्दना व पूजा करते हैं। इसलिये ये अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी ही देवाधिदेव क लाते हैं। श्री अरहन्त परमेष्ठी अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप आत्मजन्य गुणों के धारक ही नहीं हैं, किन्तु उनके शरीर में क्षीरवर्ण रुधिर का होना, उपदेश के समय समवशरण की रचना का होना, मस्तक पर तीन छत्रों का फिरना, और ६४ चमरों का ढुलना, सिंहासन पर ४ अंगुल ऊंचे आकाश में निराधार स्थित होना, विहार के समय धर्मचक्र का आगे चलना, जय जयकार शब्द का होना, इत्यादि स्वात्मोत्थ और देव कृत चौंतीस अतिशयों की धारकता, अष्ट महा प्रातिहार्यों से शोभित होना आदि रूप ४६ गुण भी देवाधिदेव पने के सूचक हैं। तीन जगत के जीवों द्वारा वही देव पूज्य हो सकता है जो असाधारण गुणों का धारक है। कहा भी है—

श्रेष्ठो गुणैः गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः।
यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम्॥

गेहिना समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः ।

यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥ [यशस्तिलकचम्पू ६ आश्वास]

अर्थ—अन्य जीवों की अपेक्षा गृहस्थ उत्तम है । गृहस्थों से उत्तम यति और यति से उत्तम (अति उत्तम) देव होता है । यदि मुनि से बहुत नीचे गृहस्थों के समान आचरण करने वाले व्यक्ति को भी देव मान लिया जावे तो फिर भू मंडल पर जगह २ और घर २ में देव मिल जावें, फिर देव की दुर्लभता नहीं रहे । ऐसा विचार कर जो यथार्थ देव है उनमें ही श्रद्धान करना चाहिये ।

सच्चे शास्त्र का लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकं ।

तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

जो सत्यवादी (वस्तु के यथार्थ स्वरूप के कहने वाला) हो वही आप्त कहलाता है ।

"रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वचनमुच्यतेह्यनृतम् ।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥"

अर्थ—राग (प्रीति), द्वेष (वैर) और मोह (अज्ञान) इन तीन कारणों से असत्य कथन किया जाता है । अतः राग द्वेष और मोह रहित श्री जिनेन्द्र देव ही सच्चे आप्त हैं । उनकी दिव्य ध्वनि द्वारा जो प्रकट हुआ हो, जिसमें प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण द्वारा विरोध नहीं आता हो, जो तत्व (वस्तु के यथार्थ स्वरूप) का व्याख्यान करने वाला हो, मिथ्यात्व व अज्ञान प्रसित कुमार्ग से बचाने वाला हो और संसार के सब प्राणियों का हित करने वाला हो वही सच्चा शास्त्र कहलाता है । इसके विपरीत जो रागी, द्वेषी व अज्ञानी जीवों के द्वारा रचे गये हों, जिनमें प्रत्यक्ष से भी असत्यता सिद्ध होती हो और जिनमें परस्पर पूर्वापर विरोध आता हो, जो राजा, राष्ट्र, देश, स्त्री और भोजन सम्बन्धी विकथाओं से भरे हुए हों, जिनमें विषय कषायों की वृद्धि और जीव हिंसा करने आदि का उपदेश हो, जिनसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का भान न हो जो जीवादि को क्षणिक (क्षण क्षण में विनाशशील) तथा सर्वथा नित्य मानते हों, ऐसे सर्व शास्त्रों को कुशास्त्र जानना ।

जैनेतर शास्त्रों में पूर्वापर विरोध

अब जैनेतर शास्त्रों के पूर्वा पर विरोध को दिखाते हैं। इतर शास्त्रों में कहीं पर तो ऐसा वाक्य मिलता है कि "मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि" अर्थात् किसी भी प्राणी को मत मारो। और कहीं पर लिखा है-"याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" यज्ञ में जो पशुओं के वध आदि से हिंसा होती है वह हिंसा नहीं है। कहीं पर तिल सर्षप मात्र मांस भक्षण का भी निषेध है और कहीं पर मांस भक्षण का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। एक जगह लिखा है—

"तिलसर्षपमात्रं तु मांसमश्नाति मानवः।
स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥"

अर्थात्—जो मनुष्य तिल वा सरसों के दाने के बराबर भी मांस खाता है वह जब तक जगत में चन्द्र एवं सूर्य हैं तब तक नरक से नहीं निकलता है। दूसरा कथन देखिए—

क्रीत्वा स्वयं वा ह्युत्पाद्य परोपहृतमेव च।
अर्चयित्वा पितृन् देवान् खादन् मांसं न दुष्यति॥ ३२॥ [मनुस्मृति ५ अध्याय]

अर्थ—जो प्राणी कहीं से मांस खरीद कर, या स्वयं उत्पन्न कर या दूसरों के द्वारा लाये हुए मांस से देव पूजा व पितृ तर्पण पूर्वक मांस भक्षण करता है उसको मांस खाने में कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार कहीं तो मधु (शहद) के चाटने और मदिरा पान करने का निषेध है और कहीं पर उनके खाने का विधान है। इस तरह जिन शास्त्रों में धर्मात्मा और पापी अभक्ष भक्षणादि करने वाले सभी प्रकार के मनुष्यों को प्रसन्न रखने के लिये कहीं कुछ और कहीं कुछ उपदेश भरा है और जिनमें यह भी पता नहीं पड़ता कि इनमें हिंसा का उपदेश है अथवा अहिंसा का, ऐसे पूर्वापर विरुद्ध संदिग्ध शास्त्रों के उपदेशानुसार प्रवृत्ति करने वाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं।

सच्चे गुरु का लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—जिनके पांचों इन्द्रियों के विषयों को भोगने की इच्छा नहीं है, जो सर्व प्रकार के आरम्भों से रहित हैं और जो कोपीन मात्र (लंगोटी तक) का भी परिग्रह न रख कर दिगम्बर (नग्न) मुद्रा के धारक हैं जो या तो धर्म शास्त्रों के पढ़ने व बांचने में अथवा पढ़ाने व उनके अनुसार धर्मोपदेश देने में काल व्यतीत करते हैं, अथवा जो त्रिकाल सामायिक के समय मे व अन्य काल में भी आत्मानुभव कराने वाले धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के करने में मग्न हो जाते हैं, जो कर्मों की निर्जरा के लिये यथाशक्ति और निष्कपट उपवासादि रूप वाह्य तप और प्रायश्चितादि रूप अन्तरङ्ग तप को धारण करते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। जैनेतर शास्त्रों में भी अनेक जगह ऐसे ही गुरुओं को प्रशंसनीय माना गया है—

"निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः ।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥"

अर्थ—जिसके किसी से वैर भाव न हो, जो दयाधारी हो, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषायों से रहित होने के कारण शान्ति का धारक हो, छल कपट व अभिमान (घमण्ड) से रहित हो, जिसके न किसी पर स्नेह हो और न किसी पर द्वेष, अर्थात् जो शत्रु मित्र दोनों को ही समानदृष्टि से देखने वाला हो, किसी से भी किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा के अभाव से जो निरपेक्ष हो, ऐसा मुनि ही भू-मण्डल मे सच्चा साधु कहा जाता है।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ [भागवत स्कन्ध ११ अ. १४ श्लो. १६]

अर्थ- कोई व्यक्ति किसी के प्रति कहता है कि मैं इच्छारहित, शान्तमूर्ति, वैर रहित और सबको एक दृष्टि से देखने वाले मुनि के पीछे २ प्रतिदिन इसलिये जाता हूं कि उनके चरण कमल की रज से पवित्र हो जाऊंगा। और भी कहा है—

"स्नानोपभोगरहितः पूजालङ्कारवर्जितः ।
मद्यमांसमधुत्यागी गुणवानतिथिर्भवेत् ॥ १ ॥
सत्यार्जवदयायुक्तं पापारम्भवर्जितम् ।
उदग्रतपसायुक्तं जानीयादतिथिं ध्रुवम् ॥ २ ॥"

अर्थ—जो स्नान नहीं करता, व तेल इत्र पुष्प माला आदि उपभोग सामग्री से रहित है,पूजा और आभूषणों से रहित है, मद्य, मांस तथा मधु का भक्षक नहीं है और गुणों का धारक है वह अतिथि है। (महाभारत शान्ति पर्व)

अथवा जो सत्य वक्ता, निष्कपट, दयाधारी, पाप कर्मों का व आरम्भों का त्यागी है और घोर तपश्चरण करने वाला है उसी को वास्तव में अतिथि समझना चाहिये।

उपर्युक्त गुणों के धारक ही वास्तव में सद्गुरु हैं। इनको छोड़कर जो गृहस्थों से भी नीचे दर्जे की आरंभादिक क्रियायें करते हैं तथा अभक्ष का त्याग करके भी अभक्ष का सेवन करते हैं और ब्रह्मचर्यधारी कहला कर भी व्यभिचारी बन रहे हैं वे सद्गुरु कदापि नहीं हो सकते। कहा भी है—

"मूंड मुंडाये तीन गुण, शिर की मिट गई खाज।

खाने को लड्डू मिलें लोग कहें महाराज॥"

जो लोग स्वार्थ की कुबुद्धि से मूंड मुंडा कर, कान फटाकर, मृग छाला दण्ड कमण्डलु धारण कर, तन पै भस्म लगा कर, जटा बढ़ा कर, कहां तक कहें सैंकड़ों प्रकार का स्वांग बनाकर, गांजा चरस सुलफे की दम लगाते हैं, यन्त्र मन्त्र तन्त्र, रसायन ज्योतिष व, वैद्यक के झूंठे ही जानकार बनकर भोले जीवों को ठगते फिरते हैं उनमें तो गुरुपने का लेश भी नहीं है कहा भी है—

लोभी गुरु लालची चेला। दोनों नरक में ठेलमठेला॥

इस कहावत के अनुसार ऐसे साधु स्वयं भी संसार समुद्र में डूबते हैं। और अपने भक्तों को भी डुबोते हैं।

ऐसे ठगियों को देखकर एक कवि ने कहा है—

"फूटी आंख विवेक की, सूझ पड़े नहीं पंथ।
ऊंट बलध लादे फिरें, तिनसो कहत महंत॥"

और भी कहा है—

और भी कहा है—

लीनो कहा जोग जोलौं मोम सो न मुख मोर्‌यो,
लोक के रिझायवे को धूम्रपान गटके।
कोई शीस धारे जटा कोऊ तो उखारे लटा,
कोऊ कनफटा कोऊ क्रिया में ही अटका।
कोऊ मठ वासी कोऊ होयके संन्यासी,
कोऊ होय के उदासी पर तीरथ में भटका।
ब्रह्म कोऊ चीन्यो नांही मन वश कीनों नांही,
एते पर होते कहा थोथे कान पटका ॥ १ ॥

इस प्रकार कुगुरु एवं सुगुरु का लक्षण जानकर आत्म-कल्याण के लिये सद्‌गुरुओं की ही संगति, दर्शन, भक्ति, आदि करना चाहिये।

सद्‌धर्म का स्वरूप

सुखं दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविमानतः ॥ २२ ॥ [अनागार धर्मामृत प्र. अ.]

अर्थ—दुःख का नाश करना और सुख को प्राप्त करना ये ही दो मुख्य पुरुषार्थ हैं। क्योंकि जगत के सभी जीव दुःख से बचकर सुखी होना चाहते हैं। और इसमें भी सभी का एक मत है कि धर्म के करने से ही दुःखों का नाश और स्वर्ग मोक्ष का सुख मिलता है। परन्तु जैसे औषधि (दवा) के खाने से रोग मिटता है ऐसा समझ कर भी कोई पित्त का रोगी औषधि के स्वरूप व गुण के जाने बिना ही केशर व कस्तूरी खाले तो उसका पित्त और भी बढ़ जाता है। इसी प्रकार जो जीव सुखी होनेके लिये धर्म के स्वरूप को जाने बिना ही यदि जीव-हिंसा आदि करने को धर्म मान कर विपरीत आचरण करने लग जाय तो वह भी सुखी न होकर महादुःखी ही बन जाता है। इसलिये असली धर्म की परीक्षा करने के पश्चात् उस धर्म का पालक बनना चाहिये। सच्चे धर्म का पालन करने से ही दुःखों की निवृत्ति एवं सुखों की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचित्ता।

देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ २५ ॥ [बोध प्राभृत]

अर्थ—राग द्वेष मोहादि रहित देव, सब परिग्रह का त्याग कराने वाली दीक्षा से दीक्षित निर्ग्रन्थ गुरु और स्व-पर दया को पालन कराने वाला निर्मल धर्म, ये तीनों भव्य जीवों के सुख संपत्ति के कर्ता हैं।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशानुसार दया प्रधान धर्म ही सच्चा व श्रेष्ठ धर्म है। दया दो प्रकार की है:—एक तो स्व-दया—निज आत्मा की दया, और दूसरी पर-दया—अन्य जीवों की दया। इनमें क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारों कषायों के वशीभूत न होकर जो निज आत्मा के क्षमा, मार्दव (निरभिमानता), आर्जव (निष्कपटता), सत्य, शौच (तृष्णा रहित पना) आदि रूप स्वभावों की रक्षा करना है वह तो स्व-दया है, और षट्काय के जीवों की रक्षा करना पर दया है।

यदि समीचीन धर्म की खोज के लिये निष्पक्ष बुद्धि से सब मतों के शास्त्रों का अवलोकन किया जावे तो प्रतीत होगा कि एक जैन धर्म ही ऐसा है जिसमें अहिंसा धर्म की सूक्ष्मता विस्तार पूर्वक दिखाई गई है और निर्भयता पूर्वक स्वपर-दया पालन करने का उपदेश दिया गया है।

यहां पर स्व-मत पक्ष से कुछ नहीं कहा गया है। राष्ट्रीय नेता, इतिहास के वेत्ता, संस्कृत के प्रौढ विद्वान् स्व. पण्डित बालगङ्गाधर तिलक ने भी ३० नवम्बर सन् १६०४ के बड़ोदा में अपने व्याख्यान में कहा है कि 'महाराजा गायकवाड़(बड़ौदा नरेश) ने पहले दिन कांग्रेस में जैसा कहा था, वैसा मेरा भी कहना है जैनों के 'अहिंसा परमोधमः' इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है।' पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्यात पशुओं की हिंसा होती थी। इसके प्रमाण अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं। इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई लेजाने का श्रेय दिगम्बर जैन धर्म के ही हिस्से में हैं।

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥" [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

इस श्लोक के द्वारा श्री समन्तभद्र स्वामी ने सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता रूप रत्नत्रय को धर्म, और इन तीनों से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का वर्धक अधर्म बतलाया है।

यह रत्नत्रय रूप धर्म अहिंसा का ही पोषक है। इस रत्नत्रय में से सम्यग्दर्शन की मुख्यता होने से उसका वर्णन इस अध्याय में पुनः दिया जा रहा है। सम्यग्ज्ञान का वर्णन ज्ञानाचार के प्रकरण में पहले किया जा चुका है। सम्यक् चारित्र के वर्णन में मुनि और श्रावक दोनों की अपेक्षा भेद है, जिसमें मुनि धर्म का कथन तो पूर्वार्द्ध मे किया जा चुका। अब श्रावक धर्म का निरूपण किया जा रहा है। इसलिये समीचीन धर्म के प्रकाशक इस ग्रन्थ का स्वाध्यायादि द्वारा मनन कर सभी आत्म-हितैषी जीवों को कल्याण के मार्ग पर लगना चाहिये। जो लोग धर्म को सुख देने वाला मान कर भी धर्म का पालन नहीं करते हैं वे या तो प्रमादी हैं या उनकी कुशिक्षा व कुसंगति से किसी धर्म पर विश्वास ही नहीं है। जैसे रोगी कड़वी दवा के पीने से डरता है उसी तरह वे धर्म के पालन करने में जो विषय कषायों आदि का त्याग कराया जाता है उससे डरते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के प्रति अब कुछ कहा जाता है—

जैसे कोई व्यक्ति मिश्री २ तो कहा करे किन्तु पास में पड़ी हुई मिश्री की डली को न चक्खे तो उसका मुख मीठा नहीं हो सकता। उसी प्रकार जो धर्म का नाम रटते हुए भी उसके अनुसार नहीं चलते, प्रमादी (आलसी) हैं, वे कदापि सुखी नहीं हो सकते। अतः ऐसे लोगों को सुख प्राप्ति के निमित्त धर्मानुकूल चलने के लिये सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिये।

जो धर्म शून्य व्यक्ति शिक्षा व कुसंगति के प्रभाव से धर्म को झगड़े टंटों की जड़, स्वतन्त्रता का बाधक, व्यर्थ का रगड़ा समझते हैं उनसे कहना है कि वे जिस प्रकार से उपन्यासों और समाचार पत्रों(अखबारों) को दिल चस्पी के साथ पढ़ते हैं, वैसे ही सबसे प्रथम धर्म शास्त्रों से अध्यात्म का स्वरूप भी जाने और अपने समयसारादि ग्रन्थों को देख कर फिर संशय हो तो अन्य धर्म के अध्यात्म सिद्धान्तों से मुकाबला कर उसकी उत्तमता का भी निश्चय करें।

जो लोग इन्द्रियों के विषयों में कमी आने से व कषायों के छोड़ने से दुःख समझ रहे हैं उनको सोचना चाहिए कि—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ २० ॥ [आत्मानुशासन]

अर्थ—जो धर्म सुख का करने वाला है वह कभी दुःख दायक नहीं हो सकता। इसलिये सुख चाहने वालों को उचित है कि वे पाप-प्रवृत्ति को छोड़कर धर्माचरण करें।

जैसे कोई पुरुष अपनी छाया को पकड़ना चाहे तो वह दूर ही भागती है परन्तु यदि वह उसे पकड़ना छोड़कर उससे पराङ्मुख (उलटी तरफ) चले तो वही छाया उसके पीछे पीछे चली आती है। इसी तरह जो भोग संपदा की प्राप्ति के लिये उसके पीछे २

दौड़ता है उससे वह भोग सामग्री भी दूर २ भागती जाती है, और जो उसमें संतोष धारण करता है उसे बिना मांगे वह मिलती है। अतः सुख जनक समझ कर धर्म-साधन अवश्य करना चाहिये।

व्यवहार सम्यग्दर्शन

"छद्दव्व खव पयत्था पंचत्थी सत्त तच खिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताख रूवं सो सद्दिट्ठी मुखेयव्वो ॥ १९ ॥
जीवादी सद्दहखं सम्मत्तं जिखवरेहिं पएखत्तं ।
ववहारा खिच्छयदो अप्पाखं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥"

व्यवहार सम्यग्दर्शन को प्राप्ति के लिये जीवादि सात तत्व, नो पदार्थ, छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय इन सबके संक्षिप्त वर्णन की इच्छा से "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्" इस सूत्र के अनुसार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों में से पहले जीव तत्व का वर्णन कहते हैं।

जीव तत्व

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अखाइखिहखो य
दंसखखाणुव ओगो खिद्दिट्ठो जिखवरिंदेहिं ॥ १४६ ॥ [भावप्राभृत]

अर्थ—श्री जिनेन्द्र देव ने जीव को कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर-प्रमाण, नित्य, तथा दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग का धारक कहा है।

जीव—जीव शब्द "जीव प्राणधारणे" धातु से बना है। अतः व्यवहार नय से एकेन्द्रिय जीव के ४ चार प्राण होते हैं। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन चार प्राणों से जीवता था, जीवता है और जीवेगा उसे जीव कहते हैं।

यहां पर चार प्राण सामान्य रूप से कहे गये हैं।

(१) इन्द्रिय प्राण—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन भेदों से ५ पांच प्रकार के हैं।

(२) बल प्राण—कायबल, वचनबल, और मनोबल के भेद से बल प्राण तीन प्रकार के हैं।

अतः विशेष रूप से ५ इन्द्रिय, ३ योग, १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास, ऐसे कुल १० प्राण होते हैं।

इनमें से पर्याप्त अवस्था में तो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के दशों ही प्राण होते हैं किन्तु अपर्याप्त अवस्था में पंचेन्द्रिय के ७ सात ही प्राण होते हैं। क्योंकि मनोबल, वचनबल और श्वासोच्छ्वास ये ३ तीन प्राण तो पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ये तीन नहीं होते, ऐसा नियम है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्त अवस्था में मन के बिना ६ प्राण और अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास, वचन बल के बिना ७ प्राण होते हैं। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्र और मन के बिना ८ प्राण और अपर्याप्तों के वचन बल और श्वासोच्छ्वास के बिना ६ प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय के पर्याप्त अवस्था में श्रोत्र, चक्षु, और मन के बिना ७ प्राण और अपर्याप्त अवस्था में वचन बल, श्वासोच्छ्वास बिना ५ प्राण होते हैं। पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों के घ्राणेन्द्रिय के नही होने से ६ प्राण, और अपर्याप्त अवस्था में वचन बल और श्वासोच्छ्वास के बिना ४ प्राण होते हैं। पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों के रसना इन्द्रिय और वचन बल के न होने से ४ प्राण और अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास के न होने से तीन प्राण होते हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त जीवों के प्राणों का नकशा

	इन्द्रिय ५	बल ३	आयु १	श्वासोच्छ्वास १	प्राण १०
संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	५	३	१	१	१०
संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	५	१	१	०	७
असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	५	२	१	१	९
असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	५	१	१	०	७
चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	४	२	१	१	८
चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	४	१	१	०	६
त्रीन्द्रिय पर्याप्त	३	२	१	१	७
त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३	१	१	०	५

त्रीन्द्रिय पर्याप्त	२	२	१	१	६
त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२	१	१	०	४
एकेन्द्रिय पर्याप्त	१	१	१	१	४
एकेन्द्रिय अपर्याप्त	१	१	१	०	३
	जो इन्द्रियां पर्याप्त अवस्था में होती हैं, वे ही अपर्याप्त अवस्था में भी होती हैं।	अपर्याप्त अवस्था में एक कायबल ही होता है; मनोबल व वचनबल नहीं होते हैं। पर्याप्त अवस्था में दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा असैनी पंचेन्द्रिय के दो (काय बल और वचनबल) और सैनी पंचेन्द्रिय के तीनों बल होते हैं।	ये प्राण सब जीवों के होते हैं-पर्याप्त अवस्था हो या अपर्याप्त अवस्था हो। पूर्व शरीर जिस समय छोड़ा जाता है उसी समय नवीन आयु का उदय होता है अतः विग्रह गति में भी नवीन आयु कर्म का उदय जानना।	अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास नहीं होता है, क्योंकि विग्रह गति में शरीर नहीं है। यह प्राण शरीर में ही उदय होता है।	

नोट—जो जीव मरकर नवीन भव धारण करने जाता है उस समय विग्रह गति होती है। इस विग्रह गति में अपर्याप्त अवस्था रहती है। विग्रह गति में जीव १ समय से तीन समय तक रहता है।

सिद्धों के प्राण

यह जो कथन किया गया है वह कर्म सहित संसारी जीवों के व्यवहार प्राणों का है। इनके सिवाय दूसरे मुक्त जीव हैं, जो सिद्ध भी कहलाते हैं। वे अष्ट कर्म रूप बन्धन से रहित हो चुकने के कारण फिर कभी भी जन्म मरण रूप संसार में नहीं आते। उनके निश्चय नय से सुख, सत्ता, चैतन्य, और बोध रूप ४ चार प्राण होते हैं। जिनका सूचक अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य है। इस प्रकार अनन्त चतुष्टय सिद्धों में अनन्त तक रहता है। यद्यपि ये सब मुक्त आत्माओं में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से समान हैं, अर्थात्

अनन्त सुखादि रूप आत्मीय गुणों की अपेक्षा एक सिद्ध दूसरे सिद्ध में रंच मात्र भी न्यूनता (कमी) नहीं है; तथापि जिस पूर्व क्षेत्र काल आदि को छोड़ कर वे मुक्तावस्था को प्राप्त हुए हैं उसके ग्राहक व्यवहारनय की अपेक्षा से "क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक बुद्ध बोधित-ज्ञानावगाहनानन्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः" इस सूत्रानुसार सिद्धों के १२ भेद हैं। सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक में प्रत्युत्पन्ननय और भूतनय की अपेक्षा से इनका विस्तृत विवेचन किया गया है, यहां पर विस्तार के भय से थोड़ा कथन किया जाता है।

सिद्धों के क्षेत्रादि की अपेक्षा १२ भेद और उनका स्वरूप

(१) क्षेत्र— तद्भव मोक्षगामी (उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरम शरीरी) अढाई द्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रादि १५ कर्म भूमियों में ही जन्म लेते हैं। अतः जन्म की अपेक्षा से १५ कर्मभूमियों से सिद्ध होते हैं और संहरण (उठा कर अन्यत्र कहीं ले जाने) से अढाई द्वीप से सिद्ध होते हैं।

(२) काल—अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमा दुःषमा काल के अन्तिम भाग में और चतुर्थ काल में जन्मे हुए जीव ही सिद्ध होते हैं।

(३) गति—मनुष्य गति से ही सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है।

ये तीनों कथन भूत प्रज्ञापननय की अपेक्षा से हैं।

(४) लिङ्ग—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा अवेद से सिद्धि होती है।

(५) तीर्थ—कोई तीर्थंङ्कर अवस्था से, कोई इसके बिना ही, और कोई तीर्थङ्कर की विद्यमानता (मौजूदगी) में, और कोई इनकी अविद्यमानता में सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से यथाख्यात चारित्र से, और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा पांचों चारित्रों से सिद्ध होते हैं।

(७) प्रत्येक बुद्ध-बोधित—जो अपने आपही ज्ञान के अतिशय को प्राप्त हुए वे प्रत्येक बुद्ध हैं और जिनको दूसरे के द्वारा ज्ञान की प्रकर्षता प्राप्त हुई हो वे बोधित कहलाते हैं। इन दोनों भेदों के धारक सिद्ध होते हैं।

(८) ज्ञान—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा केवलज्ञान से और भूतनय की अपेक्षा २, ३ वा ४ ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

(६) अवगाहना—कोई तो ५२५ धनुष के उत्कृष्ट उत्सेध से और कोई कुछ कम साढ़े तीन *अरत्नि के जघन्य उत्सेध से मुक्त होते हैं। मध्य के अनेक भेद हैं।

(१०) अन्तर—अनन्तर (लगातार) जघन्य दो समय और उत्कृष्ट ८ समय का है और सान्तर (विरह काल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट ६ मास का है।

(११) संख्या—जघन्य की अपेक्षा से एक समय में एक, और उत्कृष्ट की अपेक्षा से एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

(१२) अल्पबहुत्व—कर्मभूमि; अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व (ऊंचा), अधः (नीचा) और तिर्यक् (तिरछा) इन सात क्षेत्रों की अपेक्षा अल्पबहुत्व का कथन है।

ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुए सिद्ध कम हैं। उनसे संख्यात गुणे अधोलोक से सिद्ध हुए हैं। इनसे संख्यात गुणे तिर्यक् लोक से सिद्ध हुए हैं। सबसे कम समुद्र से सिद्ध हुए हैं। उनसे संख्यात गुणे द्वीप से सिद्ध हुए हैं।

जिस प्रकार यहां क्षेत्र की अपेक्षा से अल्प बहुत्व दिखलाया गया है उसी प्रकार कालादि की अपेक्षा से भी आगमानुसार अल्प बहुत्व जान लेना चाहिये।

इस प्रकार मुक्त जीवों के नय की अपेक्षा से १२ भेद बतलाकर अब जो कर्म सहित होने के कारण जन्म मरण रूप संसार में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव हैं उनके भेद प्रभेदों का कथन करते हैं।

संसारी जीवों के भेद

संसारी जीवों के दो भेद हैं-पहला स्थावर और दूसरा त्रस। इनमें से स्थावर नामक नाम कर्म की प्रकृति के उदय से जिनको स्थावर पर्याय की प्राप्त होती है उन्हें +स्थावर जीव कहते हैं। ये पांच प्रकार के होते है।

(१) पृथ्वीकायिक—जिनका शरीर मृतिका पाषाणादि रूप हो। जैसे पर्वत पृथ्वी आदि।

(*) मूंठी बंधे हुए कोहणी तक के हाथ को अरत्नि कहते हैं।

(+) इन जीवों के शरीर में संहनन नाम कर्म का उदय न होने से हाड़ नहीं होते।

(२) जलकायिक—जिनका शरीर जल रूप हो।

(३) अग्निकायिक—जिनका शरीर अग्नि रूप हो।

(४) वायुकायिक—जिनका शरीर पवन (हवा) रूप हो।

(५) वनस्पतिकायिक—जिनका शरीर घास बेल वृक्षादि रूप हो। इन सबके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। ये सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, नित्यनिगोद, इतरनिगोद, साधारण, सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक आदि भेद वाले होते हैं।

स्थावर कायिक जीवों के ४ भेद

(१) पृथ्वी—यह आगे के तीनों भेदों में रहने वाला साधारण (सामान्य) भेद है, क्योंकि सामान्य के बिना विशेष नहीं हो सकता।

(२) पृथ्वीजीव—जो जीव मरण कर (अपने पूर्व शरीर को छोड़कर) पृथ्वी रूप शरीर को धारण करने के लिये विग्रह गति से आ रहा हो वह पृथ्वीजीव कहलाता है।

(३) पृथ्वीकायिक—जिसने विग्रह गति में से आकर पृथ्वी रूप शरीर धारण कर लिया है वह पृथ्वीकायिक है।

(४) पृथ्वीकाय—पृथ्वी कायिक जीव से छोड़ा हुआ जो अचेतन शरीर है वह पृथ्वी काय है जैसे पकी हुई ईंट।

इसी प्रकार जलकायिक, अग्निकायिक आदि के भी चार २ भेद समझ लेने चाहिये।

त्रस जीवों के भेद

त्रस नाम कर्म के उदय से जो त्रस पर्याय को प्राप्त होते हैं वे त्रस जीव कहलाते हैं। इनके द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार भेद हैं।

द्वीन्द्रियजीव—वे हैं जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां हों। जैसे शंख, लट, केंचुआ (गिडोंआ) आदि।

त्रीन्द्रियजीव—वे हैं जिनके स्पर्शन, रसनां, और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हों। जैसे-चींटी, बिच्छू, खटमल, जूं, ईली

(नाज का कीड़ा), घुण आदि ।

चतुरिन्द्रियजीव—वे हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रियां हों । जैसे-भौंरा, बरं (ततइया), मच्छर, मक्खी आदि । ये प्रायः उड़ने वाले ही देखे जाते हैं और सदंश (काटने वाले) भी होते हैं ।

पंचेन्द्रियजीव—वे हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां हों । इनके संज्ञी और असंज्ञी दो भेद हैं ।

इनमें से जो जीव दूसरे के समझाने से अपने हित और अहित को समझ सकते हैं, उठना, बैठना, चलना, नाचना आदि सीख सकते हैं, जैसी बोली बुलवावे वैसी बोली बोल सकते हैं; वे देव, नारकी, मनुष्य, बानर, हाथी, गाय, घोड़ा, भैंस, रीछ, सिंह, कुत्ता, बिल्ली, कबूतर, सूआ (तोता), मैना, सर्प, नकुल (नौला) मगर मच्छ, आदि जीव मन सहित होने के कारण संज्ञी (सैनी पंचेन्द्रिय) हैं ।

जो अपने भले बुरे को विशेष न समझते हों और सिखाये से भी नहीं सीख सकते हों, वे मन रहित होने से असंज्ञी (असैनी) पंचेन्द्रिय कहलाते हैं । जैसे जल के सांप, कोई २ जंगली चूहे, मेंढक आदि ऐसे जीव हैं जिनके कि मन नहीं होता । चक्रवर्ती की रानी आदि को छोड़कर शेष आर्य खंड की स्त्रियों की कांख, स्तन, मल मूत्रादि में अत्यन्त सूक्ष्म शरीर के धारक संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं, ऐसा गोम्मटसार जीवकांड में जीव समास अधिकार में बतलाया है । इनके सिवाय सभी स्थावर और विकलत्रय जीव भी सर्वथा मनके न होने के कारण असंज्ञी ही हैं ।

जीव का विशेष स्वरूप

(१) कर्त्ता—यह जीव शुद्ध निश्चयनय से मन, वचन और काय के व्यापार से रहित मुक्त अवस्था में तो ज्ञान दर्शनादि रूप शुद्ध भावों का ही कर्त्ता है और संसारावस्था में व्यवहारनय से मन, वचन और काय रूप योगों के व्यापार द्वारा पुण्य पाप का भी कर्त्ता है । अतः सांख्यमतवालों का यह मानना कि आत्मा तो कुछ नहीं करता है, केवल प्रकृति ही करती है, मिथ्या है ।

(२) भोक्ता—निश्चयनय से जीव स्वाभाविक अनन्त सुख, अनन्त वीर्यादिक का भोक्ता है और व्यवहारनय से पुण्य पाप के फलरूप सांसारिक सुख दुःखों का भोगने वाला है ।

(३) अमूर्त—यद्यपि मुक्त जीव कर्मों से अथवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पुद्गल के गुणों से रहित होने के कारण अमूर्तिक है । तथापि संसारी जीव कर्म और कर्म जनित शरीरों का धारक होने से मूर्तिक अथवा आकार का धारक है । यहां पर यह कथन इसलिए

किया गया है कि भट्ट (मीमांसक) और चार्वाक मत वाले जीव को अमूर्त्तिक नहीं मानते हैं। उस एकान्त सिद्धान्त को सत्य नहीं समझना।

(४) शरीर परिमाण—यद्यपि निश्चयनय से जीव लोकाकाश जितना असंख्यात प्रदेशी है और अपनी ज्ञान शक्ति से तीन लोक के चराचर पदार्थों को जानने वाला होने से ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी भी है, तथापि जैसे दीपक को एक छोटे से घड़े में रख दिया जावे तो उसमें ही प्रकाश समा जाता है उसी प्रकार व्यवहार में आत्मा भी अपने सङ्कोच विस्तार रूप गुण से जैसा शरीर मिलता है उसी शरीर जितना बन जाता है। अर्थात् कीड़ी के शरीर में प्रदेशों को सङ्कोच कर छोटा, तथा हाथी के शरीर में प्रदेशों को विस्तार कर बड़ा हो जाता है।

समुद्घात अवस्था के बिना आत्मा के प्रदेश अपने शरीर से बाहर कभी नहीं निकलते हैं। अतः नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमत वालों का जीव को शरीर रूप से सर्व व्यापक मानना है सो सर्वथा असत्य है।

(५) नित्य—निश्चयनय से जीव अनादि निधन (आदि अन्त से रहित) होने के कारण नित्य है और सुख सत्ता चैतन्य आदि भाव प्राणों से सदा जीवित रहता है। तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से संसार में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप चार प्राणों से त्रिकाल में जीवित माना जाता है।

भावार्थ—संसार में जीव एक शरीर से मरण कर अधिक से अधिक ३ समय में दूसरा शरीर धारण करलेता है। विग्रह गति की अपर्याप्त अवस्था में भी उसके ३ प्राण रहते हैं, इसलिये कभी जीव का नाश नहीं होता। अतः जन्म मरण करने पर भी जीव अनित्य नहीं है। अतः चार्वाकमत वाले जो जीव को अनित्य, और बौद्ध मतावलम्बी जीव को क्षणमात्र में नष्ट होने वाला मानते हैं वह अनुचित है।

(६) उपयोगवान्—उपयोग दो प्रकार का है १ *दर्शनोपयोग २ और +ज्ञानोपयोग। इनमें दर्शनोपयोग सामान्य (सत्तामात्र) को ग्रहण करने वाला निर्विकल्पक और निराकार है तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल के भेद से चार प्रकार का है।

ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है—सम्यग्ज्ञानरूप और मिथ्याज्ञानरूप। सम्यग्ज्ञानरूप उपयोग—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, और केवल ज्ञान भेदों से पांच प्रकार का, और मिथ्याज्ञानरूप उपयोग कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन भेदों से तीन प्रकार का है।

(*) सम्यग्दर्शन में जो दर्शन शब्द है वह श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास, रुचि आदि अर्थों का वाचक होने से रत्नत्रय का भेद है। यहां पर छद्मस्थ ज्ञान से पहिले होने वाले उपयोग विशेष का बोधक है अतः दोनों को भिन्न २ समझना चाहिये।

(+) प्रथम अध्याय के पंचाचार अधिकार में ज्ञानाचार के वर्णन में इसका विशेष स्वरूप दिखलाया गया है।

इनमें मति, श्रुत, कुमति और कुश्रुत ये चार ज्ञान तो परोक्ष हैं और अवधि, कुअवधि और मनः पर्यय ये तीन विकल प्रत्यक्ष, और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने के कारण केवल ज्ञान तो क्षायिक और शेष ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान वाले छद्मस्थ कहलाते हैं। छद्मस्थों के जो ज्ञान होता है वह दर्शनोपयोग पूर्वक ही होता है। केवल दर्शन और केवल ज्ञान ये दोनों युगपत् (एक साथ) ही होते हैं। इन १२ प्रकार के उपयोगों में से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से तो जीव पूर्ण और निर्मल केवल दर्शन, तथा केवल ज्ञान रूप दो उपयोगों का धारक है और व्यवहारनय से कर्मों के क्षयोपशम जनित शेष १० उपयोगों का धारक है।

द्रव्य संग्रह में तथा अन्य ग्रन्थों में जीव के संसारीपना, मुक्तपना, और ऊर्ध्वगमनत्व भी दिखलाया गया है, उसको संक्षेप में यहां भी बतलाते हैं—

अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ आत्मा पहिले तो संसार में रहता है, और फिर कर्मों के नाश होने पर मुक्त होकर लोकान्त में जाकर निवास करता है एवं जन्म मरण से रहित हो जाता है। कर्म सहित आत्मा मरण कर अधो, ऊर्ध्व और पूर्वादि चारों दिशाओं में गमन करता है। किन्तु जब कर्म रहित हो जाता है तो जिस प्रकार जल में मिट्टी सहित तूंबी पहिले तो जल में रहती है और मिट्टी छूटते ही जल के ऊपर आजाती है, अथवा जैसे हवा के झौंके से अग्नि की ज्वाला इधर उधर जाती है किन्तु हवा के बिना ऊर्ध्व गमन ही करती है, उसी प्रकार कर्म रूपी रज से व वायु के झोके से रहित होकर यह आत्मा भी अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोकान्त तक ऊर्ध्व गमन करता है।

अजीव तत्व

जिसमें चेतना नहीं हो, अर्थात् जो सुख दुःख का अनुभव न करता हो; हित-अहित को सर्वथा न समझता हो; बढ़ता न हो; खाता पीता न हो; चलता, फिरता, उठता, बैठता, सोता, जागता, न हो; वह सब जड़ स्वभाव का धारक अजीव है। इसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद हैं।

पुद्गल–द्रव्य

इनमें से जो पूरण गलन स्वभाव का धारक है, अर्थात् जिसमें परमाणुओं के संघटन (मिलने) और विघटन (अलग होने) से स्थूलता, सूक्ष्मता, भारीपन, हलकापन आदि होता है, वे पुद्गल कहलाते हैं। ये रूपी अर्थात् इनमें शीत (ठंडा), उष्ण (गर्म), स्निग्ध (चिकना), रूक्ष (रूखा), गुरु (भारी), लघु (हलका), मृदु (कोमल) और कर्कश (कठोर) ये ८ स्पर्श हैं। मधुर (मीठा), अम्ल

(खट्टा), तिक्त (चरपरा व तीखा), कटुक (कडुवा) और कषाय (कसायला) ये पांच रस हैं। सुगन्ध, और दुर्गन्ध के भेद से २ गन्ध हैं। श्वेत (सफेद), रक्त (लाल), पीत (पीला), कृष्ण (काला) और नील (नीला) ये पांच प्रकार के वर्ण (रूप) हैं। इस प्रकार विशेष अपेक्षा से २० और सामान्य अपेक्षा से रूप रस गन्ध स्पर्श ये ४ गुण हैं।

पुद्गल दो प्रकार के हैं १ अणु और २ स्कन्ध। इनमें से एक शुद्ध अविभागी पुद्गल परमाणु में स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक, और शीत उष्ण में से कोई एक, ऐसे दो तो स्पर्श; और ५ वर्णों में कोई १ वर्ण दो गन्धों में कोई एक गन्ध, और ५ रसों में से कोई एक रस—इस प्रकार एक अविभागी पुद्गल परमाणु में ५ गुण अवश्य रहते हैं।

भेद से, संघात से, और भेद संघात से स्कन्ध रूप पुद्गल होते हैं।

अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्धइष्यते।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥ ५७३ ॥ [तत्वार्थसार]

अर्थ—अनन्त परमाणुओं के संघात अर्थात सम्मेलन से स्कन्ध होता है। स्कन्ध के अर्द्धांश को देश, और चतुर्थांश को प्रदेश कहते हैं। जैसे पुद्गल परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहते हैं। वैसे ही ये चारों गुण पुद्गल स्कन्धों में भी रहते हैं। परन्तु २० भेदों में से ५ से अधिक भेद रहते हैं।

पुद्गल स्कन्धों की पर्यायें

(१) शब्द—पुद्गल से पुद्गल का सम्बन्ध होने पर आवाज होना।

(२) बन्ध—पुद्गलों का आपस में मिल जाना।

(३) सौक्ष्म्य—पुद्गलों का भेद होने पर सूक्ष्मता का उत्पन्न होना।

(४) स्थौल्य—पुद्गलों के परस्पर मिलने से स्थूलता होना।

(५) संस्थान—गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि आकारों का होना।

(६) भेद—ये छह प्रकार का है। १ उत्कर २ चूर्ण ३ खण्ड ४ चूर्णिका ५ प्रतर ६ और अनुचटन।

(क) उत्कर—करौंत आदि से चिरी हुई लकड़ी आदि का बूर।

(ख) चूर्ण—गेहूँ आदि का चूर्ण।

(ग) खंड—मिट्टी के घड़े आदि के टुकड़े।

(घ) चूर्णिका—उड़द मूंग आदि की चूरी अथवा दाल।

(ङ) प्रतर—अभ्रक (भोडल) के पटलों की तरह किसी भी पदार्थ के पड़त अथवा पटल।

(च) अनुघटन—उड़ना। जैसे अग्नि से तपाये हुए लोहे के गोले में से अग्नि कणों (स्फुलिंगों) का निकलना।

(७) तम—अन्धकार।

(८) छाया—जो सूर्य चन्द्रादि के प्रकाश को ढकदे।

(९) आतप—उष्णता लिये हुए सूर्य आदि का प्रकाश।

(१०) उद्योत—चन्द्रमा आदि का प्रकाश जो ठंडा हो। इनके सिवाय अन्य भी भेद हैं।

पुद्गलों की स्थूलता व सूक्ष्मता की अपेक्षा से निम्न लिखित ६ भेद हैं।

(१) बादर-बादर-जिसका छेदन भेदन हो सके और जो दूसरी जगह ले जाया जा सके वह बादर है। जैसे काष्ठ पाषाणादि।

(२) बादर—जिसका छेदन भेदन न हो सके, परन्तु जो दूसरी जगह ले जाया जा सके। जैसे जल, तेल, घी आदि।

(३) बादर—सूक्ष्म—जिनका छेदन भेदन तथा अन्यत्र ले जाना कुछ भी न हो सके; परन्तु जो आंखों से दिखलाई देवे। जैसे छाया, धूप, चांदनी आदि।

(४) सूक्ष्म-बादर—जो नेत्रों से तो दिखलाई न देवे, किन्तु अन्य चारों इन्द्रियों का विषय हो। ऐसे शब्द, गंध, रस आदि।

(५) सूक्ष्म—जो किसी भी इन्द्रिय के विषय न हो ऐसा पुद्गल स्कंध। जैसी कर्म वर्गणा।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—जो स्कंध रूप नहीं है ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

धर्म–द्रव्य का स्वरूप

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १७ ॥ [द्रव्य–संग्रह]

अर्थ—जैसे गमन में परिणत मछलियों के लिये जल सहायक है उसी प्रकार गमन करने वाले जीवों और पुद्गलों के लिये धर्म द्रव्य सहायक है । यह किसी को प्रेरणा करके एवं धक्का देकर नहीं चलाता, किन्तु उदासीन रूप से कारण है ।

जैसे स्वयं चलते हुए रेले के इञ्जन को चलने में लोहे की पटरी उदासीन रूप से सहायक है, उसी प्रकार स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गल को गमन करने में धर्म द्रव्य सहायक है । यदि ऐसा नहीं माना जावे तो जो जीव अष्ट कर्मों का नाश करके शरीर को छोड़ कर अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं वे अनन्त अलोकाकाश में अनन्तकाल तक ऊर्ध्व गमन ही करते रहेंगे । उनका आकाश प्रदेशों में कहीं भी ठहरना न होगा । इसलिए धर्म द्रव्य मानने की जरूरत है । धर्म द्रव्य जहां तक लोकाकाश है वहीं तक है । यही कारण है कि अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव होने से जीव का गमन रुक जाता है और उस मुक्त जीव के पूर्व शरीरवर्त्ति मस्तक के आत्म प्रदेश लोक के अन्त में आकर ठहर जाते हैं । कोई जीव किसी भी छोटी बड़ी अवगाहना से मुक्त हुए हों परन्तु सब सिद्धों के मस्तक सम्बन्धी आत्म प्रदेश लोकान्त में समतल मार्ग में ही विराजमान रहते हैं । यदि धर्म द्रव्य नहीं होता तो मुक्त जीवों का ठहरना नहीं होता । अतएव जैन शास्त्रों में धर्म द्रव्य का अस्तित्व माना गया है । जैनेतर शास्त्रों में यह धर्म द्रव्य का वर्णन नहीं देखा जाता ।

अधर्म–द्रव्य का स्वरूप

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ १८ ॥ [द्रव्य–संग्रह]

अर्थ—जैसे वृक्ष की छाया पथिक के लिये ठहरने में सहायक है उसी प्रकार जो ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक हो वह *अधर्म द्रव्य है । यह भी धर्म द्रव्य के समान उदासीन रूप से कारण है, प्रेरणा से नहीं ।

(*) यहां पर जो धर्म और अधर्म शब्द हैं इनसे पुण्य पाप रूप अर्थ के वाचक धर्म अधर्म को नहीं समझना । यहां पर ये जैन शास्त्रों के जुदे ही पारिभाषिक शब्द हैं ।

यह द्रव्य भी लोक के अन्त तक व्याप्त है। जब मुक्त जीवों का धर्म द्रव्य के अभाव से आगे अलोकाकाश में गमन नहीं होता तब वे इसी की सहायता से लोकान्त में स्थित होते हैं।

आकाश द्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।

जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १९ ॥

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।

आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥ [द्रव्य-संग्रह]

अर्थ—जो समस्त पदार्थों को अवकाश (स्थान) देने योग्य है, अर्थात् जिसमें समस्त द्रव्य एक साथ परस्पर एक दूसरे को बाधा नहीं पहुंचा कर रहते हैं, वह आकाश द्रव्य है। यह लोकाकाश और अलोकाकाश भेद से दो प्रकार का है। जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांचों द्रव्य हैं वह लोकाकाश है और जहां पर आकाश के सिवाय कुछ नहीं उसका नाम अलोकाकाश है। आकाश के उक्त दो भेद उपाधि की अपेक्षा से ही हैं। नहीं तो आकाश द्रव्य अनन्त, अमूर्त्त, जड़, सर्वव्यापी, नित्य, निष्क्रिय, और स्वप्रतिष्ठित (अपने आप में ही) रहने वाला है। आकाश के प्रदेश अनन्त और लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं।

काल–द्रव्य

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।

परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २१ ॥ [द्रव्य-संग्रह]

अर्थ—काल द्रव्य दो प्रकार का है; एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। जो जीवादि द्रव्य अपनेर उपादान रूप कारण से अपने आप ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होने रूप परिणमन कर रहे हैं उनके परिणमन में जो सहायता देना है वही वर्तना कहलाती है। इस वर्तना रूप लक्षण का धारक निश्चय काल है।

यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधःशिला ।

तद्वत् कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहे मतः ॥ [आदि पुराण]

अर्थ—जैसे भ्रमण करते (घूमते वा चक्कर देते हुए) कुम्भकार के चाक के घूमने में उसके नीचे की कीलीदार शिला सहायता देती है उसी प्रकार क्षण क्षण में एक पर्याय से दूसरी पर्याय को धारण करने वाले जीवादि द्रव्यों के परिणमन में जो सहायक है वही निश्चय काल है। समय समय में पूर्व पर्याय को छोड़ कर उत्तर पर्याय को धारण करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। यदि ऐसा स्वभाव नहीं हो तो उसमें "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" इस सूत्र द्वारा जो सत् का लक्षण किया गया है उसके नहीं रहने से उस द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं रहे। अतः निश्चय काल परिणमन में सहायक होकर सब द्रव्यों का उपकारक है, ऐसा समझना चाहिए।

शङ्का—द्रव्य में एक समय के भीतर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कैसे हो जाता है ?

उत्तर—जैसे हाथ की सीधी अंगुली को टेढी की जावे तो उसमें सरलता रूप पर्याय का नाश, तथा वक्रतारूप पर्याय की उत्पत्ति एक ही साथ होती है, और अंगुली का ध्रौव्य पना दोनों अवस्थाओं में ही साथ रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है।

जीव और पुद्गल की स्थूल पर्यायों में जो समय, घड़ी, प्रहर आदि की स्थिति बतलाई है वह व्यवहारकाल कहलाता है। यह व्यवहार काल यद्यपि सूर्य चन्द्रादि के परिभ्रमण रूप निमित्तों से बनता है, अर्थात् दिन, रात्रि, मास, वर्ष आदि काल के भेद से तथा सूर्यादि के गमन से ही बने हैं; परन्तु व्यवहार काल का मूल कारण तो निश्चय काल ही है।

भावार्थ—जो अनादि निधन अमूर्त, नित्य, और समय आदि का प्रधान कारण होकर भी समयादि के विकल्प से रहित कालाणु द्रव्य रूप है वह तो निश्चय काल है और जो सादि सान्त है, समय, घटिका, प्रहर आदि शब्दों से कहा जाता है, वह व्यवहार काल है। जो चेतन वा अचेतन द्रव्य में अपनी जाति को नहीं छोड़ कर पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से पूर्व पर्याय को छोड़ कर उत्तर पर्याय धारण करने रूप विकार होता है उसे परिणाम कहते हैं।

यह परिणाम दो प्रकार का है—१ प्रयोगज और दूसरा वैस्रसिक। इनमें अचेतन मृत्तिका का जो कुम्भकार के प्रयोग से घट रूप हो जाना है वह प्रयोगज है। और दूसरा पुरुष प्रयोग के बिना पुद्गलों का जो इन्द्र धनुष आदि रूप होना है वह वैस्रसिक है। विस्रसा

नाम स्वभाव का है। और जो स्वभाव से हो उसको वैस्रसिक या नैसर्गिक कहते हैं। पुद्गल की तरह जीवादि में भी दोनों ही परिणमन समझने चाहिये।

हलन चलन का होना ही क्रिया है। यह भी दो प्रकार की होती है। पुरुष आदि के प्रयोग से जो गाड़ी आदि का हलन चलन होता है वह प्रायोगिकी क्रिया और मेघ (बादल) आदि में जो चलने रूप क्रिया है वह वैस्रसिकी क्रिया है। परत्व और अपरत्व यह परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं और प्रशंसा, क्षेत्र एवं काल के भेद से ३ प्रकार के हैं।

(१) प्रशंसाकृत—जैसे अहिंसादि अच्छे गुणों का धारक धर्म तो पर कहलाता है और दोष रूप अधर्म अपर कहलाता है।

(२) क्षेत्रकृत—जैसे भूमि में दो पुरुष एक साथ चल रहे हैं, इनमें से जो ज्यादा दूर चला जाय वह तो पर और जो थोड़ी दूर गया वह अपर कहलाता है।

(३) कालकृत—जैसे एक सौ वर्ष की आयु वाला जो वृद्ध है वह पर कहलाता है और १६ वर्ष की उम्र वाला अपर कहलाता है।

इतने विवेचन से यह बतलाया गया है कि किस द्रव्य का क्या अर्थ किया है। अर्थ-क्रिया-कारित्व पदार्थ का लक्षण है। प्रति समय प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ-क्रिया करता रहता है। इस अर्थ-क्रिया में पदार्थ स्वयं उपादान कारण है और दूसरे पदार्थ निमित्त कारण। इस उपादान-निमित्त को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। जीवादिक द्रव्य परस्पर एक दूसरे की अर्थ-क्रिया में निमित्त बनते रहते हैं।

द्रव्य सामान्य का लक्षण

"सद्द्रव्यलक्षणम्" इस ५वें अध्याय के २९वें सूत्र द्वारा मोक्ष शास्त्र में 'जो सत् है वही द्रव्य है' ऐसा द्रव्य का लक्षण कहा गया है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इस ५वें अध्याय के ३०वें सूत्र के अनुसार जिस वस्तु में उत्पाद (नवीन पर्याय) की उत्पत्ति, व्यय (पहली पर्याय का नाश), और ध्रौव्य अर्थात् पूर्वोत्तर (पहली और अगली) पर्यायों में अनादि काल से चले आये हुए वस्तु के पारिणामिक (असली) स्वभाव का नाश न होना, ये तीनों बातें पाई जावें उसे सत् कहते हैं।

दोनों सूत्रों का भाव यह है कि जैसे कुंभकार मृत्तिका (मिट्टी) का पहिले पिण्डा बनाता है और फिर उस पिण्डे का घट बनाता है। तब [illegible] का नाश होकर फिर घटरूप पर्याय की उत्पत्ति होती है। अतः पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से तो पिण्ड-पर्याय का

नाश, और घट-पर्याय की उत्पत्ति हुई; परन्तु इन दोनों के उपादान कारण रूप जो मृत्तिका है वह पिण्ड में भी रही और घट में भी। अर्थात् वह दोनों पर्यायों में ही स्थिर रूप है। वैसे ही जीवादि द्रव्यों में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। एक जीव जब मनुष्य शरीर रूप पर्याय को छोड़ कर देव स्वरूप रूप पर्याय को ग्रहण करता है तब मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी जो जीव मनुष्य में था वही देव में भी है। यहां पर्यायार्थिक की अपेक्षा जीव का मरण और जन्म माना गया है। परन्तु द्रव्यार्थिक से दोनों पर्यायों में हीजीव-का नाश न होने से भी ध्रौव्य भी रह गया। इसी प्रकार अन्य सब द्रव्यों में भी द्रव्य की अपेक्षा ध्रौव्य और पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय समझना चाहिये।

'सद्रव्यलक्षणम्" द्रव्य के इस लक्षण के अतिरिक्त "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" गुण पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है, ऐसा जो द्रव्य का दूसरा लक्षण किया गया है उसका कुछ विशेष विवरण करते हैं।

"द्रव्यं द्रव्यान्तराद्येन विशिष्यते स गुणः। तेन हि तद् द्रव्यं विधीयते। असति तस्मिन् द्रव्यसंकरप्रसंगः स्यात् तद्यथा-जीवः पुद्गलादिभ्यो ज्ञानादिभिर्गुणैर्विशिष्यते, पुद्गलादयश्च रूपादिभिः ततश्चाविशेषे संकरः स्यात। ततः सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः। पुद्गलादीनां च रूपादयः। तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः।" [सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सूत्र ३८]

जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा किया जावे वह गुण कहलाता है और वह द्रव्य से कभी जुदा नहीं होता अर्थात् वह द्रव्य के साथ ही रहता है। इस गुण के कारण ही वह द्रव्य कहलाता है। यदि द्रव्य में गुण न हो तो फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में मिल जावे। उदाहरणार्थ पीलापना, भारीपना और कोमलपना ये सुवर्ण के, और श्वेतपना, हलकापना और कठोरपना ये चांदी के गुण हैं। अतः इन्हीं गुणों से सोना और चांदी जुदे २ पहिचाने जाते हैं। इसी प्रकार जीव द्रव्य के साथ त्रिकाल में रहने वाला जो चेतनत्व है वह उसका गुण कहलाता है। यह गुण दूसरे द्रव्यों में न होने से अन्य द्रव्यों से जीव द्रव्य को जुदा माना है। गुण अन्वयी और सहभावी होते हैं। किन्तु पर्यायें क्रमभावी होती हैं वे एक दूसरे से नहीं मिलतीं। उनका धर्म व्यतिरेक है। कोई गुण पर्याय के बिना नहीं रहता और कोई पर्याय बिना गुण के नहीं होती। और ये दोनों द्रव्य में भिन्न भिन्न रूप से सदा विद्यमान रहते हैं। इसे उदाहरण देकर समझा रहे हैं :—

जैसे सोने के कड़े का भुजबन्ध बन गया तब कटक पर्याय का नाश होकर दूसरी पर्याय उत्पन्न होगई, जिससे सोने में भी कुछ भेद बुद्धि पैदा होगई। इसी तरह जो जीव देव था वह मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होने से मनुष्य कहलाने लगा। इससे जीव द्रव्य में भी भेद कल्पना होगई। यह उदाहरण स्थूल है। यहां पर यह समझ लेना आवश्यक है कि गुण तो सहभावी होने से अर्थात् हर दशा में द्रव्य के साथ रहने से उसके स्वरूप की रक्षा करता हुआ द्रव्य में ध्रौव्य (स्थिरत्व) रखता है; किन्तु पर्यायें क्रमभावी हैं, अतः पूर्व पर्याय के नष्ट होने पर जो दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है वह, उसमें भेद प्रतीति को जनक होकर उत्पाद और व्यय करती है। अतएव पर्याय को क्रमभावी

(क्रम २ से होने वाली) कहा गया है। आचार्यों ने "सद्द्रव्य लक्षणम्" और "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" ये दो लक्षण केवल मन्द बुद्धियों के लिये ही किये हैं। वास्तव में विचार किया जावे तो दोनों का आशय एक है। द्रव्य के दोनों ही लक्षण जीव पुद्गल आदि में मिलते हैं। अतः इन छहों को द्रव्य माना गया है।

द्रव्य के गुण

छहों द्रव्यों में निम्नलिखित ६ गुण सदा समान रूप से रहते हैं। किसी भी द्रव्य में किसी गुण का अभाव नहीं होता।

(१) अस्तित्व—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश नहीं हो उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

(२) वस्तुत्व—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थ क्रिया हो अर्थात् वह कुछ न कुछ काम करता रहे।

(३) द्रव्यत्व—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य एक पर्याय को छोड़ कर दूसरी पर्याय (अवस्था) रूप परिणमन करता है, बदलता है, वह द्रव्यत्व गुण है।

(४) प्रमेयत्व—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो। यदि वह और किसी के ज्ञान का विषय न हो तो सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय तो जरूर ही हो, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

(५) अगुरुलघुत्व—जिस शक्ति के होने से द्रव्य की एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं हो अथवा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो, अथवा एक द्रव्य के गुण बिखर कर जुदे २ न हो जावें वह अगुरुलघुत्व है।

(६) प्रदेशवत्त्व—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार हो वह प्रदेशत्व गुण है। इन सब गुणों को साधारण गुण कहते हैं। क्योंकि यह द्रव्यों में रहते हैं।

इन गुणों के अतिरिक्त द्रव्यों में और भी गुण हैं, परन्तु वे सब में नहीं रहते, इसलिये वे विशेष गुण कहलाते हैं।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, और अमूर्तत्व इन भेदों से ये १६ प्रकार के गुण हैं।

आगे यह बताते हैं कि किस २ द्रव्य में कौन २ गुण हैं।

(क) जीव में—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छह गुण होते हैं।

(ख) पुद्गल में—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व ये छह गुण हैं।

(ग) धर्मद्रव्य में—गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये ३ गुण हैं।

(घ) अधर्मद्रव्य में—स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये ३ गुण हैं।

(ङ) आकाशद्रव्य में—अवगाहनहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये ३ गुण हैं।

(च) कालद्रव्य में—वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये ३ गुण हैं।

किस द्रव्य में कौनसा विशेष गुण है यह इससे स्पष्ट समझ में आजावेगा

१	१	२	३	४	५	६	७
२	जीव द्रव्य	दर्शन	ज्ञान	सुख	वीर्य	चेतनत्वं	अमूर्तत्वं
३	पुद्गल द्रव्य	स्पर्श	रस	गन्ध	वर्ण	अचेतनत्वं	मूर्तत्वं
४	धर्म द्रव्य	गतिहेतुत्वं	अचेतनत्वं	अमूर्तत्वं			
५	अधर्म द्रव्य	स्थितिहेतुत्वं	अचेतनत्वं	अमूर्तत्वं			
६	आकाश द्रव्य	अवगाहनत्वं	अचेतनत्वं	अमूर्तत्वं			
७	काल द्रव्य	वर्तनाहेतुत्वं	अचेतनत्वं	अमूर्तत्वं			

द्रव्य की पर्याय

गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। उसके दो भेद हैं गुणपर्याय और व्यंजनपर्याय। गुणपर्याय को अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय को द्रव्यपर्याय भी कहते हैं। ज्ञानादि भाव वाली शक्ति के विकार को अर्थपर्याय अथवा गुणपर्याय कहते हैं। और प्रदेशवत्व गुण रूप क्रियावती शक्ति के विकार को द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। पर्यायों के स्वभावपर्याय और विभावपर्याय इस तरह भी दो भेद हैं। जो किसी दूसरे निमित्त के बिना हो उसे स्वभाव कहते हैं। और जो दूसरे के निमित्त से वह विभाव कहलाता है।

उक्त दोनों पर्यायों के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से निम्न लिखित ४ भेद हो जाते हैं।

जीव की चार प्रकार की पर्यायें

(१) कर्म रहित शुद्ध जीव में जो ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्य हैं, वे स्वभाव अर्थपर्याय हैं।

(२) संसारी जीव में केवल ज्ञान के बिना मति श्रुत व कुमति कुश्रुत आदि जो कुज्ञान हैं वे विभाव अर्थपर्याय हैं।

(३) संसारी जीव के शरीराकार परिणाम हैं वह जीव की विभाव व्यञ्जनपर्याय है।

(४) मुक्त जीव के अन्तिम शरीर के आकार जो आत्म-प्रदेश हैं वह जीव की स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है।

पुद्गल की चार प्रकार की पर्यायें

(१) परमाणु में जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण हैं, वे स्वभाव अथपर्याय हैं।

(२) पुद्गल स्कन्धों में जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण हैं, वे विभाव अर्थपर्याय हैं।

(३) जो अनादि निधन कार्य व कारण रूप पुद्गल परमाणु है वह पुद्गल की स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है।

(४) पृथ्वी जल आदि रूप स्कन्ध विभाव व्यञ्जनपर्याय हैं।

जीव और पुद्गलों में ही विभाव पर्याय होती है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों द्रव्यों में स्वभाव जनित ही अर्थ व्यञ्जन पर्यायें होती हैं। इसी तरह धर्म में गतिहेतुत्व, अधर्म में स्थितिहेतुत्व, आकाश में अवगाहनहेतुत्व, और काल में वर्तना हेतुत्व रूप स्वभाव अर्थ पर्याय है।

उक्त चारों ही द्रव्य जिस २ प्रकार से संस्थित हैं वे उनकी स्वभाव व्यञ्जन पर्याय हैं।

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ [आलापद्धति]

अर्थ—जिस प्रकार जल में लहरियां उठती तथा बैठती हैं, उसी प्रकार जीवादि छहों द्रव्यों में जो समय २ पर षड्गुणी हानि और वृद्धि रूप अगुरुलघु गुण का परिणमन होता है, उससे अपनी २ पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं।

पंचास्तिकाय

उल्लिखित छहों द्रव्यों में ही अस्तित्व सामान्य है किन्तु अस्तिकायत्व पांच ही द्रव्यों में है अतः अस्तिकाय पांच ही है।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अनंत आयासे ।
मुत्ते तिविहपदेसा कालस्से गोत्थ तेण सो काओ ॥ २६ ॥ [द्रव्य संग्रह]

उक्त गाथा के अनुसार प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है, तथा धर्म और अधर्म द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशों वाले हैं। आकाश द्रव्य में अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त हैं और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। मूर्त जो पुद्गल द्रव्य है वह संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेशों का धारक है।

लोकाकाश के एक २ प्रदेश पर एक २ कालाणु स्थित है,इसी कारण असंख्यात प्रदेशों के धारक लोकाकाश में असंख्यात ही काल द्रव्य हैं। और प्रत्येक काल द्रव्य एक २ प्रदेश का धारक है; इस कारण अविभागी पुद्गल परमाणु के समान इसे भी अप्रदेशी माना है।

यहां पर यदि यह प्रश्न किया जावे कि लोकाकाश के बराबर ही असंख्यात प्रदेश धर्म द्रव्य के भी हैं और कालाणु भी असंख्यात हैं, परन्तु धर्म द्रव्य को तो एक अखण्ड द्रव्य माना है और काल द्रव्य को पृथक्२ असंख्यात कालाणु रूप कैसे? इसका उत्तर यह है कि धर्म द्रव्य के प्रदेश तो आपस में अखण्ड पिण्ड रूप होकर लोकाकाश में फैले हुए हैं। इसलिये वह प्रदेशों के समुदाय रूप होने से काय (शरीर) की तरह एक है और कालाणु एक २ आकाश के प्रदेश पर एक दूसरे से मिले हुए न होकर रत्नों के समूह के समान पृथक् २ स्थित हैं।

इसका दृष्टान्त यह है कि एक गज भर लम्बी चौड़ी भूमि पर एक गज लम्बा चौड़ा लठ्ठे का टुकड़ा रख कर उस पर एक २ पोस्त (खस खस) के दाने इस रीति से फैलाये जावें कि उस लठ्ठे का कोई स्थान पोस्त के दाने से खाली न रहे। अब ध्यान देने की बात यह है कि जितना स्थान लठ्ठे ने घेरा है उतना ही स्थान पोस्त के दानों ने भी घेरा है किन्तु लठ्ठे के अंश आपस में मिले हुए होने से वह तो एक ही कहलावेगा किन्तु पोस्त के दाने पृथक् २ होने से हजारों लाखों कहलावेंगे। इसी प्रकार धर्म अधर्म द्रव्य को एक २ और काल द्रव्य को असंख्यात माना है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश के प्रदेश शरीर के प्रदेशों के समान आपस में मिले हुए हैं, इसलिये वे कायवान हैं, और उनका अस्तित्व है ही, इसलिये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश ये पांचों अस्तिकाय कहलाते हैं।

षट् द्रव्यों की विशेषता में बतलाने वाला यंत्र —

संख्या	द्रव्य	सक्रिय वा निष्क्रिय	कायवान व अकायवान	प्रदेशों की संख्या	चेतन वा अचेतन	मूर्त वा अमूर्त	पर्याय	विशेष गुण	संख्या प्रदेशों की	व्यापकता
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	
१	जीव	सक्रिय	काय	असंख्यात	चेतन	अमूर्त (अरूपी)	अर्थ पर्याय व्यंजन पर्याय	ज्ञान दर्शन सुख वीर्य	अनन्त हैं	शरीर व्यापी केवली समुद्घात अवस्था में लोक व्यापी
२	पुद्गल	सक्रिय	काय	संख्यात असंख्यात अनन्त	अचेतन	मूर्त (रूपी)	अर्थ पर्याय व्यंजन पर्याय	स्पर्श रस गंध वर्ण	अनन्तानन्त	अणु की अपेक्षा एक प्रदेश व्यापी महास्कंध की अपेक्षा जगद् व्यापी
३	धर्म	निष्क्रिय	काय	असंख्यात	अचेतन	अमूर्त	अर्थ पर्याय	गतिहेतु	एक	लोकाकाश व्यापी
४	अधर्म	निष्क्रिय	काय	असंख्यात	अचेतन	अमूर्त	अर्थ पर्याय	स्थितिहेतु	एक	लोकाकाश व्यापी
५	आकाश	निष्क्रिय	काय	अनन्त	अचेतन	अमूर्त	अर्थ पर्याय	अवगाहत्व	एक	सर्वव्यापी
६	काल	निष्क्रिय	अकाय	एक भी नहीं	अचेतन	अमूर्त	अर्थ पर्याय	वर्तनाहेतु	असंख्यात	एक प्रदेश व्यापी

आस्रव-तत्त्व

इस प्रकार जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन करके अब आस्रव तत्त्व का कथन किया जाता है।

जिस प्रकार तालाब में नदी व नालों से वर्षा का जल संचित होता है, उसी प्रकार आत्मा में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति द्वारा कर्म आते हैं। भाव यह है कि मन में कुछ विचार करने, वचन से कुछ कहने तथा कायसे कुछ करने के लिये प्रयत्न होते ही शरीरस्थ आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है वह योग कहलाता है। यह योग ही आस्रव है। क्योंकि इन आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन होते ही आत्मा के चोतरफ स्थित जो कार्माण वर्गणारूप पुद्गल हैं उनका जीव के साथ संयोग हो जाता है।

आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है—

"कायवाङ्मनः कर्मयोगः, स आस्रवः" [सूत्र. १-२ अध्याय ६]

इन दो सूत्रों के द्वारा मन, वचन और काय के व्यापार रूप योग को कारण में कार्य का उपचार करके आस्रव (कर्मागम कारण) बतलाया है। योग के अभाव से केवल पुद्गल एवं मुक्तजीव के आस्रव नहीं होता। क्योंकि योग और कर्म विशिष्ट आत्मा दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। योग के बिना कभी कर्म नहीं आते। इसलिए योग ही बंधन अथवा दुख का कारण है। जब आत्मा के साथ योग का योग (सम्बन्ध) रहता है, तब तक वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। जितने भी जीव मुक्त हुये हैं, वे योग का अभाव कर १४ वें गुणस्थान में अयोगी बनकर ही मुक्त हुए हैं। अतएव मोक्षरूप उपादेयतत्त्व की प्राप्ति के लिए आचार्यों ने यह आस्रव तत्त्व हेय (त्यागने योग्य) बतलाया है।

आस्रव के भेद और कारण

भाव तथा द्रव्य के भेद से आस्रव दो प्रकार का है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं वे तो भावास्रव हैं और इस भावास्रव के द्वारा जो कर्म वर्गणा का आना है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं। कहा भी है—

"मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पणबारस पणवीसा पण्णरस होंति तब्भेया" ॥ २ ॥ (श्रीश्रुतमुनि कृत आस्रव त्रिभंगी)

मिथ्यात्व—विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, और अज्ञान भेदों से ५ प्रकार, छह काय के जीवों की दया नहीं पालने से, और

५ इन्द्रिय तथा मन को वश में न करने से १२ प्रकार का अविरमण (असंयम), अनन्तानुबन्धी क्रोधादि रूप १६ कषाय एवं हास्यादि रूप ६ नो कषाय (ईषत् कषाय) को मिलाकर २५ कषाय, तथा काय के ७, मन के ४, वचन के ४ भेद रूप १५ योग इस प्रकार सब मिलाकर भावास्रव के ५७ भेद बतलाये हैं। किन्तु

"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया" [द्रव्यसंग्रह ३०]

द्रव्य-संग्रह की इस गाथा के अनुसार उक्त ५७ भेदों में १५ प्रमाद के भेद और बढ़ा देने से भावास्रव के ७२ भेद भी हो जाते हैं। यह विवक्षा भेद है। मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषाय के समान प्रमाद भी कर्मास्रव का कारण है। ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा और १ प्रणय यह प्रमाद के १५ भेद हैं। इस आस्रव के मुख्य दो भेद हैं।

सम्परायः संसारस्तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद् द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्टेः साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति। अकषायस्योपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति।

[सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ सू. ४]

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि कषाय सहित जीव के साम्परायिक (संसार को बढ़ाने वाला) आस्रव होता है। जिस प्रकार गीले चमड़े पर उड़कर आई हुई धूलि चिपट जाती है, उसी प्रकार १०वें गुणस्थान तक जीवों के कषाय से सचिक्कण हुए परिणामों द्वारा आयेहुए कर्म दृढ़ बन्धन को प्राप्त होकर जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं। कषाय रहित ११वें १२वें, १३वें गुणस्थान वाले जीवों के जो केवल योगों के द्वारा (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से) कर्म आता है वह ईर्यापथिक है। ईर्यापथिक कर्म जैसे आता है वैसे ही चला जाता है; क्योंकि ठहराने का कारण कषाय नहीं है। जैसे सूखे घड़े पर आई हुई मिट्टी योंही उड़कर वापिस चली जाती है अर्थात् घड़े के नहीं चिपटती, उसी प्रकार कषाय रहित योग के द्वारा आया हुआ कर्म दूसरे समय में ही आत्मा से अलग हो जाता है। कषाय के बिना बंध को प्राप्त नहीं होता, अतः संसार-वर्द्धक भी नहीं है। इसी कारण—

"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंच चतुः पंच पंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः" [तत्त्वार्थ सूत्र ५ अ. ६]

इस सूत्र के द्वारा साम्परायिक आस्रव के ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अव्रत और २५ क्रिया रूप ३९ भेद बतलाये हैं। इनमें १५ योगों को अलग नहीं लिया है। क्योंकि वे कषाय सहित होकर ही साम्परायिक आस्रव के कारण हैं, बिना कषाय के नहीं। इसलिए इनको कषाय में ही शामिल कर लिया है। यह विवक्षा का भेद है।

द्रव्यसंग्रह, आस्रवत्रिभङ्गी और तत्वार्थ सूत्र में जो आस्रव के कारण बतलाये गये हैं उनमें अविरत और कषाय तो तीनों ही ग्रथों में लिये गये हैं। अन्य में विवक्षा भेद से कुछ परस्पर भेद है। परन्तु सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं। जैसे तत्वार्थ सूत्र में मिथ्यात्व और प्रमाद को २५ क्रियाओं में ले लिया गया है। आस्रव के सम्मिलित कारणों में से मिथ्यात्व का वर्णन इस अध्याय में किया जाचुका है। अविरति, कषाय, योग और प्रमाद का विशेष वर्णन प्रथम किरण मूलगुणाधिकार में विस्तार के साथ किया गया है। इन्द्रियों का वर्णन भी किया जाचुका। केवल साम्परायिक आस्रव की कारण भूत २५ क्रियाओं का वर्णन नहीं हुआ। उनका वर्णन भी आवश्यक है। अतः श्री राजवार्तिक के अनुसार संक्षेप मे इनका स्वरूप दिखलाया जाता है।

साम्परायिक आस्रव की कारणभूत २५ क्रियाएँ

(१) सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पंच ॥ [राजवार्तिक ७]

(क) देव, शास्त्र और गुरु की पूजा स्तुति आदि सम्यग्दर्शन को बढ़ाने वाली क्रियाओं का करना सम्यक्त्व क्रिया है।

(ख) कुगुरु, कुदेव आदि की स्तुति आदि करने रूप ऐसे कार्यों का करना जिनसे मिथ्यात्व की पुष्टि होती हो वह मिथ्यात्व क्रिया है।

(ग) शरीर व वचन आदि से जो गमनागमन (आना जाना) करना कराना आदि है वह प्रायोगिकी क्रिया है।

(घ) सयमी का जो अविरति हिंसा के प्रति सम्मुख होना है वह समादान क्रिया है।

(ङ) ईर्यापथ करने के लिये होनेवाली अर्थात् देख कर गमन करने रूप ईर्या समिति के लिये जो क्रिया की जाती है वह ईर्यापथ क्रिया है।

(२) प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पंच [राजवार्तिक ८]

(क) क्रोध करने के निमित्त मिलने पर जो क्रोध का उत्पन्न होना है वह प्रादोषिकी क्रिया है।

(ख) किसी के मारण ताडनादि के लिये जो शरीर से प्रयत्न करना है वह कायिकी क्रिया है।

(ग) किसी के मारने के लिये जो हिंसा के उपकरणभूत खड्ग आदि शस्त्रों का लेना है वह आधिकरणिकी क्रिया है।

(घ) जिससे किसी को दुःख हो ऐसा क्रिया करना पारितापिकी क्रिया है।

(ङ) जिस क्रिया के करने से किसी के आयु इन्द्रिय और बल प्राणों का वियोग हो जावे अर्थात् मरण हो जावे, वह प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(३) दर्शन-स्पर्शन-प्रत्यय-समन्तानुपातना-भोगक्रियाः पंच [राजवार्तिक ९]

(क) राग भाव के उदय से प्रमादी पुरुष के द्वारा जो किसी स्त्री आदि के मनोहर रूप को देखने की इच्छा का होना है वह दर्शन क्रिया है।

(ख) प्रमादवश (राग के उदय से) स्त्री आदि के कोमल शरीर आदि को स्पर्श करने (छूने) के लिये जो विचार आदि का होना है वह स्पर्शन क्रिया है।

(ग) हिंसा करने के लिये अपूर्व (नये नये) शस्त्रादिकों का बनाना प्रात्यायिकी क्रिया है।

(घ) जहां स्त्री पुरुष गाय भैंस आदि पशुओं का समूह रहता हो, ऐसे स्थानों में मल मूत्र विष्टा आदि का गिराना समन्तानुपातिकी क्रिया है।

(ङ) बिना झाड़ी बुहारी व बिना देखी सोधी जमीन पर शरीर आदि का क्षेपण करना (सोना बैठना) व किसी चीज का धरना आदि कार्य करना अनाभोग क्रिया है।

(४) स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रियाः पंच ॥ [राजवार्तिक १०]

(क) दूसरे के द्वारा की जाने योग्य क्रिया को जो अपने हाथ से करता है वह स्वहस्त क्रिया है

(ख) पाप का आस्रव करने वाली क्रियाओं के करने के लिये अपनी सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

(ग) आलस्य के वशीभूत होकर शुभास्रव करने वाली अच्छी क्रियाओं का नहीं करना अथवा दूसरे के किये हुए हिंसादि रूप बुरे कामों को प्रकट करना विदारण क्रिया है।

(घ) जो कोई चारित्र मोह के उदय से आगम में कही हुई आज्ञा के अनुसार षड् आवश्यक आदि क्रियायें स्वयं नहीं कर सकता हो तो उनको अपनी इच्छानुकूल दूसरा स्वरूप (उपाय) बता देना वह आज्ञाव्यापादक क्रिया है।

(ङ) अपनी मूर्खता व आलस्य के कारण आगम मे कही हुई विधि के करने में जो अनादर है वह आनाकाङ्क्षा क्रिया है।

(५) आरंभपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पंच ॥ [राजवार्तिक ११]

(क) छेदन (काटना) भेदन (विदारण) आदि क्रियाओं में तत्पर रहना अथवा कोई दूसरा ऐसा काम करता हो तो उसमें प्रसन्न होना यह प्रारम्भ क्रिया है।

(ख) परिग्रह की रक्षा करने वाले व परिग्रह को बढ़ाने वाले कार्यों का करना पारिग्राहिकी क्रिया है।

(ग) ज्ञान दर्शन चारित्र आदि के विषय में कपट करना व कपट रखना माया क्रिया है।

(घ) कोई मिथ्यादर्शन व (मिथ्यात्व) रूप क्रियाओं के करने व कराने में लगा हुआ हो उसको कहना तू बहुत अच्छा करता है, इत्यादि प्रशंसा करके उसको मिथ्यात्व में दृढ़ (पक्का) बनाना, मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(ङ) संयम के घातक अप्रत्याख्यानादिरूप चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो हिंसादि रूप पाप क्रियाओं का नहीं छोड़ना है वह अप्रत्याख्यान क्रिया है।

उक्त २५ क्रियाओं में से मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शन क्रिया में तो मिथ्यात्व गर्भित है। आज्ञाव्यापादनी तथा अनाकांक्षा क्रिया में प्रमाद गर्भित है। उक्त क्रियाओं में ईर्यापथिक तथा सम्यक्त्व क्रिया तो पुण्यवर्धक प्रतीत होती है, शेष पाप जनक हैं।

ईर्यापथिक आस्रव में कर्मों की एक समय मात्र स्थिति है। वहां अनुभागबन्ध के न होने से वे पुण्य पाप रूप कोई भी फल नहीं देते।

साम्परायिक आस्रव शुभ और अशुभ भेद से दो प्रकार का है। मन वचन काय की शुभ रूप प्रवृत्ति से शुभास्रव होता है, वह पुण्य बन्ध का कारण है, और अशुभ योग जनित अशुभ आस्रव है वह पापबंध का कारण है। इस प्रकार भावास्रव के स्वरूप व कारणों को दिखला कर अब द्रव्यास्रव का स्वरूप दिखलाते हैं।

द्रव्यास्रव

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥ (द्रव्य-संग्रह)

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य पुद्गलों का—कार्माण वर्गणाका–आना है वह द्रव्यास्रव है। यह कर्मों की प्रवृत्तियों के भेद प्रभेदों से अनेक प्रकार का है।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशों के हलन चलन होने पर जो कर्म-वर्गणा आती हैं, वह आते ही मन वचन और काय की जैसी प्रवृत्ति थी उसीके अनुकूल स्वभाव वाली हो जाती हैं।

जैसे किसी पण्डित से संशय निवारणार्थ किसी ने कुछ पूछा और पण्डितजी ने जानते हुए भी उसका उत्तर नहीं दिया, तो इस क्रिया के द्वारा आई हुई कर्म वर्गणा ज्ञानावरण प्रकृतिरूप (ज्ञान को ढकने के स्वभाव वाली) होकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होगी। इसी प्रकार अन्य भी समझना। इस गाथा के अनुसार आत्मा के प्रति कार्माणवर्गणा का आना ही द्रव्यास्रव है। वह आस्रव किन२ कारणों से किस २ प्रकार होता है यह बात तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि ग्रन्थों से जान लेना। विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा है।

बन्ध तत्त्व

कर्मों का आस्रव के अनन्तर ही बन्ध होता है, अतः क्रम प्राप्त बन्ध तत्त्व का कथन किया जाता है।

"बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ ३३ ॥ (द्रव्य-संग्रह)

अर्थ—जीव के निज शुद्ध स्वभाव से विपरीत ऐसे मिथ्यात्व रागादि रूप अशुद्ध विभावों का होना है वह भाव बन्ध है और आई हुई कर्मवर्गणा का उक्त भावबन्ध के निमित्त से ज्ञानावरणादि रूप होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध होना द्रव्य-बंध है। अर्थात् जैसे दूध जल का आपस में मेल होता है उसी प्रकार कर्म-प्रदेशों और आत्म-प्रदेशों का परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बन्ध (मेल) हो जाता है, वह द्रव्य-बन्ध कहलाता है।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः [अ० ८ सूत्र १–तत्त्वार्थ सूत्र]

अर्थ—इस सूत्र के द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये पांच भाव-बन्ध के कारण बतलाये गये हैं। और

द्रव्यसंग्रह में इन्हीं को ' मिच्छत्ताविरदिप्रमाद" इत्यादि ३० वीं गाथा द्वारा भावास्रव के कारण बताये हैं। इन दोनों कथनों में इतना ही भेद प्रतीत होता है कि आस्रव तो मिथ्यात्वादिरूप परिणामो सहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति द्वारा आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन होते ही हो जाता है और बन्ध, बन्ध के समय में जैसे कषायादिरूप परिणाम हो उसके अनुसार होता है।

कर्मों का बन्ध चार प्रकार का है, प्रकृति-बन्ध, प्रदेश-बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग-बन्ध। इनमें कर्मवर्गणा का ज्ञानावरण (ज्ञान को रोकना) इत्यादि स्वभाव रूप होना। जैसे नीम का स्वभाव कडुआ वैसे ही ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण का स्वभाव आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डालना है। वेदनीय का स्वभाव आत्मा को सुख दुःख देना है इत्यादि सब प्रकृति-बन्ध कहलाता है। आत्मा के प्रदेशों के साथ जो बन्धे हुए कर्म परमाणुओं की संख्या का नियत होना है, वह प्रदेश-बन्ध है। एक २ आत्मा के प्रदेश पर सिद्ध राशि के अनन्त भाग में से एक भाग जितने और अभव्यराशि से अनन्त गुणे, अनन्तानन्त परमाणु प्रति समय बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं। ये दोनों प्रकृति और प्रदेश-बन्ध केवल योग के द्वारा होते हैं। इन कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ ठहरे रहने के काल की मर्यादा को स्थिति-बन्ध, और उनमें सुख दुःख आदि देने की तीव्र (अधिक) वा मन्द (अल्प) रस देने रूप शक्ति के होने को अनुभाग बन्ध कहते हैं। ये दोनों कषाय से होते हैं। अर्थात् क्रोधादि कषायों की जैसी तीव्रता व मन्दता होती है उसीके अनुसार कर्मों के ठहरने का काल और फल देने की शक्ति नियत हो जाती है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र ये आठों कर्म ही आत्मा को जन्म मरण रूप संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं*। इस प्रकार के बन्ध का अनादिकाल से आत्मा के साथ सम्बन्ध है। बीच २ में जिस पूर्वबद्ध कर्म की फल देने पूर्वक निर्जरा होती जाती है, उसके स्थान में अन्य कर्म बंधते जाते हैं। आस्रव तत्त्व की तरह यह बंधतत्त्व भी हेय है।

बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग रूप जो पांच कारण बतलाये गये हैं। इनमें पहिले मिथ्यादृष्टि गुण-स्थान में तो पांचों से ही बन्ध होता है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे इन तीनों गुणस्थानों में मिथ्यादर्शन को छोड़ कर शेष चार कारणों से तथा पांचवें गुणस्थान में अविरति और विरति दोनों से मिले हुए प्रमाद, कषाय और योगों से, छट्ठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योगों से, सातवें, आठवें, नवमे और दशवें इन चार गुणस्थानों में कषाय और योगों से, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीनों गुणस्थानों में केवल योग के द्वारा ही बन्ध होता है। चोदहवें गुणस्थान में न कर्म का आस्रव ही होता है और न बन्ध ही होता है।

---

*—इन अष्ट प्रकार के कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतिया हैं। उनके बन्ध के कारणों की विशेषता और उनकी स्थिति, अनुभाग आदि का स्वरूप मोक्ष शास्त्र की टीकाओं से समझ लेना चाहिये।

संवर तत्त्व

आस्रव और बन्ध ये दोनों हेय तत्त्व हैं, इसलिये मोक्षाभिलाषी को उचित है कि इनको नष्ट करने के लिये प्रयत्न करे। आस्रव का नाश करने वाला संवर है। अतः एव संवर का वर्णन किया जाता है।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ [अ० ६ सू० १ तत्त्वार्थ सूत्र]

अर्थात्–आस्रव का रुकना ही संवर है।

कर्मों के आने के कारण योग हैं। मन–वचन–काय के व्यापार रूप योगों का रुकना संवर कहलाता है। जैसे तालाब में आने की नाली को डाट लगादी जावे, तो जल का आना रुक जाता है, उसी प्रकार यदि मन, वचन, काय को रोक कर आत्म–प्रदेशों का हलन चलन न होने दिया जावे, तो आत्मा के प्रति कर्मवर्गणा का आना रुक जाता है। यह कर्मागम का रुकना ही संवर है।

यह संवर दो प्रकार का है–एक भावसंवर और दूसरा द्रव्यसंवर। इनमें "संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः" आत्मा का एक पर्याय छोड़कर दूसरी पर्याय में जाना ही संसार कहलाता है, अतः उसके निमित्त भूत मन, वचन, काय के व्यापार का जो रुकना है, वह तो भाव–संवर है। और संसार वर्द्धक योग प्रवृत्ति के रुकने से जो कार्माण वर्गणा रूप पुद्गलों का आत्मा के प्रति नहीं आना सो द्रव्य–संवर है। संवर भी शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है।

"वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहापरीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा" ॥ ३६ ॥ [द्रव्य-संग्रह]

अर्थ—अहिंसादि ५ व्रतों को धारण करना, ईर्या आदि ५ समितियों के अनुसार प्रवृत्ति करना, मन, वचन, काय रूप तीनों गुप्तियों का पालन करना, उत्तम क्षमादि १० धर्मों को धारण करना, अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं का भावना तथा बाईस परिषहों का जीतना, और सामायिकादि पांच प्रकार के चारित्र को पालन करना, ये सब मिलकर ६२ भाव–संवर के भेद (कारण) हैं।

"रुद्धे मणसंकप्पे इंदियवावारवज्जिए जीवे।
लद्धे सुद्धसहावे उभयस्स य संवरो होई ॥ ३२३ ॥ (भावसंग्रह)

अर्थ—जब शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों का होना नष्ट हो जाता है, और आत्मा इन्द्रियों द्वारा कोई प्रवृत्ति नहीं करता है तब शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है और शुभ अशुभ कर्मों का आना रुक कर पूर्ण संवर हो जाता है।

शङ्का —"सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" (अ० ६ सूत्र २)

मोक्षशास्त्र के इस सूत्र में पाँच व्रतों को छोड़कर संवर के ५७ कारण बतलाये गये हैं और यहाँ पर ६२ बतलाये हैं, यह क्यों?

समाधान—"प्रतिज्ञामात्रमितिचेन्न धर्माभ्यन्तरत्वात्" (अ० ७ सू० १ वा० ११)

तत्वार्थराजवार्तिक के इस वार्तिक के द्वारा संयम धर्म में जो (भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन, और वाक्य) आठ प्रकार की शुद्धियां बतलाई हैं उनमें ही पांचों व्रतों को अन्तर्हित करलिया गया है।

"न संवरो व्रतानि परिस्पन्ददर्शनात्" (७। १। १३ राज वा०)

इसके द्वारा कहा गया है कि असत्य तथा अदत्तादान का त्याग करने पर तथा सत्य वचन के कहने पर और दी हुई वस्तु के लेने रूप क्रियाओं में आत्म-प्रदेशों का हलन चलन देखा जाता है और यह आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन ही आस्रव का कारण है, इसलिये व्रतों से संवर न होकर शुभास्रव होता है।

द्रव्य-संग्रह की संस्कृत टीका में "निश्चयेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्"।

अर्थात् निश्चयनय से तो शुभ अशुभ रागादि रूप समस्त विकल्पों से रहित होना व्रत है और व्यवहार में निश्चय का साधक जो हिंसादि पांच पापों का त्याग है, वह व्रत कहलाता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि हिंसादि पांचों पापों का त्याग होने से अशुभ आस्रव का आना रुक जाता है इसलिये यह व्रत एक देश संवर का कारण है।

दोनों ग्रंथों का अभिप्राय यह है कि व्रतों से अशुभास्रव का निरोध होकर शुभास्रव होता है। इसलिये व्रत, आस्रव और संवर दोनों का ही कारण है। अतः दोनों आचार्यों के कथन में विवक्षा भेद है, सिद्धान्त एक ही है।

संवर के जितने कारण हैं, उन सबका वर्णन पूर्वार्द्ध में किया जा चुका है, इसलिये यहाँ पर नहीं किया है।

निर्जरा तत्व

जब संवर के द्वारा आस्रव निरोध हो जाता है अर्थात नवीन कर्मों का आना रुक जाता है, तब आत्मा को पहिले बांधे हुए कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराते हैं। अतः उन कर्मों से शीघ्र ही मुक्त होने के लिये (छुटकारापाने के लिये) उपाय किया जाता है। जैसे कि कोई कर्जदार पहिले नया कर्ज करना बन्द करके पिछले कर्ज के चुकाने की फिक्र करता है।

"पूर्वोपार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च" । (अ० ८ सू० २३ वा० १, २ राजवा०)

अर्थात् पहिले बांधे हुए कर्मों का छूटना निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। एक तो सविपाकजा और दूसरी अविपाकजा। इनमें औदयिक भाव से प्रेरा हुआ तथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ अशुभ कर्म अपनी बंधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय में आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म-प्रदेशों से जुदाई होती है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह द्रव्य रूप है। और यह सभी गतियों में अज्ञानी जीवों के भी होती है; परन्तु इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नहीं होता। क्योंकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय नया बंध जाता है।

भावार्थ—जैसे एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश निज पर को मन वचन काय से अनेक कष्ट दिये और अनेकों से वैर बांध लिया। ऐसी दशा में पहिला कर्म तो क्रोध को उत्पन्न करके दूर हो गया; परन्तु क्रोध-वश जो जो क्रियायें उस जीव ने कीं उनसे फिर अनेक प्रकार के नवीन कर्म बंध गये। अतः मोक्षार्थी के लिये सविपाक निर्जरा काम की नहीं है। जैसे आम्रादि कितने ही जाति के फल अपने वृक्ष पर तो जब पकने का काल आता है तभी पकते हैं; परन्तु लोग उन कच्चे फलों को ही वृक्ष से तोड़कर घासादि के पाल में रख कर उन्हें घास की गर्मी से जल्दी पकालेते हैं। उसी प्रकार जिन कर्मों का उदय काल नहीं आया उनको सम्यग्दर्शनादि की सामर्थ्य से तथा बारह प्रकार के तपश्चरणों के द्वारा अथवा बाईस परीषहों के जीतने आदि से कर्मों की उदीरणा करके (उदय में लाकर उनका फल भोगे बिना) उनसे छुटकारा पाजाना यह अविपाक निर्जरा कहलाती है। ध्यान रहे कि सराग सम्यग्दृष्टियों की निर्जरा तो अशुभ कर्मों की निर्जरा करती है और संसार स्थिति को कम करती है तथा परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराती है परन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि की निर्जरा शुभ और अशुभ दोनों ही कर्मों को निर्जीर्ण करके उसी भव में भी मोक्ष तक प्राप्त करा सकती है। इसलिये यह भी सिद्ध हो गया कि सम्यग्दर्शन के होते ही जीव सम्यग्ज्ञानी भी बन जाता है और वहीं से द्रव्य एवं भाव निर्जरा का प्रारंभ हो जाता है, जो

अगले गुणस्थानों में पूर्व गुणस्थानो से असंख्यात गुणी बढ़ती जाती है।

भावार्थ—काललब्धि आने पर सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् अंतरंग में समस्त पर द्रव्यों की इच्छा को रोकने रूप परिणामों का होना और बहिरंग में निजात्मानुभूति के साधक तपश्चरणादि का करना भावनिर्जरा है। और इस भाव निर्जरा के द्वारा आत्मा से कर्मों का अलग होना द्रव्यनिर्जरा है। यह निर्जरा संवर पूर्वक होती है वही अत्यन्त उपादेय है। इसलिये इसको संवर के पश्चात् स्थान दिया गया है। भाव निर्जरा के कारणों का भी सविस्तार वर्णन पूर्वार्द्ध किया जा चुका है, इससे यहां नहीं किया गया है।

मोक्ष तत्व

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणोहि परिणामो।

णेओ स भाव मुक्खो दव्वविमोक्खोय कम्मपुधभावो ॥ ३९ ॥ [द्रव्यसंग्रह]

अर्थ—आत्मा के जिन भावों से सब कर्मों का नाश होता है, वह भाव मोक्ष है और आत्मा के साथ जो कर्म बंधे हुए हैं उन कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना द्रव्य मोक्ष कहलाता है। "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" (तत्वा. सू. अ. १०।१)

जब ज्ञानी जीव के संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रुक जाता है, नवीन कर्म बंध के कारणों का नाश हो जाता है और जो कर्म पहिले बंधे हुए हैं उनका अविपाक निर्जरा द्वारा आत्मा से धीरे २ छुटकारा होता जाता है, तब आत्मा का सभी कर्मों से छुटकारा होजाता है और यही मोक्ष है। यदि यहां यह प्रश्न किया जाय कि जैनमत में अनादि काल से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध माना गया है। जिसकी आदि नहीं होती उसका अन्त भी नहीं होता। इसलिए आत्मा को कर्म बन्धन से छुटकारा कैसे मिल सकता है?तो इसका यह समाधान है कि-

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ ८।७ ॥ [तत्त्वार्थसार]

अर्थ—जैसे बीज से उगने वाले आम्रादि वृक्षों में पहिले बीज हुआ या वृक्ष ऐसा कोई निश्चय नहीं। क्योंकि बीज के बिना वृक्ष और वृक्ष के बिना बीज नहीं हो सकता। अतः बीज वृक्ष का सम्बन्ध अनादि से है तो भी यदि किसी वृक्ष का एक ही बीज बचा हुआ हो और उसे अग्नि से जला दिया जावे तो इस अनादि से आये हुए बीज का अन्त हो, जाता है। इसी प्रकार संसार परिभ्रमण का कारण कर्म

रूपी बीज भी ध्यान रूपी अग्नि से भस्म हो जाता है। जैसे बीज का नाश होने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के नष्ट होने पर फिर आत्मा का संसार में परिभ्रमण नहीं होता, वह मुक्त होकर जन्म मरण से रहित हो जाता है।

मोक्ष की प्राप्ति का क्रम

मोक्षार्थी जीव आत्म—ध्यान के बल से बारहवें गुण स्थान में मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीणकषाय का धारक होता है। फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन तीनों द्रव्य कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। फिर आयु आदि शेष ४ कर्मों का नाश नहीं हो तब तक शरीर में ही निवास करता है। जब यह चार कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तब असिद्धत्व के नाश होने से यह आत्मा सिद्ध बन जाता है। वहां यह आठ गुणों से विभूषित रहता है। यह आठ गुण आठ कर्मों के नष्ट होने से होते हैं। ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय के नष्ट होने से केवलदर्शन, वेदनीय के नष्ट होने से अव्याबाध सुख, मोहनीय के विनाश से परम सम्यक्त्व, आयु के नाश से अवगाहना, नाम कर्म के विनाश से सम्यक्त्व, गोत्र के नष्ट होजाने से अगुरुलघु और अन्तराय कर्म के नाश होने से अनन्त बल पैदा होता है।

सिद्ध अन्तिम शरीर से किंचित ऊन आकार वाले आत्म प्रदेशों के धारक हैं, परन्तु आयु कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व गुण की जो प्राप्त होगई है उसके कारण उनके आत्म प्रदेशों में संकोच विस्तार नहीं होता। भावार्थ यह है कि जैसे दीपक के प्रकाश का संकोच विस्तार किसी मकान आदि बाह्य निमित्त के मिलने से होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो आयु कर्म लगा हुआ था उसके कारण आत्मा में संकोच विस्तार होता था। अब उस आयु कर्म का अभाव होगया अतः सिद्धत्व को प्राप्त होने वाले जीव जिस आकार से स्थित होते हैं उसी आकार में अनन्त काल तक स्थिर रहते हैं।

सातावेदनीय कर्म के उदय से संसार में इन्द्रिय जनित सुख की प्राप्ति होती थी, परन्तु वह सुख अविनाशी न होने के कारण बाधा सहित था। इसलिये वेदनीय कर्म का नाश हो जाने से—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।

अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥ ४५ ॥ [तत्वार्थसार]

अर्थ—इस कथन के अनुसार सिद्ध सांसारिक विषयों से रहित अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त होते हैं। वह सुख अविनाशी एवं

चिन्ता रहित होने के कारण अव्याबाध कहलाता है। उसमें किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है।

शङ्का—शरीर रहित मुक्त जीव के सुख कैसा होता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि—

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥ ४७ ॥ [तत्वार्थसार अ. ८]

अर्थ—लोक में इन्द्रिय जनित विषयों के भोगने में, पीड़ा के अभाव में, पुण्य के उदय में और मोक्ष में इस प्रकार चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग किया जाता है (१) जैसे इन्द्रियों के विषयों में, ग्रीष्म ऋतु में हवा को सुख जनित,और शीत काल में अग्नि को सुख देने वाली मानी है। (२) तथा वेदना के अभाव में जैसे किसी को कोई रोग हो और वह रोग मिट जावे तब वह कहता है कि अब तो मैं सुखी हूँ। (३) पुण्य के विपाक से जो मनोवांछित इन्द्रिय जन्य विषयों की प्राप्ति होती है उसे भी सुख कहा जाता है। इसी प्रकार (४) क्लेश जनक कर्मों के नाश से भी मोक्ष में अत्युतम सुख की प्राप्ति होती है। कितने ही तो निद्रा में जैसा सुख होता है, वैसा सुख मोक्ष में मानते हैं। परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसकी मोक्ष के सुख के लिए उपमा दी जावे। अर्थात यह कहा जावे कि मोक्ष का सुख ऐसा है। इसलिये मोक्ष में निरुपम, अनन्त और अतीन्द्रिय जो सुख है वह वचनातीत है। उस सुख के भोक्ता मुक्त जीव ही उसका अनुभव करते हैं।

सिद्धों का ऊर्ध्व गमन कैसे होता है और वे लोकान्त में जाकर कैसे विराजमान हो जाते हैं, नय विभाग से सिद्धों के कितने भेद हैं-ये सब जीवतत्व और धर्मद्रव्य के वर्णन में बतलाया जा चुका है।

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता इस मोक्ष-प्राप्ति के लिये ही है और वह सम्यग्दर्शन जीवादि सात तत्वों के श्रद्धान से अर्थात् सात तत्वों का स्वरूप जानकर उनमें से हेय तत्वों को छोड़ने से तथा उपादेय तत्वों की प्राप्ति होने से होता है। अतएव यहां पर जीवादि सात तत्वों का संक्षेप से वर्णन किया है।

उक्त सात तत्वों में ही पुण्य और पाप को और मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। मोक्षशास्त्र में पुण्य और पाप को आस्रव तत्व में ही गर्भित कर लिया है। तथापि अन्य आचार्यों के अभिप्रायानुसार अब पुण्य व पाप पदार्थ का भी कुछ स्वरूप दिखलाया जाता है।

पुण्य और पाप पदार्थ

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्" [राजवार्तिक अ. ६ वार्तिक ३-४]

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करे, अथवा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं।

तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापं 'पाति रक्षत्यात्मानं शुभपरिणामात्' इति पापं [मो. अ. ६-३-५ वार्तिक]

उक्त पुण्य से जो प्रतिकूल है, अर्थात आत्मा को शुभ परिणामों से बचाने वाला (दूर करने वाला) उसे पाप कहते हैं।

कर्मों का आस्रव शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है।

"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" [६।३ तत्त्वार्थ सूत्र]

इस सूत्रानुसार जो शुभ योग है उससे तो पुण्य रूप कर्मों का आस्रव होता है, और जो अशुभ योग है उससे पाप कर्मों का आस्रव होता है। किसी जीव की हिंसा नहीं करना, बिना दी हुई वस्तु को न लेना, ब्रह्मचर्य-पालन करना इत्यादि कायजनित शुभ योग है। सत्य और हितकारी वचन कहना, और मित भाषण अर्थात् बिना प्रयोजन की बातें नहीं करके थोड़े शब्दों में वक्तव्य कह देना शुभ वचन योग है। श्री अर्हत्परमेष्ठी आदि की भक्ति करने में मन लगाना, तपश्चरण करने में प्रीति रखना, शास्त्र का विनय आदर भाव आदि करना, इत्यादि जो मन का व्यापार है वह शुभ मनोयोग है। मन वचन काय के उक्त शुभ व्यापारों से आत्मा को सुख देने वाले पुण्य कर्म का आस्रव और बन्ध होता है। ज्ञानावरणादि ८ कर्मों में से ज्ञानावरण,दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म तो घातियां हैं, अर्थात आत्म-स्वरूप को हानि पहुंचाने वाले हैं। अतः कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियों में से इन चारों कर्मों को जो ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, मोहनीय की २८ और अन्तराय की ५ इस प्रकार कुल मिलाकर ४७ प्रकृतियां हैं सो तो पाप रूप ही हैं। शेष चार अघातिया कर्मों की जो १०१ प्रकृतियां हैं उनमें से वेदनीय कम की २ प्रकृतियों में से १ सातावेदनीय, और गोत्र कर्म की दो में से १ उच्च गोत्र, आयु कर्म की ४ में से तिर्यंच, मनुष्य, और देवायु—ये ३ प्रकृतियां, नाम कर्म की ६३ प्रकृतियों में से पचेन्द्रिय-जाति, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देव-गत्यानुपूर्वी, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, शरीर ५, आंगोपांग ३, निर्माण, बंधन, संघात ५, अगुरुलघु, परघात, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध,

और ४ वर्ण ये नाम कर्म की ६३ कुल मिलाकर ६८ प्रकृतियां पुण्य रूप मानी गई हैं। अतः जिन २ कार्यों के करने से उक्त प्रकृतियों का आस्रव होता है उन २ रूप मन वचन काय से प्रवृत्ति करके पाप जनक अशुभ क्रियाओं से बचना चाहिये।

शङ्का—मोक्षार्थी जीव के लिए सात तत्वों के वर्णन में शुभ और अशुभ दोनों ही आस्रव हेय-त्यागने योग्य-बतलाये हैं फिर यहां नव पदार्थों के वर्णन में पुण्य उपादेय और पाप को हेय कैसे बतलाया है?

समाधान—जैसे पाप नरकादि गतियों में दुःख देने वाला है, उसी प्रकार पुण्य भी स्वर्गादि में सांसारिक सुख सामग्री का भोग कराने वाला होने से आत्माके मोक्ष में बाधक है। अर्थात् जैसे लोह की और सुवर्ण की दोनों बेड़ियां ही मनुष्य को बन्धन में डाल कर उसकी स्वतन्त्रता में बाधक होती हैं, उसी प्र ार पुण्य और पाप ये दोनों ही आत्मा को संसार में रखकर उसके मोक्ष में बाधक हैं। कहा भी है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥ [इष्टोपदेश]

अर्थात्—जैसे एक नगर से तीन पथिक किसी दूसरे ग्राम जानेके लिये निकले। उनमें से एक किसी आवश्यक कार्य से नगर में वापिस चला गया, और शेष दोनों साथियों को आने तक ठहरने के लिये कह गया। उन दोनों साथियों में से एक तो वृक्ष के नीचे छाया में सुख से बैठ कर, और दूसरा बिना छाया के सूर्य की धूप में खड़ा होकर उस नगर में आये हुए साथी की बाट देखने लगा। यहां पर एक तो छाया में बैठ रहा और दूसरा धूप में दुख से खड़ा रहा। इसी प्रकार जो जीव हिंसा आदि पाप करके उनके फल से नरकादि गतियों में दुःख भोगता है वह तो मोक्ष न होने तक संसार में दुःखी रहता है और जो जीव दया, परोपकार आदि शुभ काम करता है वह मोक्ष की प्राप्ति न होने तक स्वर्गादि गतियों में रहकर सुख से काल व्यतीत करता है। इस प्रकार श्री पूज्यपाद स्वामी के वचनानुसार जैसे उन पथिकों में भेद है, उसी प्रकार पुण्य पाप के कर्ता जीवों में भी बड़ी भारी अन्तर है। यद्यपि जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धानी (सम्यग्दृष्टि) हैं वे निज आत्मा को ही उपादेय समझ कर उसकी प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहते हैं; तथापि चारित्र मोह के उदय से शुद्धोपयोग की प्राप्ति में असमर्थ होकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय कषायों से बचने के लिये परमात्म स्वरूप श्री अर्हंत वा सिद्ध परमेष्ठियों की और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों की व उनके गुणों की स्तुति तथा उनको पूजा आदि करके परम भक्ति करता है। यह उसकी भक्ति मोक्ष प्राप्ति के निमित्त ही होती है। संसार सुख के लिये नहीं होती।

परन्तु किसान जैसे खेती करता है उसको खेती का मुख्य फल अन्न तो प्राप्त होता ही है परन्तु साथ में बिना चाहा चारा भी

उसे मिल जाता है, इसी प्रकार भव्य जीव बिना इच्छा के विशिष्ट (सातिशय) पुण्य बन्ध करके स्वर्ग में इन्द्रादि पद प्राप्त कर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर वहां भी तीर्थंकरादि के प्रत्यक्ष में दर्शन करके तथा उनके द्वारा धर्मोपदेश सुनकर अत्यन्त दृढ होकर, या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है, या अगले भव में मोक्ष जाता है। इसलिये पाप की अपेक्षा पुण्य का संचय करना ही आत्मा के लिये विशेष हितकारक है।

अथवा—जैसे एक ग्राम में दो मनुष्यों के लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है,उनमें से एक तो देशान्तर में चला गया। वहां उसे व्यापार आदि के ऐसे निमित्त मिले कि वह धनवान होगया; किन्तु दूसरा ग्राम में ही व्यापार करता रहा और विशेष निमित्त नहीं मिलने से थोड़े रुपये भी न कमा सका। इसी तरह जीवों के शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म सत्ता में रहते हैं। परन्तु जो जीव शुभ कर्मोदय से अच्छे साधन पा जाता है वह आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है। और अशुभ कर्मों के उदय से जिसको अच्छे साधन नहीं मिलते वह गिरता जाता है।

पुण्य पाप के उदय से यह जीव सुख दुख पाता रहता है। पुण्य के उदय से सांसारिक वैभव और पाप के उदय से रोग शोक दरिद्रता आदि को प्राप्त होता है। पर यह ऊपर लिखा हुआ सारा कथन व्यावहारिक है। निश्चय दृष्टि से तो पुण्य पाप दोनों ही पर हैं और आत्मस्वरूप प्राप्ति अथवा मोक्ष के बाधक हैं;फिर भी यह तो कहना ही होगा कि नीचे की अवस्था में पाप से पुण्य अच्छा है। यह विचार कर भव्य जीवों को जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं हो, तब तक शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग रूप पुण्य कर्मों में लगना चाहिये, और अशुभ प्रवृत्तियों से बचना चाहिये।

इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, सप्त तत्व, नव पदार्थ, षट्द्रव्य, और पंचास्तिकाय इन सब के स्वरूप में जो—

तत्वार्थाभिमुखीबुद्धिः श्रद्धासात्म्यं रुचिस्तथा।

प्रतीतिस्तु तथेतिस्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ३–५७ ॥ [लाटी संहिता:]

अर्थ—वस्तु स्वरूप का निश्चय करने के सम्मुख जो बुद्धि का होना है, वह तो श्रद्धा कहलाती है। निश्चित किये वस्तु स्वरूप में तन्मय हो जाना अर्थात् हृदय में धारण कर लेना रुचि है। और जो वस्तु स्वरूप का निश्चय किया गया है वह ऐसा ही है, इस प्रकार की दृढ बुद्धि है, उसको प्रतीति कहते हैं। इस प्रतीति द्वारा जिसके हेयोपादेय तत्व का दृढ़ विश्वास हो गया है उसके अनुकूल प्रवृत्ति करना ही क्रिया है। इस श्लोक के अनुसार श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, और क्रिया का होना है वह ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के बाह्य चिह्न

ऐसे सम्यग्दर्शन के धारक सम्यग्दृष्टि का बाह्य में कैसा आचरण होता है, जिससे कि उसमें सम्यक्त्व का सद्भाव माना जावे या कहा जावे, इसलिये बाह्य चिह्नों का कथन किया जाता है।

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा ।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥
संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणं ।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥ ६६ ॥ [अमितगति श्रावकाचार]

तात्पर्य—पूर्वोक्त सम्यक्त्व सराग-वीतराग भेद से दो प्रकार का है, इनमें से वीतराग सम्यक्त्व क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होता है। किसी भी पदार्थ में राग व द्वेष न करके माध्यस्थ्य भाव से निज शुद्ध आत्म-स्वरूप का अनुभव करना ही वीतराग सम्यक्त्व है। औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ये दोनों ही सराग (शुभ राग सहित) है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य ये इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है कि सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न उपाधि रहित-शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा की अनुभूति है। यह अनुभूति ज्ञान का विषय है, क्योंकि सम्यक्त्व होने पर इस अनुभूति का स्व सवेदन, आस्वादन एवं अनुभव ज्ञान द्वारा ही होता है। अर्थात् यह जीव विचारता है कि यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ। तथा जो विकार है सो कर्म जनित भाव हैं, मेरा रूप नहीं है। इस प्रकार भेद विज्ञान पूर्वक आत्मा का आस्वादन करना अनुभूति कहलाती है। यह शुद्ध नयका विषय स्वानुभवगोचर किन्तु वचन के अगोचर है। यही मुख्य सम्यक्त्व है। यह दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव अथवा अनुदय से उत्पन्न होता है, इसके होने पर सम्यग्दृष्टि के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य गुण प्रगट होते हैं। इन गुणों द्वारा बाह्य में ही सम्यक्त्व की प्रतीति हो सकती है। क्योंकि अन्तरङ्ग की परीक्षा तो स्वसंवेदन ज्ञान से होती है और बाह्य की परीक्षा मन वचन काय की चेष्टा एवं क्रिया द्वारा होती है। ये प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, गुण शुभ राग सहित हैं, अतः ये सराग सम्यक्त्वी के होते हैं। ये दशवें गुणस्थान तक मुनियों के भी होते हैं। यह (शुभ राग) सांपरायिक आस्रव का कारण है। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी के सर्वथा क्षय होने पर जो क्षायिक सम्यक्त्व होता है वह वीतराग सम्यक्त्व है। यह चौथे गुणस्थान से १४वें गुणस्थान तक होता है।

सराग सम्यक्त्व के प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य रूप जो बाह्य चिह्न हैं, इनमें से राग-द्वेष व क्रोधादि कषायों की तीव्रता लिये हुए परिणामों का नहीं होना सो प्रशम है। शारीरिक,मानसिक और आगन्तुक दुखों से भरे हुए संसार से भयभीत रहना एवं संसार को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान समझना संवेग कहलाता है। आत्मोत्थान के लिए यह संवेग बहुत आवश्यक है। इससे मनुष्य विपथ गामी नहीं होता।

कर्मों के वश से संसार में परिभ्रमण करने वाले दुःखी, दयनीय प्राणियों पर सदा करुणामय (दयारूप) भाव रखना अनुकम्पा है।

जीवादि सात तत्त्वों तथा पुण्य पाप और परलोकादि का स्वरूप जैसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है वैसा ही है, इस प्रकार श्रद्धान का रखना आस्तिक्य है। उक्त कथन सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक के आधार से किया गया है।

कितने ही आचार्य सम्यग्दृष्टि में निम्नोक्त ८ गुणों का होना आवश्यक बताते हैं जैसे कहा भी है—

संवेओ णिव्वेओ णिन्दा गर्हा उवसमो भत्ति।

वच्छल्लो अणुकम्पा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥ ४९ ॥ [वसुनन्दि कृत उपासकाध्ययन]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि में इस गाथा के अनुसार संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, और अनुकम्पा इन ८ गुणों का होना आवश्यक है।

अमितगति श्रावकाचार में भी इसी प्रकार कहा है।

(१) संवेग—राग द्वेषादि रहित सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और हिंसा रहित धर्म में अनुराग का होना।

(२) निर्वेद—संसार, शरीर व भोगों को दुःखदायी, निन्दनीय तथा विनाशवान समझकर उनसे वैराग्य उत्पन्न होना।

(३) निन्दा—स्त्री पुत्र मित्रादि परपदार्थ के निमित्त से जो अपनी राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति हो जावे उसके लिये अपने मन में स्वयं ही निन्दा करना।

(४) गर्हा—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग द्वेष क्रोधादि के वशीभूत होने के कारण जो अपने द्वारा अपराध हो गये

हों उनकी पंचाचार पालन कराने वाले गुरुओं के सामने भक्ति पूर्वक आलोचना करना।

(५) उपशाम—राग द्वेष क्रोध लोभ आदि से होने वाले प्रपंचों का अन्तरङ्ग में ठहरने न देना।

(६) भक्ति—श्री जिनेन्द्रदेव व निर्ग्रन्थ गुरु आदि के प्रति निष्कपट होकर उनकी पूजा, स्तुति, नति आदि करना।

(७) वात्सल्य—रत्नत्रय व जैनधर्म के धारकों का धार्मिक अनुराग से प्रासुक औषधि आदि द्वारा वैय्यावृत्य करना अथवा उनमें निष्कपट प्रेम रखना।

(८) कारुण्य—संसार में परिभ्रमण करने वाले दुःखी, दरिद्र एवं अशक्त जीवों के प्रति दया भाव का रखना, अर्थात् उन्हें दुःखों से बचाने की भावना रखना।

इन आठों गुणों के पालन करने में प्रयत्नशील रहने से सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व रूप परिणामों की वृद्धि होती रहती है। अतः सराग सम्यक्त्व के धारकों को इनका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

सम्यक्त्व के ८ अंगों का वर्णन

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ २०१ ॥ [पंचाचाराधिकार]

अर्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सिता, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं। इन आठों के धारण करने से सम्यक्त्व परिपूर्ण कहलाता है।

अब क्रम से प्रत्येक का लक्षण आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के अनुसार कहते हैं।

(१) निःशंकित अंग

इदमेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकंपायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशयारुचिः ॥ ११ ॥

अर्थ—वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, इस प्रकार ही है अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है इत्यादि रूप से तलवार की धार के पानी के समान अचल एवं अटल दृढ़ श्रद्धान करना निःशंकित अंग है ।

(२) निःकांचित अंग

कर्मपरवशेसान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजेसुखेऽनास्था श्रद्धानाकांचणा स्मृता ॥ १२ ॥

अर्थ—भावार्थ जो कर्म के आधीन हैं, अन्तकर सहित हैं, जिसका उदय दुःखों से भरा हुआ है, और जो आगामी पापों का बीज है, ऐसे चार महा दोषों से भरे हुए सांसारिक सुख में अनित्यता रूप श्रद्धान करना, अर्थात् क्षणिक सांसारिक सुख की जरा भी इच्छा नहीं करना निःकांचित अंग है ।

(३) निर्विचिकित्सित अंग

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ १३ ॥

अथ—मल मूत्र रुधिर मांसादि से भरा हुआ भी जो मुनि आदि का शरीर रत्नत्रय को धारण करने से पवित्र हो गया है, उससे घृणा न करके रोगादि की अवस्था में उन रत्नत्रय के पात्रों की प्रत्येक प्रकार से सेवा टहल चाकरी आदि करना निर्विचिकित्सित अंग कहलाता है ।

(४) अमूढ़दृष्टि अंग

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः ।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—दुःखों के कारण स्वरूप कुमार्ग की एवं कुमार्गगामी की मन, वचन और काय से प्रशंसा एवं स्तुति न करना और उनसे सम्पर्क भी न रखना अमूढदृष्टि ंग कहलाता है ।

(५) उपगूहन अङ्ग

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।

वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वयं शुद्ध श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट-जैनमार्ग की अज्ञानी और सामर्थ्यहीन लोगों के कारण से उत्पन्न हुई निन्दा को जैसे हो वैसे दूर करना उपगूहन अंग कहलाता है।

इस अंग का नाम किन्हीं आचार्यों ने उपबृंहण (धर्म को बढ़ाने वाला) भी बतलाया है। इसलिए आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में दोनों नामों का उल्लेख कर उनका अर्थ किया है :—

क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च ।

तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥

सवित्रीवतनूजानामपराधं सधर्मसु ।

दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसम्पदा ॥

अर्थ—क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दान से जैन धर्म व जैन सिद्धान्त की उन्नति को करना। उपबृंहण अंग है। जैसे माता अपने पुत्रों के दोषों को छिपाती है उसी तरह सधर्मियों के दोषों को छिपाना अर्थात् किसी सधर्मी से प्रमादवश कोई अपराध होगया हो, तो उसको सर्व साधारण में प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग कहलाता है।

(६) स्थितिकरण अंग

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥ १६ ॥ [रत्नकरंड]

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से गिर रहे हों उनको धर्म वत्सल-धर्मात्माओं का कर्तव्य है कि न गिरने दें। क्योंकि गिरते हुए को उठाना ही धर्मात्मा का कर्तव्य है।

(७) वात्सल्य अङ्ग

स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—अपने सधर्मी भाइयों के प्रति समीचीन भावों से छल कपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना वात्सल्य अंग है। उनसे निःस्वार्थ निष्कपट प्रेम रखना ही धार्मिक वत्सलता है।

अमितगति श्रावकाचार में भी कहा है—

करोति संघे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः।
चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥ ७६ ॥ [अध्याय ३]

अर्थ—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार के संघ में समुदाय रूप से व किसी एक को किसी भी प्रकार का उपसर्ग व कष्ट आगया हो या आरहा हो, तो अपने सांसारिक स्वार्थ की वांछा न रखकर केवल धर्मबुद्धि से तन, मन और धन के द्वारा यथाशक्ति उस सङ्कट को दूर करना व कराना वात्सल्य अङ्ग है।

भावार्थ—जैसे गाय अपने बछड़े पर निःस्वार्थ स्वाभाविक प्रीति रखती हुई रक्षा करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को उचित है कि वह धर्मात्माओं के प्रति उसी तरह का अनुराग रखकर उनको जैसे भी बने सङ्कट से बचावे। कहा भी है—

"उपेक्षायां तु जायेत तत्वात् दूरतरोनरः।
ततस्तस्य भवोदीर्घः विरुद्धसमयोऽपि च ॥"

अर्थ—जो सुदृष्टि धर्मात्माओं के सङ्कट मिटाने में उपेक्षा करता है अर्थात् ध्यान नहीं देता है वह सम्यक्त्व की अपूर्णता से दीर्घ संसारी होता है। उसका ऐसा करना सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

(८) प्रभावना अङ्ग

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासनमाहात्म्यः प्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥ १८ ॥ [रत्नकरंड.]

अर्थ—अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह को हटा कर ठीक २ जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है ।

भावार्थ—संसार में चारों तरफ अज्ञानान्धकार फैला हुआ है । लोग यह नहीं जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौनसा है । वे वस्तु के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्वों के स्वरूप को समझा कर मिथ्या अन्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची प्रभावना है ।

और भी प्रभावना का वर्णन करते हैं ।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्चजिनधर्मः ॥ ३० ॥ [पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय]

अर्थ—रत्नत्रय के प्रकाश से निज आत्मा को सदा प्रभावान्वित करते रहना अभ्यंतर प्रभावना है और दानातिशय, तपोतिशय, जिनपूजातिशय तथा विद्यातिशय के द्वारा जगत में जैनधर्म की प्रभावना करना बाह्य प्रभावना है । ये दोनों ही प्रभावना अंग हैं । इन आठों अंगों में क्रमशः अंजन चोर, अनन्तमती, उद्दयन, रेवती रानी, जिनेन्द्र भक्त सेठ, वारिषेण, विष्णु कुमार और वज्रकुमार ये प्रसिद्ध हुए हैं । इनकी कथायें पुराणों में मौजूद हैं ।

नाङ्गहीनं मलं छेत्तु दर्शनं जन्मसंततिम् ।

न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूना निहन्ति विषवेदनाम् ॥ २१ ॥ [रत्न करण्ड.]

अर्थ—जैसे अक्षर रहित मन्त्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंग रहित सम्यग्दर्शन भी संसार की संतति को छेदने में समर्थ नहीं हो सकता । इसलिए ऊपर कहे हुए आठों अंगों को भले प्रकार पालन करना चाहिये ।

इन आठों अंगों का जो स्वरूप बतलाया गया है, उससे विपरीत प्रवृत्ति करने से सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले शंकादिक आठ दोष होते हैं उनका वर्णन २५ दोषों में किया जावेगा।

आगे और भी सम्यग्दृष्टि की पहिचान बतलाते हैं।

वच्छल्लं विणएण अणुकम्पाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य॥ १०॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण॥ ११॥ [चारित्रप्राभृत कुन्दकुन्दस्वामी]

अर्थ—उक्त गाथाओं द्वारा यह दिखलाया है, कि सम्यक्त्व के परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म हैं। फिर भी उन्हें धारण करने वाले महापुरुषों को निम्नलिखित गुणों से पहिचाना जा सकता है।

धर्मात्मा मनुष्यों के साथ स्नेह रखना रूप वात्सल्य, धर्मगुरुओं के आते ही उठकर उनके सम्मुख जाना, हाथ जोड़ना, चरणों में नमस्कार करना आदि रूप विनय, दुखित जन को देख कर उस पर करुणा भाव रूप अनुकम्पा, उत्तम दान देने की उत्सुकता के साथ अर्थात् कोई भूख आदि से पीड़ित हो तो उसकी परीक्षा करके उसको क्या और कितना कैसे देना चाहिये-ऐसे विवेक सहित दान देना, श्री जिनेन्द्र के कहे हुए मोक्ष मार्ग की प्रशंसा करने रूप मार्गगुणशंसा, मूर्ख व अशक्त पुरुष द्वारा हुए दोष को छिपाने रूप उपगूहन, धर्म से चिगते हुए को ठहराने रूप स्थितिकरण, और परिणामो की सरलता रूप आर्जव, इन आठों गुणों द्वारा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्दृष्टि की पहिचान हो सकती है।

अब व्यवहार सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व में जो दोष लगते हैं, उनका कथन करते हैं, क्योंकि दोषों के जाने बिना इनका त्याग नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व के २५ दोषों का वर्णन

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥ [यशस्तिलकचम्पू पृ. ३२४]

अर्थ—शङ्कादिक ८ दोष, ८ मद, ३ मूढता और ६ अनायतन इस प्रकार सम्यक्त्व के २५ दोष होते हैं।

शंकादि ८ दोष

प्रथम ही ८ शङ्कादिक दोषों को बतलाते हैं।

(१) शङ्का—चलित प्रतिपत्ति रूप अनिश्चित अनेक कोट्यात्मक ज्ञान संशय कहलाता है; जैसे यह सांप है या रस्सी, सीप है या चांदी, तत्व अनेकान्तात्मक है या एकान्तात्मक, जीव का लक्षण चेतना है या नहीं, जिनोक्ततत्त्व सत्य है या मिथ्या, आदि। तत्वों के विषय में ऐसी शङ्का दर्शन मोहनीय सहित ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है।

(२) कांक्षा—मैं जैन धर्म के प्रसाद से व सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से देव, यक्ष व राजा होजाऊँ ? इस प्रकार पराधीन, विनश्वर और संताप तथा तृष्णा को बढ़ाने वाले संसार सुख की वांछा करना कांक्षा दोष है।

(३) विचिकित्सा—रत्नत्रय से पवित्र मुनियों, व्रतियों एवं त्यागियों के मलिन शरीर से घृणा करना, अथवा कोई धर्मात्मा रोगादि से अशक्त हो जाय तो उसके वमन व मल मूत्रादि उठाने में घृणा करना विचिकित्सा है।

जुगुप्सा (ग्लानि) करना भी एक कषाय का भेद है। अतः वस्तु स्वरूप का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मल मूत्रादि से तो घृणा नहीं करे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर मल मूत्रादि का स्पर्श कर उनसे उत्पन्न हुई अपवित्रता को मिटाने के लिये अपने पदानुसार स्नानादि अवश्य करे; क्योंकि मुनियों को भी इसलिये कमण्डलु रखना पड़ता है।

(४) मूढ़दृष्टि—मूढता, परम्परा का मोह और अज्ञानवश कुदेव व कुगुरुओं की सेवा पूजा करना, कुशास्त्रों को सुनना आदि ऐसे कार्य करना जिनसे धर्म पर से श्रद्धान हट कर सम्यक्त्व में शिथिलता पैदा हो वह मूढ़दृष्टि है।

(५) अनुपगूहन—अशक्तता, अज्ञान व प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से अथवा अन्य सहधर्मी से उसके पद के विरुद्ध कोई दोष बन पड़ा हो तो उसे सर्व साधारण में प्रकट करके धर्म व समाज की हंसी कराना, तथा निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छृंखल बना देना, अनुपगूहन है।

(६) अस्थितिकरण—धर्मात्मा पुरुषों की हंसी मजाक व निन्दा करना, उनको धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करना, और उनकी धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता कराना, अर्थात् धार्मिकों को जैसे तैसे धर्म से डिगा देना, या धर्म साधन में शिथिल कर देना, अस्थिति-

करण अंग है।

(७) अवात्सल्य—धर्मस्थान तथा धर्मात्माओं से द्वेष रखना, उनके दोषों को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना, और उनके दुःख में सहायक न होना अवात्सल्य है।

(८) अप्रभावना—कोई पुरुष धर्म प्रभावना का कार्य करना चाहता हो या कहीं पर धर्म कार्य होता हो तो उसको नहीं होने देना। जैसे विद्यालय, औषधालय, साहित्य-समिति, ग्रंथमाला, मंदिर-निर्माण आदि लोकोपयोगी कार्यों में सहायता नहीं देना, वितण्डावाद खड़ा करना, स्वयं रोक देना या अन्य से रुकवा देना। तात्पर्य यह है कि जिन कार्यों से धर्म प्रभावना होती हो उनको नहीं होने देना, या जिससे धर्म को लांछन लगे ऐसा कर बैठना।

ये आठ दोष हैं। इनसे व्यवहार सम्यक्त्वी को बचना चाहिये। ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं। इनसे बचने पर ही सम्यग्दर्शन के निःशङ्कितादिक आठ अङ्ग पलते हैं।

अष्ट मद

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोऽर्चनाभिः ॥

स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा कुर्वन् प्रधर्षं प्रदुनोति दृष्टिम् ॥ ८७ ॥ [अनागार धर्मामृत अ. २]

अर्थ—जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव-जाति, कुल, रूप, संपदा, बुद्धि, बल, तप और पूजा इन आठों का घमंड करता है अर्थात् इनके द्वारा अपने को तो ऊंचा चढ़ाना चाहता है, और दूसरे सधर्मी पुरुषों को नीचे गिराना चाहता है, वह सम्यक्त्व की महिमा को घटाता है। अर्थात् सम्यक्त्व को मलिन करता है।

इन मदों का क्रमशः स्वरूप यह है :—

(१) जातिमद—मातृ पक्ष को जाति कहते हैं। मेरे नाना मामा आदि राजा हैं, सेठ हैं, लोक-मान्य हैं, इत्यादि घमण्ड करना जातिमद कहलाता है।

(२) कुलमद—अपना जन्म उच्च कुल, राजा, सेठ एवं लोक-मान्य वंश में हो तो उसका बखान करना, इससे अपने आपको

बड़ा मानना एवं इसी दृष्टि से अपने बाप दादाओं की प्रशंसा करना कुलमद कहलाता है।

(३) रूपमद—अपने रूप तथा सौंदर्य का मद करना रूपमद है।

(४) धनमद—अपने वैभव, संपत्ति एवं धनादिक ऐश्वर्य का घमण्ड करना धनमद है।

(५) विद्यामद–मैं सर्व मान्य व सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता विद्वान हूँ, और मेरे ऐसे २ शिष्य हैं, मैं ऐसी शिल्पकलाओं एवं विद्याओं का ज्ञाता हूँ, मेरे बराबर कोई नहीं है–ऐसा कहना विद्यामद है।

(६) बलमद—अपने शारीरिक बल का अभिमान करना, अपनी युद्धशक्ति के उत्कर्ष से यह खयाल करना कि मैं किसी को क्या समझता हूँ और निर्बलों को सताना, बलमद है।

(७) तपोमद—व्रत उपवासादि करने पर भी खेदित न होने को या उग्र तप करने आदि को कथन कर यह दिखलाना कि मेरे समान कोई तपस्वी नहीं है, तपोमद है।

(८) पूजामद—मैं जहां जाता हूँ वहीं आदर पाता हूँ और सब मेरी आज्ञा मानते हैं, इत्यादि कहकर अपना बड़प्पन दिखलाना पूजामद है।

ये आठों ही मद परित्याज्य हैं, विवेकी पुरुषों को नहीं करने चाहिये।

षट् अनायतन

कुदेवलिङ्गशास्त्राणां तच्छ्रितां च भयादितः।

षण्णां समाश्रयो यत्स्यात् तान्यनायतनानि षट् ॥ ४४ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ. २]

अर्थ—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेवसेवक, कुगुरुभक्त, और कुशास्त्रों को मानने वाला, ये छह अनायतन हैं, अर्थात् ये आत्म-हित के लिये उपयोगी स्थान नहीं हैं। अतः भय लोभ आदि से इनकी सेवा प्रशंसा सत्कारादि करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

षट प्राभृत की टीका में इनके घर जाना अर्थात् कुदेवों के मंदिर में कुगुरुओं के मठोंमें तथा कुशास्त्र भवनों में (कुपुस्तकालयों)

में जाने या धार्मिक बुद्धि से इनके मानने वालों के घर जाना भी मना किया है।

प्रायः देखा जाता है कि जो जैन केवल उत्सवादि देखने के लिये कुदेवादिकों के स्थानों में जाते हैं, वे भी बड़े भारी सङ्कोच में फस जाते हैं। और वह यह है कि यदि वहां जाकर कुदेवादिकों का विनय न किया जावे तो उनकी भक्त जनता बुरा समझती है। और विनय करते हैं, तो सम्यक्त्व में दोष लगता है। दूसरे ऐसे स्थानों में जाने से भोले जीवों के श्रद्धान बिगड़ने की संभावना रहती है। अतः जहां तक हो वहां तक ऐसे स्थानों में गमनागमन से बचते ही रहना चाहिये।

कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्रों का स्वरूप पहले दिखलाया जाचुका, अतः यहां पर नहीं लिखा गया।

तीन मूढ़ताएँ

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥ ११७ ॥ [लाटी संहिता अ. ४]

अर्थ—हेयोपादेय का विचार किये बिना लोगों की देखा देखी करने लगजाना मूढता कहलाती है। अतः जो देव नहीं है उसमें देव पने की, जो अधर्म है उसमें धर्म की और अगुरु मे गुरुपने की जो बुद्धि का करना है वह क्रम से देवमूढता, लोकमूढ़ता और गुरुमूढ़ता कहलाती है।

आगे प्रत्येक का विशद स्वरूप दिखलाते हैं।

(१) देवमूढ़ता

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसः ।
देवतायदुपासीत देवतामूढ़मुच्यते ॥ २२ ॥ [रत्नकांड]

पुत्र की, धन की व निरोगता आदि की प्राप्ति के लिये रागद्वेषादिक के धारक देवी देवताओं की सेवा करना, उनका कहना करना, अथवा कोई मनुष्य ठग पने से, झूंठ मूंठ ही घूम घाम कर कहता फिरे कि मैं तो अमुक देवता हूं, मेरी सवामणी करो, अमुक २ चीजें मेरी भेंट करो-तुम्हारा काम सिद्ध होगा, इस तरह उसकी आज्ञा का पालन करना, बोलारी बोलना आदि देवमूढ़ता कहलाती है।

विचारने की बात है कि पहिले तो धन सुख संतान आदि की प्राप्ति अपने कर्मानुसार है। दूसरे जब देव में ऐसा सामर्थ्य है तो उसको सवामणी कराने व सेवा पूजा को सामग्री आदि मांगने की क्या आवश्यकता है ? अतः देव मूढ़ता के ऐसे प्रपञ्चों में न पड़ कर श्री जिनेन्द्र देव की ही भक्ति करनी चाहिये। क्योंकि जिससे बिना मांगे ही सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो सकती है।

(२) लोक मूढ़ता

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥ [रत्नकांड]

लोगों को देखा देखी धर्म समझ कर गङ्गा, यमुना, पुष्कर, समुद्रादि में स्नान करना तथा ग्रहण में स्नान व दान करना; श्राद्ध करना; बड़, पीपल, तुलसी, खेजड़ा आदि वृक्षों को पूजना; गाय की पूंछ को नमस्कार करना;गो मूत्र पीना; हाथी, घोड़ा, बैल, तलवार, बन्दूक, दवात, कलम, घर की देहली, रोड़ी, गणगोर, होली आदि को पूजना; दिवाली के दिन लक्ष्मी पूजा करना आदि सब लोकमूढ़ता है। याद रहे कि तुलसी आदि वनस्पति और गो आदि पशु स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी हैं अतः इस दृष्टि से इनका उपयोग करना हितकर ही है।

यदि इन कार्यों के करने से ही धर्म, धन, व सुख की प्राप्ति होती है तो फिर पूजा, भजन,तप, दया, दान,परोपकार, आदि अन्य धर्म के कार्यों का करना व्यर्थ ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त जैन समाज में आजकल कितने ही लोग केशरियाजी, महावीरजी व पद्मपुरीजी आदि पर भी अपनी २ मनोकामना लेकर जाते हैं, और भगवान से जाकर कहते हैं, कि हे महाराज ? मेरे पुत्र हो जावेगा तो मैं छत्र चढ़ाउंगा, लाभ हो जायेगा तो चौथाई द्रव्य आपके भंडार में दे दूंगा इत्यादि।

विचारना चाहिये कि क्या वीतराग भगवान् इन बातों के भूखे हैं जो उनको रिश्वत देकर अपना कार्य करना चाहते हो ? ये सब अज्ञानता से आप करते हो। ऐसी मूढ़ता की बातों से धर्म को, निज आत्मा को व सम्यग्दर्शन को कलङ्क लगता है। यह करना जैनागम विरुद्ध है। यह तो एक प्रकार का सौदा हुआ, भूल कर भी ऐसा नहीं करना चाहिए। इससे मनुष्य की श्रद्धा नष्ट हो जाती है। इसलिए सवामणी-मनौती आदि पाखण्ड किसी भी तरह उचित नहीं है।

(३) गुरु मूढ़ता

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।

पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥ [रत्नकरंड श्रा.]

जो आरम्भ परिग्रह के धारक, विषयासक्त, संसार चक्र में भ्रमण करने वाले पाखंडी, वेशधारी, मायाचारी, लोभी, क्रोधी, कामी होकर भी अपने को गुरु कहलवाते हैं, वे वास्तव में कुगुरु हैं। ऐसों को गुरु समझ कर भोजन कराना व उनका आदर-सत्कार-प्रशंसा आदि करना गुरुमूढ़ता है।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

शङ्काकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ २३ ॥ [मोक्षशास्त्र अ. ७]

अर्थ—श्री उमास्वामी ने शङ्का १ आकांक्षा २ विचिकित्सा ३ अन्यदृष्टि प्रशंसा ४ और अन्यदृष्टि संस्तव ५ ये सम्यक्त्व के पांच अतिचार बतलाये हैं, इनको सर्वथा त्यागना चाहिये।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मुनि या श्रावक दोनों में से किसी के भी कभी शंकादिक की उत्पत्ति हो जावे तो उससे सम्यग्दर्शन का अपवाद होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन में दोष लगता है। यदि यहां पर यह शङ्का की जावे कि सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि ८ गुणों के विरुद्ध शंकादि ८ दोष रूप ८ अतीचार होने चाहिये, उनमें से यहां शंका आकांक्षा और विचिकित्सा इन तीनों को ही क्यों लिया ? तो इसका समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान चारित्र आदि को अपने मन में उत्तम समझना तो अन्यदृष्टि प्रशंसा है, और उस मिथ्यादृष्टि के विद्यमान व अविद्यमान गुणों की अपने वचनों से स्तुति करना संस्तव है। इन दोनों में ही मूढदृष्टि आदि दोष पंचक गर्भित हो जाते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा व स्तुति करेगा तो सबसे पहिले मूढ मति (हेयोपादेय विचार रहित) बनेगा, ऐसी दशा में न तो वह किसी धर्मात्मा के प्रमाद व अज्ञानादि से लगे हुए दोषों का उपगूहन कर सकेगा, और न किसी धर्म व प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होते हुए का स्थितिकरण कर सकेगा। फिर रत्नत्रय के पात्रों व सधर्मियों के साथ सच्चा अनुराग रखने रूप व जैन धर्म और जैन-सङ्घ का महत्व बढ़ाने रूप प्रभावना ये दो गुण तो उसमें हो ही नहीं सकते हैं।

उक्त पांचों अतिचारों में से शङ्का, आकांक्षा, विचिकित्सा का स्वरूप ८ दोषों में कह दिया है और प्रशंसा तथा संस्तव का स्वरूप भ ऊपर बताया जा चुका है।

अब जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने शङ्का के विषय में कहा है उसे बताते हैं।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयं विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दुणिस्संका ॥ २२ ॥ [समयसार]

अर्थ –सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्क होते हैं अतः निर्भय रहते हैं। एवं सप्त भय से रहित होने के कारण कदाचित भी सम्यग्दर्शन से किसी के डिगाने से नहीं डिगते।

सात भयों के नाम कविवर बनारसीदासजी ने इस प्रकार गिनाये हैं।

इस भव भय परलोक भय मरण वेदना जास।
अनरक्षा अनगुप्तिभय अकस्मात् भय सात ॥ ४८ ॥ [नाटक समयसार]

सम्यग्दृष्टि इन सात भयों से रहित होता है। वह निर्भय होकर जगत में विचरण करता है। मिथ्यादृष्टि इन सातों भयों से सदा आक्रान्त रहता है। उसकी आकुलता कभी नष्ट नहीं होती। वह इस लोक परलोक आदि की चिन्ता से सदा चिंतित रहता है। इन सात भयों का संक्षिप्त स्वरूप यह है :—

(१) इहलोकभय—इस भव में मेरे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग न हो, मैं सदा धनवान बना रहूं, कभी दरिद्री नहीं होऊँ, इत्यादि चिन्ताओं से ग्रसित रहना, अथवा यदि मेरा वैभव नष्ट हो जावेगा तो मैं कैसे जीऊंगा इत्यादि विचारों का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता, क्योंकि वह वस्तु रूप का ज्ञाता होने से–शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, उससे मेरे आत्मा की कोई भी हानि नहीं ऐसा–दृढ़ श्रद्धान रखता है।

(२) परलोकभय—मिथ्यादृष्टि ही कर्म जनित दुःखों से घबराता है, सम्यग्दृष्टि तो सांसारिक सुख दुःखों में राग द्वेष करने से अपना अहित समझ ऐसा भय नहीं रखता कि–मेरा परलोक में क्या हाल होगा, मैं कहां जाकर जन्म लूंगा और किस प्रकार के सुख दुःख

भोगने पड़ेंगे, न मालूम मुझे कैसे सम्बन्धी किस रूप से मिलेंगे। यही परलोक भय है।

(३) वेदनाभय—शरीर में वात पित्तादिक के प्रकोप से ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति का होना वेदना कहलाती है। रोग होने के पहिले से ही ऐसी चिन्ता करना कि मैं बीमार न होजाऊँ, या बीमार होने पर यह चिन्ता करना कि मैं कब निरोग हूंगा? इत्यादि वेदना भय कहलाता है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक होने से मैं तो निज स्वरूप वेदना का ही अनुभव करने वाला हूँ। अतः परकर्म जनित रोगादि से मैं क्यों घबराऊं। रोग तो शरीर में होता है किन्तु शरीर मेरा कहां है? वह तो पर है, जड़ है। मैं तो चेतन स्वरूप हूं रोगादिक तो मेरे स्वरूप से भिन्न ही हैं, अतःउनका विचार क्यों करूं? मैं तो सच्चिदानन्द रूप हूँ। ऐसा विचार कर वेदनाभय को जीतता है।

(४) मरणभय—जिसका जन्म हुआ है उसका मरण अवश्यंभावी है, तो भी मरण का नाम लेने से ही मिथ्यादृष्टि जीव डरते हैं न कि सम्यग्दृष्टि। यह शरीर जीर्ण एवं शीर्ण वस्त्र के समान है, जीव इसको बदल कर दूसरे शरीर में जाता है, इससे आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता, और संसार में प्राणों के नाश का ही नाम मरण है। और मेरे तो एक चेतना ही प्राण है, उसका कभी विनाश नहीं होता फिर मैं मरणभय क्यों करूं? ऐसा विचारवान सम्यग्दृष्टि जीव ही इस भय पर विजय प्राप्त करता है।

(५) अरक्षाभय—मिथ्यादृष्टि सोचता है कि मेरा कोई रक्षक नहीं है। हाय मुझे कोई दुःख से बचाने वाला नहीं है। मैं किसके शरण जाऊं? परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि पदार्थ की सत्ता का कभी नाश नहीं होता, अतः किसी के द्वारा मेरे शरीर की रक्षा न होने पर भी निज आत्मा का नाश नहीं होता, फिर हाय मेरी रक्षा करने वाला नहीं है ऐसा भय क्यो करूं? शरीर का नाश होना तो अवश्यंभावी है। उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। यह विचार कर वह इस भय से विजय प्राप्त करता है।

(६) अगुप्तिभय—जिस भूमिपति (राजा) आदि के पास दृढ किला आदि न हो तो वह डरता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है कि मेरे कोट; किला, खाई आदि नहीं हैं, तो इससे मेरी कोई भी हानि नहीं। क्योंकि मैं सत् स्वरूप, आदि अन्त रहित, चैतन्य रूप हूँ और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित होने से संसारी जीवों की दृष्टि में नहीं दृष्टि गत होने वाला हूँ। मुझे तो केवल ज्ञानी ही देख सकते हैं। फिर मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ कि मेरा कभी भी नाश नहीं हो सकता। मैं अगुप्ति का भय क्यों करू? यदि भय करूंगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे अन्तर ही क्या रहेगा? ऐसा भय करने से तो सम्यक्त्व को दूषण लगता है। अतः अगुप्ति भय करना मुझ को अयोग्य है। मुझे मेरा स्वरूप समझना चाहिए। मेरे स्वरूप की गुप्ति तो स्वय ही हो रही है इसके लिए डरने की जरूरत नहीं है। ऐसे विचार से इस भय को जीतना चाहिये।

(७) अकस्मात्भय—आकस्मिक घटनाओं से डरना, उनका खयाल कर भयभीत रहना। जैसे बिजली गिरने भूकम्प होने

अग्नि लगने, बाढ आने आदि से डरते रहना। सम्यग्दृष्टि ऐसे भयों के विषय में विचारता है कि ये मेरा क्या कर सकते हैं ? क्योंकि सिद्धान्त मे ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का अन्य कोई वस्तु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। सम्पूर्ण द्रव्य अपने २ गुण पर्यायों में स्वतन्त्र रूप से बने रहते हैं। फिर अकस्मात्-भय आकर मेरा क्या बिगाड़ कर सकता है। श्री जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में जो कुछ भी झलका है उसको मेटने के लिये इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि का भी सामर्थ्य नहीं है। फिर अन्य सामान्य मनुष्य की तो क्या बात है ? इसलिए आकस्मिक-भय से कभी चलायमान नहीं होना चाहिए। आचार्यों ने सिद्धान्त मे कहा है कि तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुयें मिलकर सम्यग्दृष्टि को चलायमान करें तब भी वह अपने दृढ श्रद्धान से चलायमान नहीं हो सकता। फिर मैं कैसे डर सकता हूं, इस तरह डरना मेरा कर्तव्य नहीं है। वीतराग निर्ग्रन्थ श्री जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग महान् उत्कृष्ट है। सो उसके उपासक को कभी डरना नहीं चाहिए। यह भी मैं जानता हूँ कि संसार में कोई भी वस्तु पर्याय रूप से स्थिर नहीं, सबकी मर्यादा है, तो इस उपसर्ग की भी तो मर्यादा है, इसलिये समय पूर्ण होने पर यह भी दूर हो जायगा। अगर यह मनुष्य पर्याय भी इसी उपसर्ग से जानी होगी तो अवश्य जायगी, किसी के रोकने से रुक नहीं सकती। अतः इस अकस्मात् भय से डरना उचित नहीं है। इस प्रकार आकस्मिक भय से नहीं डरने वाला विचारता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के विषय में कहा है :—

वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।

वीभच्छजुगुच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥ ६४६ ॥ [गोमटसार]

अर्थ—श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले, भूत पिशाच या सिंह व्याघ्रादि के रूपों से, अथवा घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थों के देखने से, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चलायमान नहीं होता है। यदि तीन लोक के जीव भी उपस्थित होकर उसके सम्यक्त्व को बिगाड़ना चाहें तो भी वह चलायमान नहीं होता है। ऐसा इसका दृढ़ श्रद्धान प्रशंसनीय है।

यहां प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ के भी हो जाती है। तो क्या वह गृहस्थ शरीर में वेदना (रोग) होने पर उसको दूर करने के लिये औषधि का सेवन नहीं करे ? यदि कोई शत्रु उसे मारना चाहे तो उससे बचने का उपाय न करे ? किसी जगह प्लेग हैजा आदि संक्रामक रोग फैल रहे हों तो उन स्थानों को नहीं छोड़े ? वन में अचानक सिंह, सर्प, आदि मिल जावें तो उनसे न बचे ? यदि किसी घर में अग्नि लग जावे तो वहां से नहीं भागे ? इत्यादि।

इसका समाधान यह है कि—स्वात्म स्वरूप में रुचि न पैदा होने देने वाले, तथा पर पदार्थों में ममत्व कराने वाले, दर्शन मोहनीय के क्षय वा उपशम से अथवा क्षयोपशम से जो सम्यग्दर्शन हुआ है, उसके कारण वह सम्यग्दृष्टि निज आत्मतत्त्व को उपादेय और अन्य सबको हेय समझता है। दूसरे अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयादि से उसके स्वरूपाचरणरूप चारित्र भी होगया है, अतः वह निजात्मा से पृथक् जो शरीर है, उसके लिये तथा पुद्गल जनित दुःखों से बचने के लिये सात भय कारणों से निजात्मा से विचलित नहीं होता, परन्तु भय के कारणों को स्वयं नहीं मिलाता है। और भय आही जावे तो उससे बचने का प्रयत्न भी करता है। क्योंकि भय प्रकृति का उदय ८वें गुणस्थान तक है। हां यदि वह सामायिकादिक समय में कायोत्सर्ग कर चुका हो, अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़ चुका हो तो ऐसी अवस्था में कोई आकस्मिक-भय आजाय तो भी विचलित न होकर वह सामायिकादि में ही मग्न रहता है।

सम्यग्दर्शन के ५ दूषण

ज्ञानगर्व मतिमन्दता निष्ठुरवचन उद्गार।
रुद्रभाव आलसदशा नाशहिं पंच प्रकार ॥ ३७ ॥ [नाटकसमयसार]

(१) ज्ञान का गर्व करना—सिद्धान्त पढ़, विद्वान् होकर अपने से अन्य को तुच्छ समझना अर्थात् ज्ञान का घमण्ड करना।

(२) बुद्धि की मन्दता—अपनी अल्प बुद्धि के कारण धर्म विरुद्ध कार्य करना।

(३) निष्ठुर वचन बोलना—असभ्य, कटुक, कठोर और दुःख दायक वचनों का कहना।

(४) रौद्रभाव करना—कर्मोदय वश हिंसा में आनन्द मानना अथवा क्रोध रूप परिणाम रखना।

(५) आलस्य करना—धार्मिक कार्यों के करने में आलस्य वा प्रमाद करना, या मानवश उनमें दूषण लगाना।

इन पांच कारणों से सम्यग्दर्शन का नाश होता है। अतः ये त्यागने योग्य हैं।

स्वर्गीय कवि बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के अन्त में १४ गुणस्थानों का वर्णन करते हुए ३ दोहों द्वारा सम्यक्त्व के भूषण दूषण, व अतिचार दिखलाये हैं, इनका संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थ में मूलाधार और विशेष वर्णन न मिलने के कारण अपनी बुद्धि से भाव दिखलाया है।

सम्यक्त्व के ५ भूषण

"चित्त प्रभावना भावयुत हेय उपादेय वाणि ।

धीरज हर्ष प्रवीणता भूषण पंच वखाणि" ॥ १३ ॥ [नाटक समयसार]

(१) चित्त प्रभावना—मन में सम्यग्दर्शन की या जिनेन्द्र मार्ग की प्रभावना करने की भावना रखना ।

(२) हेयोपादेय—क्या हेय है, क्या उपादेय है, इत्यादि विषय का ज्ञान करते रहना ।

(३) धैर्य—रोग, शोक, भय, आदि के उपस्थित होने पर धैर्य रखना, अधीर नहीं होना ।

(४) हर्ष—धर्मात्मा, सधर्मी का प्रसन्नता पूर्वक आदर व सत्कार करना तथा धर्म कार्य करने में आनन्द मानना ।

(५) प्रवीणता—जैन धर्म के सिद्धान्तों को समझकर धर्माचरण करने में चतुरता का होना ।

इन पांचों से सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है, जैसे किसी पुरुष की शोभा भूषणों से बढ़ती है । अतः ये भूषण हैं ।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार

"लोकहास्य भय भोगरुचि अग्रसोच थितिमेव ।

मिथ्या आगम की भगति, मृषादर्शनी सेव" ॥ ३८ ॥ [नाटक समयसार]

निम्न लिखित ५ अतिचार सम्यक्त्वी को त्यागना आवश्यक है; क्योंकि इन अतिचारों के टाले बिना सम्यक्त्व का निर्दोष पालन नहीं हो सकता ।

(१) लोक हास्य—अन्य लोग हंसी करें तो उस हंसी से डर ना ।

(२) भोगरुचि—विषयों के भोगने की लालसा रखना ।

(३) अप्रसोचर्तिथि—सुख दायक उत्तम वस्तु को छोड़ कर आगे के भव में भी मुझे इस प्रकार की सामग्री एवं वैभव प्राप्त हो, ऐसा निदान करना।

(४) मिथ्याआगमप्रशंसा—हिंसा आदि के पोषक मतों की वा कुशास्त्रों की प्रशंसा करना, तथा मिथ्यादृष्टियों को देख कर उनकी भक्ति करना और अपने को धन्य मानना।

(५ मिथ्यादृष्टि सेवा—जो मिथ्यादृष्टि हो अथवा बाह्य आचरण से मिथ्यादृष्टि प्रतीत हो उसकी वा भक्ति आदि करना।

आगे जाकर यह दूषण अनाचार रूप हो जाता है, अतः इसको दूर करना आवश्यक है।

सम्यक्त्व की प्रशंसा

"सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च" [चामुण्डराय कृत चारित्रसार]

अर्थ—यदि सम्यग्दर्शन युक्त अणुव्रती होवे तो वह स्वर्ग पाता है और वही सम्यग्दर्शन महाव्रत सहित हो तो मोक्ष का दाता है। और भी कहा है—

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।

यत्रावधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥ [रत्नकरंड]

अर्थ—ये पांच अणुव्रत रूपी निधियां यदि अतिचार रहित पालन की जावें तो जहां पर अवधि ज्ञान, अणिमा महिमा आदिक आठ ऋद्धियां तथा दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है, ऐसे स्वर्ग लोक की दाता होती हैं।

सम्यक्त्व की महिमा

जीवादीसद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं।

रायादिपरिहरणं चरणं एसोदु मोक्खपथो ॥ [अध्याय ३ लाटी संहिता]

जीवादि सात तत्वों वा नव पदार्थों का यथार्थ (ठीक २) श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, जीवादि का यथार्थ स्वरूप जानना ज्ञान और राग द्वेषादि परिणामों का परित्याग करना चारित्र है। ये तीनों रत्न हैं और तीनों का समुदाय रत्नत्रय कहलाता है। यह रत्नत्रय ही मुनि का मार्ग है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए इसी को पाने क प्रयत्न करना चाहिए। इसी को पाने के लिए भावना भाना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :—

"दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।

स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः" ॥ [अ. ३ लाटी संहिता]

अर्थ—आत्मतत्त्व का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा के स्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। निज आत्म-तत्व में लीन होना सम्यक्चारित्र है।

भावार्थ—यह निश्चय रत्नत्रय का लक्षण है, न तो इसमें पर पदार्थ का अवलम्बन है और न शुभ राग की ही उपादेयता है। राग द्वेष रहित जो निज शुद्ध आत्मा का अनुभव है, वह शुद्धोपयोग रूप है। अतः इसके द्वारा कर्म का बन्ध ही नहीं होता, मुख्य उपादेय तो निश्चय रत्नत्रय ही है; परन्तु संसारी जीवों को सहसा उसकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उसका साधक व्यवहार रत्नत्रय ही माना गया है।

"रत्नत्रय मोक्षपन्थाः" अर्थात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक चारित्र, इन तीनों की जब आत्मा में एक साथ विद्यमानता हो जाती है, तभी इनके द्वारा आत्मा कर्म-बन्ध से मुक्त हो मोक्ष की प्राप्ति करता है। कहा भी है—

ज्ञान पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।

ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणं ॥ २७१ ॥ [यशस्तिलक पृष्ठ २७१ आश्वास ६]

अर्थ—जैसे एक जङ्गल में आग लग गई। वहां पर तीन पुरुष थे-एक तो अन्धा था, एक पंगला तथा एक अविश्वासी था। ये तीनों ही जुदे २ रहकर भस्म होगये। अन्धा तो चल सकता था किन्तु उसको सूझता नहीं था, कि किधर जाऊं? इसलिये वह तो ऐसे भस्म हो गया। पंगले को सूझता था, किन्तु वह चल नहीं सकता था अतः वह भी जल गया। तीसरे के पग और आंख दोनों चीजें थीं, परन्तु उसमें विश्वास न था कि यह दावानल (वन की आग) फैलकर मुझे भी भस्म कर डालेगी। अतः वह भी जल गया।

यहां अन्धे में क्रिया थी, पांगले में ज्ञान था, और अविश्वासी में ज्ञान चारित्र तो था, परन्तु विश्वास अर्थात् श्रद्धान नहीं था। अतः ज्ञान चारित्र के होने पर भी संसार रूपी वन से नहीं निकल सका।

इस दृष्टान्त से यह समझ में आगया होगा कि सिर्फ ज्ञान और चारित्र से ही मोक्ष नहीं हो सकता, जब तक कि श्रद्धान न हो। अतएव रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है, क्योंकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी कुज्ञान और कुचारित्र ही कहलाते हैं। इसके होने पर ही उनको सम्यक्त्व की पदवी मिलती है। कहा भी है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।

पूज्यं महामणेरिव तदेवसम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५ ॥ [आत्मानुशासन]

इन्द्रिय निरोध, ज्ञान, आचरण और तप यदि सम्यक्त्व रहित हों तो ये पत्थर की तरह भारी हैं किन्तु यही यदि सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि की तरह पूजनीय है। आशय यह है कि ज्ञान, संयम और तप सम्यक्त्व के बिना निरर्थक हैं। और भी कहा है—

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।

वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्चलभते शिवम् ॥ [यशस्तिलक, आश्वास, ७ पृ. ३२७]

केवल सम्यग्दर्शन से सुगति की प्राप्ति होती है, जो जीव सम्यक्त्व का धारक है, वह सुगति में ही जाता है।

पं. दौलतरामजी ने छहढाले में कहा है :—

प्रथम नरक विनषट भूज्योतिष वान भवन षंढ नारी।

थावर विकलत्रय पशु में नहिं उपजत सम्यकधारी ॥

इस छंद के अनुसार सम्यग्दृष्टि, कल्पवासी देव, उत्तम क्षेत्र में उच्च कुली मनुष्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व होने के पहिले नरकायु का बन्ध होगया हो तो पहले नरक से आगे नहीं जाता है,केवल सम्यग्दर्शन का ही यह फल है। सम्यग्दर्शन के बिना जो मिथ्याज्ञान है, उससे कुछ कीर्ति हो जाती है, और मिथ्या चारित्र से कुछ आदर सत्कार की प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।

ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—इस संसार में सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है, यही मोक्ष का मुख्य साधन है। और ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति के लिये बीज के सदृश धर्म रूपी वृक्ष की स्थिरता के लिये मूल के समान है।

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्के व तदियतुरियभवे ।

णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं-व ॥ ६४५ ॥ [गोमटसार]

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उसी भव में या तीसरे चौथे भव में अवश्य ही सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है क्योंकि यह सम्यक्त्व होने के पश्चात् उपशम या वेदक की तरह नहीं छूटता है।

भावार्थ—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त सहित ८ वष कम दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस सागर से ज्यादा संसार में नहीं रहता। यदि क्षायिक सम्यक्त्वी के होने के पहिले देवायु या नरकायु का बन्ध होगया हो तो वह तीसरे भव में, और मनुष्य या तिर्यंचायु का बन्ध होगया हो तो वह चौथे भव में अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

सम्यक्त्वीजीव कर्त्ता भोक्ता नहीं है।

सारे जैन शास्त्र सम्यग्दर्शन की महिमा से भरे पड़े हैं। इसकी महिमा की चर्चा स्वर्गवासी इन्द्र और देवों की सभा में भी होती रहती है। सर्वार्थसिद्धि के देव अपना प्रायः सारा समय इसकी चर्चा में व्यतीत करते हैं। जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तब अनादि काल से बन्धे हुए भी उसके कर्म निर्जरित होने लगते हैं। और आगे भी जो कर्मों का बन्ध होता है वह पहिले जैसा नहीं होता है।

जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब उस जीव को आत्म-द्रव्य का इतना भेद विज्ञान हो जाता है कि वह आत्म-द्रव्य से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में अपना स्वामित्व भाव नहीं समझता। अतःवह संसार मे पर द्रव्यों का कर्ता व भोक्ता अपने को नहीं मानता, इसी अवस्था में उस जीव के कर्म बन्ध कैसे हो सकता है।?

जब जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों हैं भाव नहीं रहते हैं तो उसके कर्म बन्ध भी नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि अपने को कर्ता एवं भोक्ता नहीं मानता जहां तक जीव के यह बुद्धि रहती है कि मैं रागद्वेषादि भावों का कर्ता हूं और रागद्वेषादिक भाव मेरे हैं एवं मैं पुण्य पाप कर्मों का कर्ता हूं, और पुण्य पाप कर्म मेरे कर्म हैं वहां तक उसके सम्यक्त्वभाव की प्राप्ति नहीं समझना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव को यह दृढ़ श्रद्धान होता है कि जिस द्रव्य का जो गुण एवं स्वभाव है वह उसका उसमें ही रहता है। द्रव्य परिणमनशील हैं अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति पर्याय या अवस्था का ही कर्ता और भोक्ता है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्ता एवं भोक्ता नहीं है। यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भाव रूप है। अपने आत्मा से अतिरिक्त अन्य जो चेतन, अचेतन अनन्त पदार्थ हैं उनके द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अभाव स्वरूप है। इसलिये वह ज्ञानी अपने आपको ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागद्वेषादि भाव कर्म तथा शरीरादि नो कर्म से नितान्त भिन्न अनुभव करता है। तब वह इनका स्वामी कर्ता भोक्ता कैसे हो सकता है ?

जो अपने को पर का कर्ता भोक्ता अनुभव नहीं करता उसका ज्ञान आनन्दमय स्वभाव वाला है, वह आनन्द की परिणति का कर्ता है। चारित्र शाली भी उसका स्वभाव है इसलिये ही वह वीतराग परिणति का कर्ता होता है। इसी प्रकार वह अपने ज्ञानामृत का ही भोक्ता होता है। इस प्रकार जिसके सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है, वह जीव यह समझता है कि अपनी स्वाभाविक पर्याय है वह ही भोगने योग्य है। वही अपना आनन्दामृत है, वह निज गुण सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी को अपना नहीं मानता।

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
त मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ४१ ॥
णत्थि मम धम्म आदि बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ४२ ॥
अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओसयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥ ४३ ॥ [य प्राभृत कुन्दकुन्दस्वामी]

अर्थ—जो ऐसा मानता है कि मोह कर्म मेरा सजातीय नहीं है मैं तो ज्ञान दर्शन और उपयोगमय हूं। दीप की ज्योति के समान ज्ञाता और द्रष्टा हूं। रागी द्वेषी नहीं हूं। उसी को निर्मल आगम ज्ञाताओं ने सम्यग्दृष्टि कहा है।

जो ऐसा मानता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और अन्य अक्षय अनन्त जीव ये सब मेरी सत्ता से नितान्त भिन्न पदार्थ हैं, मैं तो उनका ज्ञाता दृष्टा एक उपयोगमय द्रव्य हूँ, उसीको आगम ज्ञाताओं ने ज्ञेय पदार्थों से निर्ममत्व कहा है।

ज्ञानी ऐसा अनुभव कर बिना शङ्का के ठीक २ मानता है कि मैं तो एक एकाकी ही अपनी सत्ता को रखने वाला हूँ। मैं परम-शुद्ध, निर्विकार, वीतरागी, अमूर्तिक, स्वसत्तावाला, परसत्ता से भिन्न, अनन्त प्रदेशी, स्वसहाय, चैतन्य लक्षणवाला, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित द्रव्य हूँ, मेरा इन कर्म विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतः परम वीतरागी है। श्रद्धान वैराग्य उसका परम धन है। कहा भी है—

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात्"॥४॥ [अमृतचन्द्रसूरि समयसार कलशा]

भावार्थ—नियम से सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्य की शक्ति उत्पन्न होगई है, जिससे अपने स्वरूप का लाभ, और परस्वरूप का त्याग, बिना किये ही हो जाता है। उसने अपने आपको पर से भिन्न जान लिया है। वह सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है कि मेरा तो स्वभाव ही ज्ञानावरणादि कर्म बांधने का तथा घट पटादि पदार्थ उत्पन्न करने का नहीं है, मैं एकाकार सदैव ही अकर्ता एवं अभोक्ता हूं। और भी कहा है—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितोवेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः॥ २ ॥ ६ [अमृतचन्द्रसूरि समयसार कलशा]

भावार्थ—जैसे इस परमात्म स्वरूप आत्मा का स्वभाव पर द्रव्य के भोगने का नहीं है, उसी प्रकार इसका स्वभाव परके कर्तापने का भी नहीं है। अज्ञान के कारण यह जीव अपने को पर भावों का कर्ता व भोक्ता मान लेता है। जब अज्ञान चला जाता है तब यह अपने को उनका कर्ता व भोक्ता नहीं मानता है। यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। ज्ञानी किसी भी द्रव्यकर्म और भावकर्म व नोकर्म का कर्ता नहीं है और न उनका भोक्ता ही है। वह तो उनके स्वभावों का देखने व जानने वाला ही है। वह ज्ञानी अपने को जीवन्मुक्त ही समझता है।

सम्यक्त्वी जीव अपनी शुद्ध परिणति से अतिरिक्त किसी भी भाव को नहीं करना चाहता है। परन्तु पूर्व बद्ध कर्मों के निमित्त से (उदय से) उसके भावों में विभाव परिणमन होता है। जब आत्मा विभाव रूप परिणति करता है, तब रागद्वेष मोह भाव होता है और इन भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणायें स्वयं खिचकर आजाती हैं तथा बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं। जैसे अग्नि की उष्णता का निमित्त मिलने पर जल वाष्प (भाप) रूप बन जाता है।

वास्तव में जीव न तो स्वयं रागद्वेषादि विभाव भावों का कर्ता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के बन्ध का कर्ता है। पूर्व-बद्ध मोह के उदय से जीव में रागद्वेष होते हैं। उस रागद्वेष के निमित्त से स्वयं द्रव्यकर्म का बन्ध होजाता है। जैन सिद्धान्त में निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से कथन है। "स्वाश्रयः निश्चयनयः" जो अपने आश्रय रहे उसे निश्चयनय कहते हैं "पराश्रयः व्यवहारनयः" और अन्य वस्तु की अपेक्षा जो कथन करे वह व्यवहारनय है। निश्चयनय के भी दो भेद हैं :—एक शुद्ध निश्चयनय और दूसरा अशुद्ध निश्चयनय। जो किसी एक द्रव्य के शुद्ध स्वभाव पर लक्ष्य देवे वह शुद्ध निश्चयनय है। जो द्रव्य के वैभाविक भावों पर लक्ष्य देवे वह अशुद्ध निश्चयनय है। जब जीव के कर्तापने व भोक्तापने का विचार इन तीनों नयों से किया जाता है तब उसके तीन विभाग निम्न लिखित श्री नेमीचन्द्र आचार्य को द्रव्य संग्रह की गाथाओं के अनुसार हो जाते हैं।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥
ववहारा सुहदुःक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९ ॥ [द्रव्य-संग्रह]

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गलकर्म ज्ञानावरणादि व घटपटादिक का कर्ता कहलाता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भाव कर्मों का कर्ता कहा जाता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध वीतराग भावों का ही कर्ता है।

यही जीव व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों के फल सुख दुःख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेष भावों का कर्ता भोक्ता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञानानन्द रूप निज भावों का ही कर्ता भोक्ता है।

व्यवहारनय अभूतार्थ होता है। वह अन्य के कार्य का अन्य में आरोप करता है। कर्मवर्गणा स्वयं कर्मरूप हो जाती है। यद्यपि यह कार्य पुद्गल का किया हुआ है, तो भी उस कार्य का कर्ता जीव को कहना व्यवहारनय है।

घटका कुम्भकार, कटक का सुवर्णकार, और रोटी का पाचक, जो कर्ता कहा जाता है वह व्यवहारनय से है। वस्तुतः घड़े की बनाने वाली मिट्टी, कड़े का बनाने वाला सोना, और रोटी का बनाने वाला आटा है। मिट्टी की पर्याय घट में, सुवर्ण की पर्याय कड़े में और आटे की पर्याय रोटी की सूरत में बदली हुई है। यहां जीव के भावों का तथा हाथ पैरों का बाह्य निमित्त मात्र अवश्य आया है। इसलिये जीव को उनका कर्ता कहा जाता है। इसी प्रकार जीव का योग और उपयोग तो निमित्त मात्र है। वस्तुतःउपादान या मूलकर्ता तो वही है जो द्रव्य अवस्था से अवस्थान्तर हुआ। कहा भी है—

जीवो ण करेदि घड़ं णेव पडं णेव्वे सेसगे दव्वे ॥
जो उवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥ १८७ ॥ [समयसार कुन्दकुन्दस्वामी]

अर्थ—जीव घट पट तथा अन्य द्रव्य को नहीं बनाता है। उसका योग और उपयोग ही निमित्त मात्र से कर्ता है।

यहां पर यह अभिप्राय है कि संसारी जीवों के कर्मों का अनादिकालीन सम्बन्ध है। नाम कर्म के उदय से मन, वचन और काय योग के होने से आत्मा का सकम्पपना होता है। यदि जीव के कर्मों का उदय न हो तो ये मन वचन और काय योग कार्यों के उत्पन्न होने में निमित्त भी न हों। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से ही राग द्वेष, इच्छा प्रयत्न ज्ञानोपयोग होता है। यह अशुद्धोपयोग ही कार्यों के करने में या होने में निमित्त मात्र है। यदि जीव के कर्म का उदय ही न हो तो यह अशुद्ध उपयोग ही न हो।

जीव और कर्मों के संयोग से क्या २ विभाव भाव और क्या २ बाहरी कार्य होते हैं इन्हीं को बतलाने के वास्ते अशुद्ध निश्चयनय से तथा व्यवहारनय से कथन किया गया है।

शुद्ध निश्चय से आत्मा का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहिं ॥ १६ ॥ [समयसार कुन्दकुन्द स्वामी]

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, तथा असंयुक्त झलकाती है उसे शुद्धनय जानो। अर्थात शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखते हुए यह आत्मा कर्म व नोकर्म से न तो बंधा है और न स्पृष्ट है। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी जल के स्वभाव से भिन्न है, जल का उस पर कुछ भी असर नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा कर्मों के बन्ध से व स्पर्श से रहित है अर्थात् निर्बद्ध है। अन्य नियत भी

नहीं है; क्योंकि वह अपने आप में ही नियत है। नर, नारकी, देव, तिर्यंच रूप अनेक योनियों में एक रूप ही शुद्ध द्रव्य झलकता है। जैसे मिट्टी के घड़े, प्याले, सकोरे, मटकने, अनेक प्रकार के रूप बनते हैं तथापि सब पर्यायों में वह मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है, मिट्टी ही मिट्टी है। उसी प्रकार सब पर्यायों में आत्मा ही आत्मा है। यह भेद विज्ञान का विषय है। अन्यथा जब भेद विज्ञान नहीं होता है तब इस संसारी जीव में बहिरात्मबुद्धि होती है। तब यह इस प्रकार अहंकार किया करता है :—मैं मानव हूँ, पशु हूँ, धनी हूँ, निर्धन हूँ, रूपवान हूँ, कुरूप हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ, सेवक हूँ, स्वामी हूं, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शूद्र हूँ, रागी हूँ द्वेषी हूँ। इस प्रकार संसार अवस्था में जीव को अनेक प्रकार की पर्यायें होती हैं। कर्म के उदय के निमित्त से उन अवस्थाओं को यह मोह के निमित्त से अपनी खास अवस्था मान लेता है; जैसे शरीर के जन्म को अपना जन्म, शरीर के मरण को अपना मरण, शरीर के बिगडने को अपना बिगडना। जो पदार्थ प्रत्यक्ष में आत्मा से पृथक हैं उनको मोह के निमित्त से अपना मानकर अपनाता है; जैसे यह मेरा शरीर है, यह मेरा घर है, यह मेरा देश है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्ति है, इत्यादि। इस प्रकार अहंकार व ममत्व के वशीभूत होकर यह दिन रात अपने को परभावों का कर्ता व भोक्ता बना लेता है। जैसे मादक पदार्थ को पीने वाला मनुष्य उसके नशे मे अपने को तथा अपने स्वभाव को भूल कर नशेबाज की तरह पर पदार्थ में आपा मानकर निज स्वभाव भाव के भाव की खोज से शून्य होकर पर पदार्थ का कर्ता व भोक्ता हो जाता है।

मोह से उत्पन्न इस मिथ्याभाव के कारण क्रोधादिक कषायो की अतितीव्रता रहती है। इन्द्रिय-विषयों से सुख होता है। इस मान्यता से इन्द्रियो के भोग योग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये अत्यन्त तृष्णा करता है। उनमें जो बाधक कारण उपस्थित हो जाते हैं उनके प्रति क्रोध करता है तथा उनका बुरा करना चाहता है। यदि इच्छा के अनुकूल किसी समय कोई पदार्थ प्राप्त हो जाता है तो उसमें अत्यन्त सुख मान लेता है और अभिमान करने लगता है।

इसी प्रकार दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय के द्वारा मिथ्यात्वी जीव संसार वर्द्धक घोर कर्म बन्ध करता है। इस प्रकार के मिथ्याभावों से संसार में इस आत्मा को कभी भी शुद्ध होने का मार्ग नहीं मिलता है। ऐसे ही आत्मा में शुद्ध निश्चयनय से कोई विशेषता उत्पन्न नहीं होती—क्योंकि वह तो निमित्त में होती है। इस नय से आत्मा असंयुक्त भी है क्योंकि उसका किसी के साथ भी संयोग नहीं होता।

ध्यान में रखने की बात है कि श्री गुरु परम दयालु हैं, उन्होंने नयों के द्वारा यह समझा दिया है कि जीव भिन्न हैं, कर्म भिन्न हैं, व शरीरादिक भिन्न हैं। इनका संयोग मात्र सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक संयोग के कारण जीव में विभाव होते हैं जिनसे कर्मों का बन्ध होता है। इसलिये जीव को कर्ता व भोक्ता कहते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनय से यह जीव किसी भी परभाव का कर्ता नहीं है। उसमें ऐसा विकल्प ही नहीं उठता है कि मैं किसी का भला करूं, या किसी का बुरा करूं, या बन्ध को काटूँ, या मोक्ष की प्राप्ति करूं। ज्ञानी शुद्ध

निश्चयनय से अपने आत्मा को आत्म-रूप ही देखता है। और उसी में अपना आपा समझ कर रमण करता है। वहां बन्ध और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। ऐसी अवस्था में सम्यग्दृष्टि अपने को कर्ता व भोक्ता कैसे समझ सकता है। कहा भी है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्तादिभावान् ।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ॥
शुद्धः शुद्धस्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः १।६ [समयसार]

अर्थ—जब शुद्ध ज्ञान भाव प्रकट होता है तब वह सर्व प्रकार के परके कर्त्ता व भोक्तापने के भावों को भले प्रकार दूर कर देता है। उस जीव के ज्ञान में बन्ध मोक्ष की कल्पना भी नहीं होती है। उसे अपना आत्मा सर्व प्रकार से शुद्ध झलकता है। वह अपनी ही पवित्र स्वाभाविक ज्योति से झलकता रहता है। एवं उस आत्मा की महिमा सदा एक रूप ही चमकती है।

इस जीव के अनादि काल का यह भ्रम पड़ा था, कि मैं करने वाला हूँ व भोगने वाला हूँ। इस भ्रम को दूर हटाने के लिये श्रीगुरुओं ने शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कथन करके यह समझा दिया है कि हे आत्मन् ? तेरा स्वभाव तो अकर्ता व अभोक्ता रूप है, तू तो अपनी ही शुद्ध परिणति का कर्ता है व उसी शुद्ध परिणति का भोक्ता है। तेरा परभावों में आपा मानने का अहंकार व पर को अपना मानने का भ्रम है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा मानता है कि कर्मों के निमित्त से रागी व द्वेषी होकर मुझे संसार के कार्य करने पड़ते हैं और संसार के भोग सुख अथवा दुःख भोगने पड़ते हैं। पर ये मेरे स्वाभाविक कार्य नहीं हैं; कर्मजन्य हैं। न मैं नारकी हूँ, न मैं पशु हूँ, न मैं मानव हूँ, न मैं इन चतुर्गति रूप भ्रमण का दुःख उठाने वाला हूँ, न इन के सुख को भी भोगने वाला हूँ। मैं तो परम शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाता-दृष्टा, एक अखण्ड-द्रव्य, निश्चल आत्मा हूँ, मेरा कर्तव्य अपनी ज्ञान परिणति का ही करना और उसी का (निजानन्दरसका) भोगना है।

इस प्रकार के सम्यक्ज्ञान होने का फल यह है कि अपना स्वामित्व परकृत भावों के करने या भोगने में था वह बिल्कुल निकल जाता है। तभी उस ज्ञानी के सच्चा वैराग्य झलकता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के भावों में इतना ही भेद है, जैसा भेद प्रकाश में और अन्धकार में है, मणि और काच में है, श्वेतवर्ण और कृष्णवर्ण में है। बाहिरी कार्य दोनों के एकसे दीखते हैं; तथापि भावों में विशेष अन्तर है। ज्ञानी जीव आत्मानुरक्त है, अज्ञानी में

देहासक्ति है, अर्थात् वह शरीरादि बाह्य पदार्थों में लवलीन है। ज्ञानी कर्म काट रहा है, अज्ञानी कर्म बन्ध बढा रहा है। कहाभी है—

"देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ १४ ॥ (समाधिशतक)

अर्थ—इस शरीर में व शरीर की क्रिया में आत्मपना मानना बार २ अन्य २ शरीरों में भटकने का बीज (मूल कारण) है। शरीर में आत्म-बुद्धि छोड़कर अपने ही आत्मा में आत्मपना मानना शरीर रहित होने व मुक्ति प्राप्त करने का बीज-(मूलकारण) है। ज्ञानी जीव अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी है तो अज्ञानी विषय सुखका प्रेमी है। इसलिये सम्यक्त्वी को उपदेश है कि वह अपनी शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन लेता हुआ परिणामों को शुद्ध रखे। कहाभी है—

"इदमेवात्रतात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्तिबन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एवहि ॥ १०५ ॥ (समयसार कलश अमृतचन्द्रकृत)

अर्थ—यहां पर इस उपदेश का यही प्रयोजन है कि शुद्ध निश्चयनय को कभी न छोड़ो। इसके ग्रहण करने से कर्म बन्ध नहीं होता है और इसके त्यागने से कर्मबन्ध ही होता है। इसलिये आचार्यों ने इसीको सम्यग्दर्शन कहा है। आगे और भी कहते हैं—

"भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १५ ॥ (समयसार)

अर्थ—निश्चयनय से जाने हुए जीवादिक नौ पदार्थ ही सम्यक्त्व है इसका भाव यह है कि इन पदार्थों का निर्माण जीव और अजीव दो द्रव्यों के निमित्त से होता है। इनमें यह जानना चाहिये कि अजीव द्रव्य तो सर्वथा त्यागने योग्य है और एक जीव द्रव्य उपादेय-ग्रहण करने योग्य है। वह कर्मों से सर्वथा पृथक् है। इसी का नाम सम्यक्त्व है।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट हो गई कि सम्यग्दृष्टी अपना स्वामित्वपना अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूप पर रखता है। तभी वह अपनी शुद्ध परिणति का कर्ता व भोक्ता होता है। ज्ञानी सम्यक्त्वी मोहजनित भावों का कर्ता व भोक्ता नहीं है।

आगे इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रमाण से करते हैं।

'परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपिस्वकैर्भावैः
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥
जीवकृतपरिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः सखलु भवबीजम् ॥ १४ ॥ [समयसार]

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा अपने चैतन्यमय रागादिक भावों से आपही परिणमन करता है तथापि उन भावों में पुद्गल कर्मों का बलवान उदय निमित्त है । इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर नवीन पुद्गल कर्म स्वयं ही सप्त कर्म रूप व अष्ट कर्म रूप परिणमन कर जाते हैं ।

इस प्रकार निश्चय से यह आत्मा कर्मों के द्वारा होने वाले भावों का धारण करने वाला नहीं है । तथापि जो मिथ्याज्ञानी जीव हैं उनको ऐसाही झलकता है कि यह जीव ही स्वभाव से रागादि भावों का धारण करने वाला है । यही मिथ्या प्रतीति संसार का बीज है । इसी को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र रूप भाव कहते हैं । यही संसार में भ्रमण कराने वाले हैं । जैसे रोगाक्रान्त होकर रोग को जो परकृत विकार जानेगा वही रोग से मुक्त होने का उद्यम कर सकेगा,परन्तु जो रोग को अपना स्वभाव मानलेवेगा वह रोग से कैसे छूट सकेगा ? सम्यग्ज्ञानी इनको रोग मानता है, तभी इन से छूटने का उपाय करता है और मिथ्याज्ञानी इनको अपना स्वभाव जानता है, इसी कारण इन से छूटने का उपाय नहीं करता । येही बन्धका और निर्जरा का लक्षण है, इस प्रकार के अनुभव का करना सम्यग्ज्ञानी का परम कर्तव्य है, वही मोक्ष का कारण है ।

सम्यक्त्वी के बन्ध नहीं होने का कथन

जिस समय आत्मा का निज स्वभाव सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उस समय उसका अज्ञान अन्धकार मूल से नष्ट हो जाता है । उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है । उस सम्यग्दृष्टि का वह श्रुतज्ञान चाहे थोडा हो या बहुत, वह पदार्थों के सच्चे स्वभाव को जैसा का तैसा जानता है । यदि सम्यग्दृष्टि पूर्ण श्रुतज्ञानी हो तो वह केवलज्ञानी के बराबर है । अन्तर यह है कि केवलज्ञानी तो पदार्थों को व उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देखता है और श्रुतज्ञानी पदार्थों के स्वभाव को तथा उनकी जो कुछ पर्यायें होती हैं उनमें से कुछ

को परोक्ष रूप से जानता है। स्पष्टपने तथा अल्पपने की अपेक्षा कमी अवश्य रहती है, परन्तु विपरीताभिनिवेश व संशयरहित होने की अपेक्षा श्रुतज्ञानी का ज्ञान व केवली का ज्ञान समान है। केवली और श्रुत केवली दोनों का ही ज्ञान विश्वतत्त्व प्रकाशित करने वाला है। कहा भी है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥ [आप्तमीमांसा–समन्तभद्रस्वामी]

अर्थ—सर्व तत्वों को स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों प्रकाशित करते हैं। भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। इन दोनों से विरुद्ध जो कोई वस्तु का स्वरूप है वह यथार्थ नहीं है। श्रुतज्ञान का जो इतना महत्व प्रकट किया है इसका कारण सम्यग्दर्शन ही है। क्योंकि उसके बिना चाहे कितना भी ज्ञान हो वह सब झूंठा है, चाहे ग्यारह अङ्ग और नो पूर्व तक का ही ज्ञान क्यों न हो।

सम्यग्दृष्टि के गाढ़ रुचि स्वाधीनता प्राप्त करने की हो जाती है। वह आत्मिक सुख में परम रुचिवान् हो जाता है। वह अपने को निरन्तर शुद्ध अनुभव करता है। चतुर्थ गुणस्थान अविरत से लेकर ऊपर के गुणस्थानवर्ती सब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। आत्मिक बल की न्यूनता से जब अप्रत्याख्यान कषाय का मन्द या तीव्र उदय होता है तब वह उसको रोक नहीं सकता। इसलिये उदय के अनुकूल अपने उपयोग को आत्मानुभव से अतिरिक्त कार्य में लगाना पड़ता है। जहां तक उसका वश चलता है, वह सम्यग्ज्ञान व आत्मवीर्य से कषाय के उदय को रोकने की पूरी २ चेष्टा करता है। परन्तु बाहिरी निमित्तों के होने पर अन्तरङ्ग कषाय के उदय को न मिटा सकने के कारण लाचार होकर कषाय के उदय से मन वचन और काय की प्रवृत्ति करने लग जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को वह हेय बुद्धि से करता है। उपादेयपना एक स्वात्मानुभव में ही समझता है। जैसे सेठ की दुकान पर एक मुनीम मालिक की प्रेरणा से व्यापार करता है और व्यापार में स्वयं मन वचन और काय को लगाता है जिसके द्वारा हानि और लाभ को भी प्राप्त होता है; परन्तु उस हानि और लाभ को वह अपना लाभ एवं हानि रूप नहीं मानता सब मालिक का ही मानता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण अर्थ और पौरुष को कर्म के स्वामित्व पर छोड़ देता है। वह धन, कुटुम्ब, मित्रादि को अपना न मानकर कर्मकृत मानता है। इसीलिए न विपत्ति में उसे विषाद होता है और न सम्पत्ति में हर्ष। वह सुख दुख मे समान, बुद्धि रखता है। वह अनासक्त योगी है और स्थितप्रज्ञ है। उसका आत्मीक धन ज्ञान,दर्शन, सुख और वीर्यमय है।

ध्यान मे रखने की बात है कि कभी २ सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय आ जाता है तब क्रोध, मान, माया व लोभ रूप परिणति भी हो जाती है। जिससे वह किसी के द्वारा होते हुए अपने अपमान को नहीं सह सकता। जिससे उस प्रतिपक्षी

के दमनार्थ क्रोध करके युद्धादिक भी करता है। अथवा उसके किसी विषय की गाढ़ चाहना हो जाती है तब उसके लिये उपाय भी करता है। उस उपाय में वह मायाचारको भी काम मे लाता है। जैसे प्रद्युम्नजी ने कनकमाला से गौरी और प्रज्ञप्ति विद्या लेने के लिये किया था। यथापि इन सब कृत्यों को कर्मकृत रोग समझता है। परन्तु आत्मिक बल की कमी से वह कषाय के उदय के अनुकूल प्रवर्तन करने लग जाता है। वह सोचता है कि कब वह दिन आवेगा जो मैं इन बन्धन रूप कृत्यों से अलग होकर आत्मानन्द में मग्न हो जाऊं ?

यहां यह भी कह देना जरूरी है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषाय के बिना अप्रत्याख्यान कषाय के उदय में संभावित कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल इस तरह छह लेश्यायें होती हैं। निमित्त मिलने पर कभी २ परिणाम अत्यन्त कठोर हो जाता है। अन्याय करने वाले के प्रति दमनार्थ वह प्रचण्ड हो जाता है। तथा इष्ट वियोग में परिणाम अति शोक मग्न हो जाता है। अशुभ परिणाम कृष्णादि तीन लेश्या के सम्बन्ध से कहे जाते हैं और शुभ परिणाम पीतादि तीन लेश्याओं के द्वारा होते हैं। इन परिणामों में भी कषाय की अनुमान शक्ति के अनुसार अनेकानेक भेद सिद्धान्तों में गणधर देव ने बतलाये हैं। परन्तु हेय बुद्धि रहने पर भी कषाय के उदय-वश सम्यक्त्वी को बड़े २ कषाय जनित कार्य करने पड़ते हैं। तो भी इसका उनपर स्वामित्वपना नहीं रहने से वे सब कार्य इसकी आत्मा के श्रद्धान तथा ज्ञान को बिगाड़ नहीं सकते। सम्यग्दृष्टि को इन सब कार्यों से उसी तरह उदासीनता है जैसे एक वेश्या को भोग करते हुए भी पुरुष के साथ अप्रीति होती है। वह जो कुछ करती है द्रव्य के लोभ के कारण करती है। पुरुष से वास्तव में उसका प्रेम नहीं है, वह तोकेवल द्रव्य के लोभ से प्रीति दिखलाती है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्ग में भोग से उदासीन है। वह जब उपयोगमस्त आत्माभिमुख हो जाता है तब आत्मा के अनुभव के आगे अपने कृत्य की घोर निन्दा करता है और भावना भाता है कि "यह कषाय का उदय कब मिटे और मैं उपादेय भूत आत्मिक स्वभाव में ही तल्लीन हो जाऊँ।"

श्रद्धान की अपेक्षा इस ज्ञानी सम्यक्त्वी के ज्ञान चेतना ही होती है। यह आत्मज्ञान का ही अनुभव करता है या करने की भावना रखता है। चारित्र की अपेक्षा जब कषाय के उदय से आत्म-सन्मुख नहीं हो सकता तब इस के कर्म चेतना या कर्मफल चेतना होती है। कहा भी है—

सम्यक्त्वी के कर्म बन्ध नहीं होता

तज्ज्ञानस्यैवसामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते॥ ७२॥

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ७।३ ॥ [समयसार कलशा]

अर्थ—यह सम्यक्त्वी के ज्ञान का ही बल है या उसके विराग की शक्ति है कि वह कर्म करते हुए भी या कर्म फल भोगते हुए भी कर्मों से बन्ध को नहीं प्राप्त होता। यह पांचों इन्द्रियों के विषय को सेवते हुए भी विषय सेवन का फल जो कर्म बन्ध है उसे नहीं पाता ;वह ज्ञान और वैराग्य की विभूति के बल से विषयों को सेवन करते हुए भी सेवन करने वाला नहीं कहलाता। धन्य है ऐसे सम्यग्दर्शन को जिससे आत्मा कर्मों का कर्ता व भोक्ता नहीं बनता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह की चिकनाई नहीं है, जैसी मिथ्यादृष्टि जीव के हुआ करती है। सम्यक्त्वी विषयों को सेवन करता हुआ भी निर्ममत्व भाव के कारण कर्म के बन्धन को प्राप्त नहीं होता। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उन्हीं सांसारिक विषयों के सेवन से बन्धन को प्राप्त करता है। कहा भी है—

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु ।
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ॥
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुः,
मिथ्यादृशः सनियतं स च बन्धहेतुः ॥ ५ ॥ [समयसार कलशा]

अर्थ—जो जानता है वह कर्त्ता नहीं है, और जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं है, जो कर्त्ता है उसके उस क्रिया में राग है। इसी राग को अज्ञानमय अभिप्राय कहते हैं। यह भाव मिथ्यादृष्टि के होता है। इसलिये यह भाव नियम से कर्मों के बन्ध का कारण होता है। ज्ञानी आत्मीय भावों का कर्ता होता है। अन्य जितने भी कार्य हैं सबका ज्ञाता ही रहता है। कहा भी है—

सम्यक्त्वी कार्यों में आसक्त नहीं होता

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥ (समाधिशतक)

अर्थ—सम्यक्त्वी जीव आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यों को अपनी बुद्धि में नहीं रखता, कषाय के उदय से प्रयोजन वश कुछ करना पड़े तो उसे करता अवश्य है किन्तु उस कार्य में आसक्त बुद्धि नहीं रखता। जैसे कोई मनुष्य किसी स्त्री पर आसक्त होजावे, और उसका जब वियोग हो तो भी उसका ध्यान उसकी ओर ही रहता है तथा अन्य कार्यों में उसका उपयोग उन्हें करते हुए भी नहीं रहता है, इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव जब शिव सुन्दरी पर आसक्त हो जाता है तब उसकी वियोगावस्था में अन्य कार्यों को करते हुए भी उसका ध्यान एवं उपयोग आत्मानुभव एवं आत्मानन्द के भोगने की ओर ही रहता है। वह उसका ही प्रेमी है। कषाय के उदय से जो कुछ उसे मन, वचन और काय के द्वारा कार्य करने पड़ते हैं, उनको करता हुआ भी उनसे उदासीन रहता है और उनपर उसकी आसक्ति नहीं रहती है। इसी कारण ज्ञानी सम्यग्दृष्टि बन्ध को प्राप्त नहीं होता है।

सम्यक्त्वी की अनासक्ति का दृष्टान्त

आगे इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा विशद करते हैं।

जैन पुराणों में भरत चक्रवर्ती को बड़ा तत्वज्ञानी वर्णन किया है। उनमें ऐसी क्या विशेषता थी जिससे उनका इतना महत्व है-यह तथ्य नीचे के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

यद्यपि ३२००० बड़े २ राजा उनके सेवक थे; ९६००० देवांगना समान रूपवती, गुणवती, शीलवती, आज्ञावर्तिनी, युवतियां स्त्रियां थीं। उनसे उनका भोग विलासादि भी होता था। उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न भी उत्पन्न हुआ था, जिसके कारण उन्हें दिग्विजयार्थ ६०००० (साठ हजार) वर्ष तक भ्रमणादिक भी करना पड़ा था। एक २ हजार देव जिनकी रक्षा करते थे। चौदह रत्न तथा नवनिधियां भी थीं। बड़ी भारी सेना भी थी। इस प्रकार के अपार वैभव होते हुए भी वे उनसे उदासीन थे। सम्यग्दृष्टि होने के कारण उनमें आसक्त न थे। अतएव जिस केवल ज्ञान को आदीश्वर महाराज ने एक हजार वर्ष कठिन तपस्या करके प्राप्त किया था उसको घर में ही वैरागी रहने वाले चक्रवर्ती भरत ने अन्तर्मुहूर्त में ही प्राप्त कर लिया था।

एक समय इन भरत चक्रवर्ती से किसी ने आकर प्रश्न किया था कि हे राजन! आपको लोग षट्खंडभोगी और बहुपरिग्रही होते हुए भी वैरागी कैसे कहते हैं? तब उन्होंने अपने सेवक के द्वारा एक तेल भरा कटोरा उसके हाथ पर रखवा दिया और अत्यन्त सावधान पहरेदार उसके पीछे लगा दिये तथा आज्ञा करदी कि इसको हमारी सब सम्पत्ति एवं रणवास आदि दिखलादो; किन्तु ध्यान रखना कि जहां पर इस तेल से भरे कटोरे में से एक बिन्दु भी गिर जावे वहां ही पर इसका सिर काट लिया जावे। अनन्तर उनकी आज्ञानुसार वह आदमी

उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के आस पास चक्कर लगाकर वहां पर ही आगया जहां पर श्री भरत चक्रवर्ती महाराज बिराजे हुए थे। सम्राट् ने पूछा कि तुमने हमारी सब सम्पत्ति देखली ? उसने उत्तर दिया कि महाराज! मेरा अपने सिर कटने की चिन्ता के कारण तेल के कटोरे पर ही ध्यान था अतः आपकी सम्पत्ति देखता हुआ भी नहीं देख पाया। भरतजीने तब उसे समझाया कि इसी प्रकार मेरा भी ध्यान अपने आत्मा की ओर है। आत्मा पतित न हो जावे इस कारण मैं इधर ध्यान नहीं देता हूं। आत्मोद्धार के लिए ही ध्यान लगाये हुए हूँ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भरतजी का ध्यान इतनी सम्पत्ति होने पर भी आत्मानुभव पर था उसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टियों का ध्यान भी अपने आत्मा की ओर होता है। यही बात निम्नलिखित दूसरे दृष्टान्त द्वारा भी समझ सकते हैं।

दो पनिहारी अपने २ सिर पर पानी का घट लिये जा रही हैं। घड़ों को वे हाथों से नहीं थामे हुए हैं। घड़े माथे पर बिलकुल अधर हैं। वे बातें चीतें करती हुई, हंसती हुई जा रही हैं, किन्तु वे घड़े उनके सिर से नहीं गिरते हैं। इसका कारण यह है कि उनका ध्यान उन घड़ों पर ही है अतः वे अपनी गर्दन को समतोल रखती हुई सब बातें चीतें तथा हंसना आदि क्रियायें करती हैं। यदि उनसे जरा भी ध्यान हटा लेवें तो उनके घड़े उनके सिर से गिर जावें। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष भी सांसारिक विषय भोगों को कर्मों के उदय से भोगता है एवं सांसारिक कार्य सम्बन्धी भी क्रिया करता है; परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को अपने आत्मिक भावों से च्युत नहीं करता है। अतः सांसारिक भोगों को भोगते हुए भी कर्म बन्धन को प्राप्त नहीं होता है। जीवन का सार सम्यग्दर्शन है। आत्मानन्द को पाने के लिए सबसे पहले इसी को प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिए। सम्यक्त्व सहित नारकी भी सुखी है और सम्यक्त्व रहित देव भी दुखी है। सच पूछो तो सम्यक्त्व ही सुख है। धन्य हैं वे जो सम्यग्दृष्टि हैं। मिथ्यादृष्टि ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व तक का ज्ञान रखने पर भी अज्ञानी है और सम्यक्त्वी 'तुस मासं घोसंतो' जितना ज्ञान रखता हुआ भी ज्ञानी है। ज्ञान और चारित्र का मूल्य तभी है जब सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्वी ही सच्चा अनेकान्तवादी है। दुःखों को धैर्य के साथ सहने के लिए सम्यक्त्व अमोघ औषधि है। वह महा तपस्या भी व्यर्थ है जिसके साथ सम्यक्त्व नहीं है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व हो जाये तो उसका निर्वाण निश्चित है। अज्ञानी करोड़ों जन्म तक तप करके भी कर्मों का क्षपण नहीं कर सकता; किन्तु ज्ञानी क्षण भर में तपस्या के बिना भी कर्मों का नाश कर देता है। मिथ्यात्व से अधिक जगत में कोई पाप नहीं है। सबसे तीव्र पाप यही है। जैनों में भी दुःख की बात है कि मिथ्यात्व का प्रचार तीव्रता को लिये हुए है। स्त्रियों में मिथ्यात्व के प्रचार को देख कर कोई भी कह सकता है कि ये जैन नहीं हैं। जो वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और रत्नत्रय धर्म का श्रद्धानी नहीं है वही मिथ्यादृष्टि है। ऐसे मिथ्यादृष्टियों का जप तप सब व्यर्थ है, लोक दिखावा है, पाखण्ड है। इसलिए विद्वानों का कर्तव्य है कि जैन समाज के मिथ्या प्रचार को रोकने का प्रयत्न करें। जिन शासन की सच्चा भक्ति और प्रभावना यही है। श्री पं. आशाधरजी के शब्दों में भ्रष्टचारित्र वाले पंडितों और

शिथिलाचारी साधुओं ने जिन भगवान का निर्मल शासन कलंकित कर दिया है उन्होंने लिखा है :—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

जो भ्रष्टाचार और शिथिलाचार नष्ट करने में अपनी शक्ति लगाता है वही जैन समाज का सच्चा सेवक है । जब तक बाहिरी पाखण्ड और मूढता नष्ट नहीं होंगे तब तक सम्यक्त्व की अभ्यंतर प्रतीतिकी बातें बनाना महा मूर्खता है । कषायें तभी मंद हो सकती हैं जब बाह्य पाखण्ड नष्ट हो जाय ।

सम्यग्दृष्टि के प्रत्येक कार्य ज्ञान पूर्वक होते हैं

सम्यक्त्वी जीव की प्रवृत्ति कभी पाखण्ड की ओर नहीं होती । वह पाखण्डों को तीव्र कषाय का कार्य जानता है । सम्यग्दृष्टि का भाव ज्ञान की भूमिका को नहीं उल्लंघन करता है । सम्यग्दृष्टि के जितने भी भाव होते हैं वे लौकिक हों या पारलौकिक हों, सब ज्ञान द्वारा निर्मित किये जाते हैं । पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के जितने भी भाव होते हैं वे सब मिथ्यात्व के पोषक और भेद विज्ञान से शून्य हुआ करते हैं । कहा भी है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ २२।३ ॥ (समयसार कलश)

अर्थ—ज्ञानी के जितने भी भाव होते हैं, वे सब ज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं । इसी तरह अज्ञानी के जितने भी भाव होते हैं, वे सब अज्ञानता से ही उत्पन्न होते हैं । सम्यग्दृष्टि की भूमि (भाव) मोक्षासक्त है । और मिथ्यादृष्टि की भूमि संसारासक्त है । ध्यान पूर्वक देखा जावे तो बंध तभी तक है जब तक कि यह ध्यान रहे कि मैं बंधा हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, तथा रागी द्वेषी हूँ, या मैं मनुष्य देव नारकी एवं तिर्यंच हूँ । अहंबुद्धि मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से जड़ में चैतन्यपने की जड़ पकड़े हुए है । इस प्रकार की बुद्धि मिथ्यादृष्टि के ही हुआ करती है । इसलिये यह बन्ध रूप ही है । सम्यग्दृष्टि पुरुष की अहं बुद्धि सब द्रव्यों से विलक्षण परम शुद्ध आत्म द्रव्य पर होती है । अतः वह अपने को बन्ध रहित ही समझता है, एवं अनुभव करता है । वास्तविक द्रव्यों का स्वरूप ही सिद्धान्तों में ऐसा बतलाया है । जैसे एक गाय अपने खूंटे पर रस्सी से बंधी है । वस्तुतः विचार किया जावे तो क्या वह गाय बंधी है ? नहीं, कदापि नहीं, वह गाय रस्सी से नहीं बंधी है । गाय तो खुली

हुई है, रस्सी बंधो हुई है। रस्सी और गाय के गले के बीच में अंगुली फिरा कर भी देखलो गाय का गला अलग है और रस्सी अलग है। गाय के मिथ्यात्व कर्म का उदय है, अतः वह समझती है कि मैं बंधी हुई खूटे पर खड़ी हूँ। वास्तव में वह यदि यह समझने लगे कि मैं बंधी हुई नहीं हूँ तो गाय में ऐसी शक्ति है कि वह उस खूटे को तोड़ कर अपने आपको स्वतन्त्र बना सकती है। यह काम भेद विज्ञान शक्ति का है। मिथ्यादृष्टि भी गाय की तरह खूंटे से अपने को बद्ध समझता है और सम्यग्दृष्टि गाय की तरह बद्ध न समझ कर खूंटे को तोड़ कर भेद-विज्ञान द्वारा अपने को स्वतन्त्र बना सकता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि में ज्ञान के अभाव एवं सद्भाव का अन्तर है। और कुछ अन्तर नहीं है। वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि संसार परिभ्रमण करता है, और सम्यग्दृष्टि उस संसार को छेद कर अपने आत्मा को सदा के लिये सुखी बनालेता है। कहा भी है—

अपनी सुध भूल आप आप दुःख उठायो।
ज्यों सुख नभ चाल विसर नलिनी लटकायो ॥ (पं० दौलतरामजी)

अर्थ—जिस प्रकार कोई तोता अपनी चाल को भूल कर कमललता को स्वयं अपने पंजे में पकड़े हुए है तो भी यह समझता है कि मुझ को इस नलिनी ने पकड़ लिया है। अगर वह इस भ्रम को छोड़ देवे और अपनी आकाश गामिनी शक्ति का अनुभव करके उड़े तो उसका वह नलिनी क्या कर सकती है। परन्तु वह तोता यह नहीं समझता कि मैं स्वयं अपनी भूल से कमलिनी को पकड़े हुए हूँ। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति होती है। मिथ्यादृष्टि तो भ्रम में उलझा हुआ है। किन्तु सम्यग्दृष्टि समझता है मैं निर्बन्ध हूँ। बन्ध रूप पुद्गल परमाणु का स्वरूप स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रस को लिये हुए है। और मेरा स्वरूप ज्ञाता दृष्टा है। मेरे और इनके लक्षणों में भेद है। अतः यह मेरा अच्छा और बुरा करने को कदापि समर्थ नहीं हैं। मैं ही अपना बुरा या भला कर सकता हूँ। अतः मुझको इन संसार रूपी भावों का ज्ञाता और दृष्टा ही रहना योग्य है। ऐसा विचारने से सम्यग्दृष्टि सदा ही निर्बन्ध रहता है। ऐसी श्रद्धा ही उसकी अबन्धता का अनुभव कराती है। वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कर्मों के बंध से व उदय से अपने को भिन्न ही अनुभव करता है और विचारता है कि मैं सम्यक्त्वी हूँ, मुझे तो विवेक से व्यवहार कार्य करना चाहिये। क्योंकि मुझे प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव का पूर्णतः पालन करना है। अतः मुझे इस चतुर्थ गुणस्थान से आगे चलना है और अपने चारित्र को उज्वल व वर्द्धमान बनाना है। इस प्रकार की भावना रखता हुआ वह अपने भावों को सदा ही उच्च, उच्चतर और उच्चतम बनाने की भावना में प्रयत्नशील बना रहता है। भूलकर कभी भी उन्मत्त, आलसी व निश्चयाभासी या कुतर्की नहीं होता। कहा भी है—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-

द्दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु–
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ५–७
तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनं
तदायतनमेव मा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृत् कर्म्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं नहि विरुद्ध्यते किमुकरोति जानाति च ।४।८ [समयसार अमृतचन्द्र सूरि]

अर्थ—मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूं। मुझे कभी कर्म बन्ध नहीं हो सकता, (ऐसे निश्चय के भापी एकान्त को पकड़ कर) अनेक प्रकार के रागी जीव सम्यक्त्व न होते हुए भी सम्यक्त्व होने के घमंड से अपना मुंह फुलाये रहते हैं। इस प्रकार के मिथ्यात्वी जीव चाहे जैसा आचरण पाले। पांच महाव्रत व पांच समिति एवं तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार का चारित्र पाले तथापि वे अभी तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, पापी, एवं बहिरात्मा हैं। क्योंकि उनको अभी तक आत्मा एवं अनात्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है। सम्यक्त्वी के अनंतानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेष तथा मोह नहीं होता, वह कभी स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करता। वह जानता है कि स्वच्छन्द वर्तन ही रागद्वेष और मोह का काय है सो अवश्य कर्मबन्ध का कारण है। वह जगत के कार्यों को करता अवश्य है किन्तु अनासक्त होकर। उस सम्यक्त्वी की दृष्टि आत्मा के निज स्वभाव पर जम जाती है। वह बंध व मोक्ष की कल्पना से भी रहति है। वह तो वीतरागता का पूर्ण उपासक होजाता है। वह अपने को सदा बंध से मुक्त समझता है। वह भले प्रकार जानता है कि सूक्ष्मलोभ का अंश भी जो सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती साधु महात्मा के होता है, कर्म बन्ध का कारण है। बन्ध का न होना ही आत्मा के लिए हितकर होता है।

सम्यक्त्वी आत्मा को बंध रहित मानता है।

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ॥

उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभव-
आत्मानित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदास्यात्सदा । ४ । ५ ।(समयसार कलश।)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि ने अपनी बुद्धि पूर्वक या रुचि पूर्वक होने वाले सर्व राग को तोस्वयं छोड दिया है परन्तु जो रागादिक भाव अबुद्धिपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से होजाते हैं उनको जीतने के लिये अपने आत्मबल का वह उपयोग करता है। वह सब प्रकार परद्रव्य से प्रवृत्ति को हटाता हुआ अपने में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है। सम्यक्त्वी इस प्रकार के तत्वज्ञान को भले प्रकार जान कर आत्मा को बंध रहित मानता है। कहा भी है—

"येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्यबंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१ ॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

अर्थ—जितने अंश में ज्ञान है उतने अंशमें उस महात्मा पुरुष के कर्मबन्ध नहीं है और जितने अंश में रागवर्तता है उतने ही अंशों में उसके कर्मबन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान स्वयं ज्ञान रूप है। इसलिये वह बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि अपने आप में तवलीन होता है। जडकी ओर वह कभी नहीं झुकता। सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मा का अटल श्रद्धान है वह कदापि उस आत्मश्रद्धान से विचलित नहीं होता। उसका यहां एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। जैसे एक पुरुष का एक स्त्रीसे गाढ प्रेम था। एक समय राजा ने किसी अपराध में उसे जेल खाने में बन्द कर दिया और ऐसी कोठरी में डाल दिया जिसमें घोरान्धकार था, कुछ भी दिखाई नहीं देता, फिर उस कोठरी का द्वार बंद करदिया गया। ऐसी अंधेरी कोठरी में नेत्र बंद करलेने पर भी उस पुरुष का उस स्त्री का मुख साक्षात् व्यक्त दिखाई देता था-कारण कि उसका हृदय स्त्री-प्रेम से ओतप्रोत था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मा का पूर्ण रूप से श्रद्धान होने से व्यक्त अनुभव होता है। उसका सांसारिक आवरण कुछ नहीं कर पाते एवं तीन लोकके जीव देव, तथा विद्याधर भी सम्यक्त्व से विचलित नहीं कर सकते। ऐसा ही सम्यग्दर्शन अबन्ध का कारण है।

सम्यग्दृष्टि के किस प्रकार की निर्जरा होती है

यद्यपि कर्म बन्ध होने के बाद आबाधा काल को छोड़कर शेष अपनी बंधी हुई स्थिति में समय २ कर्म पुंज बटवारे के अनुसार उदय में आकर झड़ जाते हैं। और यदि कुछ कर्मों की दशा में परिवर्तन होतो उस के अनुसार समय २ पर झड़ते जाते हैं। इस प्रकार की

निर्जरा को सविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सर्व संसारी जीवों के हुआ करती है। किन्तु इस प्रकार की निर्जरा से आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि बहुधा सविपाक निर्जरा के होते हुए भाव रागद्वेष और मोह रूप होजाते हैं। उन भावों से नवीन कर्मों का बन्ध जरूर होता है। अतः उस निर्जरा को गजस्नान की उपमा दीगई है। आत्म-शुद्धि का उपाय तो अविपाक निर्जरा है।

जब कर्म अपनी स्थिति को घटा कर शीघ्र ही आत्मा के संसर्ग को छोड़ दे और जब कर्म-निर्जरा के साथ संवर भी होता हो अर्थात् नवीन कर्म नहीं बंधते हैं तभी निर्जरा का वास्तविक उपयोग है; क्योंकि यह संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् उपाय है।

जब तालाब में नया पानी आना बन्द होजाता है या कम आता है और पहले का भरा पानी बाहर निकाल दिया जाता है तब वह तालाब पानी से शीघ्र ही खाली हो जाता है। ऐसे ही नये कर्मों का आना बन्द हो जावे और संचित कर्मों की निर्जरा हो जावे तब आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि के ही होती है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यह कहा है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के उन ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाता है जो दुर्गति प्राप्ति की कारण भूत हैं और अनन्त संसार में भ्रमण करने वाली हैं।

साधारण रीति से विचार किया जावे तो सम्यक्त्व होने के पहले आयु कर्म को छोड़ कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति २०-३०-४० या ७० कोड़ाकोड़ी सागर की होती है। उसको घटा कर कर्मों को शीघ्र ही उदय में लाकर खिरा देना सम्यक्त्वी के ही हुआ करता है। सम्यक्त्वी के कर्मों के उदय से जो सुख व दुःख की अवस्था हुआ करती है उसमें वह हर्ष विषाद नहीं करता। इसलिये कर्मों की निर्जरा अधिक होती है और बंध कम। बंध अल्पस्थिति एवं अनुभाग को लिये उन्हीं प्रकृतियों का होता है जो उस गुणस्थान में सम्भव है जिसमें वह सम्यग्दृष्टि विद्यमान रहता है। यह सम्यग्दृष्टि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से लाचार होकर सांसारिक कार्य में वर्तता है। परन्तु मनमें यह ही समझता है कि मैं इनका कर्ता भोक्ता नहीं हूँ; मुझ को यह कर्म रोग लगा है। परन्तु मैं इस रोग से और इसके इलाज से दोनों से पृथक हूँ। सम्यक्त्वी सदा यह भावना भाता रहता है; क्योंकि उसका कोई नहीं है वह तो अकेला है। कहा भी है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइ ओसयारूवी
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्त वि ॥ ३८ ॥ [समयसार कुन्दकुन्द स्वामी]

अर्थ—मैं निश्चय से सदा ही एक अकेला हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय अमूर्तिक हूँ, मेरा संसार में परमाणु मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ—जैसी पत्ती पींजरे में पराधीन होकर बंधा है, चाहे वह पींजरा कितना ही सुन्दर हो पत्ती उसको नहीं चाहता, वह तो स्वतंत्रता का प्रेमी है, पींजरा उसके लिए कैद खाना है। वह प्रतिक्षण उससे छूटना चाहता है। वैसे ही सम्यक्त्वी पुरुष आत्म रस के पान के अनुभव का प्रेमी होता है। आत्म कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य में रुचिवान नहीं होता। तथापि कर्मों के उदय से जो मन वचन काय की क्रिया करता है, उसको अरुचि पूर्वक लाचारी से करता है। ज्यों ही उसमे छुट्टी पाता है, त्यों ही आत्म-ध्यान मे रमण करने लग जाता है। अपनी बुद्धि में जैसे आत्म ज्ञान को चिर काल धारण करता है वैसे अन्य कार्य को नहीं धारण करता है, सो ही कहा भी है।

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धो धारयेच्चिरम्
कुर्यादर्थवशात्किंचित्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥" ५० [समाधिशतक पूज्यपादकृत]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान के अतिरिक्त बुद्धि में बहुत समय तक किसी अन्य चीज को धारण नहीं करता। लौकिक प्रयोजन वश जो कुछ करता है वह अनासक्त होकर शरीर और वाणी से करता है।

समयसार के निर्जराधिकार मे आचार्य कुंदकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठि त सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि उदास भाव से इन्द्रियो के द्वारा चेतन व अचेतन द्रव्यों का भोग करता है, वह सब कर्म निर्जरा के वास्ते हैं। इसका भाव यह है कि निर्जरा जितनी होती है। उसकी अपेक्षा बन्ध बहुत कम होता है अर्थात् उस बंध में कर्मों की स्थिति और अनुभाग बहुत कम पड़ता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो ज्ञाता दृष्टा है। कहा भी है—

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुह दुक्ख मुदिएणं वेददि अहणिज्जरं जादिह २०३ [समयसार]

अर्थ—द्रव्य को भोगते हुए नियम से सुख या दुःख होता है। उसके उदय में आये हुए सुख दुःख में वह सम्यक्त्वी ज्ञाता दृष्टा होता हुआ हेय बुद्धि से भोग लेता है। इसलिये उन उदय प्राप्त कर्मों की निर्जरा अधिक होती है।

सम्यग्दृष्टि के विचार

पुग्गलकम्मं कोहो तस्सविवागोद ओहवदि एसो ।

णहु एस मज्झ भावो जाणग भावोदु अहमिक्को । २०७ ।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।

णदु ते मज्झ सहवो जाणग भावोदु अहमिक्को । २१० ।

एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।

उदयं कम्मविवागं च मुआदितच्चं वियाणं तो २०६ [समयसार]

अर्थ--सम्यक्त्वी ऐसा समझता है कि जब उसके क्रोध का उदय आता है तब वह जानता है कि यह पुद्गल रूप कर्म द्रव्य क्रोध का उदय रूप विपाक भाव है। यह मेरा आत्मीय भाव नहीं है। मैं तो निश्चय से इस भाव का जानने वाला हूं। जो भावों में कलुषता हुई है वह कर्म का रस है। मेरा ज्ञान स्वभाव इस रूप नहीं है। यह भाव पर है सो त्यागने योग्य है। २०७।

जिनेन्द्र ने यह बताया है कि कर्मों के उदय होते हुए उनका फल अनेक प्रकार का हुआ करता है। इन आठों ही कर्मों का उदय मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक मात्र स्वभाव वाला हूँ। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, शोक, योग, भोग, शङ्का आदि अनेक अवस्थायें इस जीव के संसार में हुआ करती हैं। ऐसा विचार कर उनमें रक्त नहीं होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वी अपने आपको ज्ञायक (ज्ञाता द्रष्टा) स्वभाव वाला ही अनुभव करता रहता है। और कर्मों के उदय को अपने से भिन्न जानकर एवं अपने आत्म तत्व को ही निज स्वभाव मानकर उसमें ही संतोष करता है।

सम्यक्त्व सहित आत्मा सुख दुख का भोग अनासक्त होकर करता है इससे उसके असंख्य गुणित निर्जरा होती है। इसका कारण यह है कि वह प्राप्त भोगों में सदा वियोग बुद्धि रखता है। उन्हें हेय समझता है। कहा भी है—

भोगों में सम्यक्त्वी की विरक्ति

उप्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धि य तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वे देणाणी २१५ [समयसार निर्जरा अधि.]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव को जो वर्तमान काल में कर्मों के उदय से भोग प्राप्त होते हैं, उनमें ही नित्य वियोग बुद्धि रखता है, वह ज्ञानी पुरुष वर्तमान भोगों में जब हेय बुद्धि रखता है, तो भावों में भोगों को इच्छा कैसे रखेगा। क्योकि सम्यक्त्वी पुरुष के गाढ़ रुचि अपने आत्मीय आनन्द भोगने की ही होती है। उसके सामन वह संसार भोगों को कटुक व विष तुल्य समझता है।

सम्यक्त्वी निर्लिप्त होता है

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वे सुकम्ममज्झ गदो

णो लिप्पदि रएणदु कद्दममज्झे जहा कणयं। २१८।

अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो

लिप्पदि कम्मरएणदु कद्दममज्झे जह लोहं। २१९। [समयसार निर्जरा अधि.]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्मों के मध्य पड़ा हुआ भी सब पर द्रव्य (चेतन वा अचेतन) मे राग भाव को त्यागता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त नहीं होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों को अपना स्वभाव समझता है। अतः उसके मध्य पड़ा हुआ सब पर द्रव्यों से रागी होता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त हो जाता है। जैसे लोहा कीचड़ में फसा जंग खा जाता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि की अवस्था होती है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि के भीतर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश है जिसके कारण कर्म से नहीं बंधता है। और मिथ्यादृष्टि के अन्दर मिथ्याज्ञान है अतः कर्मों से बंध जाता है। ज्ञानी आत्म रसिक है एवं अज्ञानी विषय भोग रसिक है। अज्ञानी का अभ्यंतर कर्मों से लिप्त है। कहा भी है—

ज्ञानिनो नहि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति।

रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतेव बहिर्लुठतीह। १६। [समयसार कलशा]

अर्थ—ज्ञानी के भीतर राग रस की शून्यता होती है। इसलिये उसके कर्मों का उदय ममता भाव को प्राप्त नहीं करता है। जैसे जिस वस्त्र को कषायित न किया गया हो उसके ऊपर रंग का संयोग होते हुए भी वह रंग बाहर ही बाहर रहता है, वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता।

चौथे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं। इन सब सम्यग्दृष्टियों के कर्मों की निर्जरा बराबर नहीं होती। इसका कारण यह है कि चौथे से ऊपर के गुणस्थानों में चारित्र की वृद्धि होती रहती है इसलिए निर्जरा की वृद्धि भी होती है। बात यह है कि कर्म निर्जरा का कारण आत्म-रमण है। आत्म-रमण का क्रम जैसे २ बढता जाता है वैसे २ निर्जरा भी बढती जाती है। आगे बतलाये हुए स्थानों में असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है यह बतलाते हैं :—

असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंखगुणि कम्मणिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी तत्तो य महव्वईणाणी। १०६।
पढमकसाय च उण्हं विजोज ओतहयखवयसीलोय।
दंसणमोहतियस्सय तत्तो उवसमगचत्तारि। १०७।
खवगोयखीणमोहो सजोइणा हो तहा अजोईया।
एदे उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया। १०८। [स्वामि कार्तिक]

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि जीव के जो निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुणी असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है। इससे देशव्रती श्रावक के असंख्यात गुणी, इससे असंख्यात गुणी छठे गुणस्थान वर्ती विरत के,इससे असंख्यात गुणी अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले अर्थात् अप्रत्याख्यानादि रूप परिणाम के होती है इससे असंख्यात गुणी निर्जरा दर्शन मोह को क्षय करने वाले के होती है, इससे असंख्यात गुणी उपशम श्रेणी के तीनों गुणस्थानों में होती है, इससे असंख्यात गुणी उपशान्त मोह ग्यारहवें गुण स्थानेवालों के होती है। इससे असंख्यात गुणी क्षपक श्रेणी के तीनों गुण स्थानों में होती है इससे असंख्यात गुणी क्षीण मोह बारहवें गुण स्थान में होती है इससे असंख्यात गुणी संयोग केवली के होती है, इससे असंख्यात गुणा अयोग केवली के होती है। इस प्रकार ऊपर २ असंख्यात गुणाकार है। इस कारण इसको गुण श्रेणी निर्जरा कहते हैं।

सर्वार्थसिद्धि के मन्तव्य से ये सर्व स्थान एक २ अन्तर्मुहूर्त तक के हैं। जब परिणाम समय २ अनन्त गुणे विशुद्ध होते जाते हैं, हर एक अन्तमुहूर्त में भी समय २ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अवस्था से अवस्थान्तर होने से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। सम्यक्त्व के सम्मुख अपूर्वकरण लब्धि से यह निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। कहा भी है—

उवसमभावतवाणं जहजह बड्डी हवेइ माहूणं।

तह तह णिज्जर बड्डी विसेसदो धम्मसुक्कादो। १०५। [स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—साधुओं के जैसे २ शान्त भावों की वृद्धि होती जाती है वैसे २ निर्जरा बढ़ती जाती है। धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान से विशेष निर्जरा होती है।

अधिक निर्जरा होने के कारण

ऊपर जो गुण श्रेणी निर्जरा के स्थान बताये हैं इससे अधिक गुणाकार रहित निर्जरा नीचे लिखे कारण से होती है।

जो विसहदि पुव्वयणं साहम्मिय हीलणं च उवसग्ग।

जिण ऊण कषायरिउतस्स हवे णिज्जरा विउला १०६ [स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो मुनि दुर्वचन सहे, साधर्मी मुनि अथवा गृहस्थी के द्वारा अनादर को सहन करे, और मानुषिक अथवा देवादि कृत उपसर्ग को सहन करे तथा कषाय रूपी शत्रुओं के चंगुल में न फस कर एवं उनके वशीभूत न होकर शान्त परिणाम रखे–उसके बहुत अधिक गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

रिणमोयणुव्व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।

पावफलं मे एदे मयावियं मंचिदं पुव्वं। ११०। [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो मुनि उपसर्ग और तीव्र परिषह को ऐसा माने कि मैंने जो पूर्व जन्म में पाप का संचय किया है उसका यह फल है, ये मेरे किये हुए कर्म छूट रहे हैं। ऐसा समझ कर आकुलता न करने से बहुत निर्जरा होता है।

जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुहं ।

दंसणणाणचरित्त सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं । १११ । [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो मुनि इस शरीर को ममता जनक विनाशी और अशुचि मानता है तथा जिसके दर्शन ज्ञान और चारित्र नित्य निर्मल बने रहते हैं अर्थात् निज स्वरूप में सदा रमण करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है ।

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं ।

मणइंदियाण विजई समरूवपरायणो होदि । ११२ । [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो साधु अपने विचारों से अपने दुष्कृत की निन्दा करे और गुणवानों का बहुत मान करे, तथा मन और इन्द्रियों का विजयी हो और आत्म-स्वरूप में लवलीन हो, उसके बहुत निर्जरा होती है ।

तस्स य सहलो जम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि ।

तस्स वि पुण्णं वड्ढइ तस्स य सोक्खं परोहोदि ११३ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—उस साधु का (ऊपर के श्लोक में वर्णन किये गये का) जन्म सफल है, उसके पापों की निर्जरा होती है, उसके पुण्य की वृद्धि होती है, उसे उत्कृष्ट सुख अर्थात मुक्ति के सुख की प्राप्ति होती है । उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जोवो विरायसंपण्णो

एसो जिणोव एसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज । १५० । [समयसार अधि. ३]

अर्थ—रागी जीव कर्मों को बांधता है और विरागी जीव कर्मों से छूटता है । इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है इसलिये हे भव्य ! तू इन कर्मों में रंजायमान मत हो ।

कर्मों की दश अवस्थाएँ

बंधुक्कट्टणकरणं संकममोकट्टुदीरणासत्तं।

उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी। ४३९। [गोमटसार कर्मकांड]

अर्थ—१ बंध २ उत्कर्षण ३ संक्रमण ४ अपकर्षण ५ उदीरणा ६ सत्व ७ उदय ८ उपशम ९ निधत्ति १० निकाचना इस प्रकार ये दश करण हरेक प्रकृति के हुआ करते हैं।

कषाय और योग ही इस बंध में कारण हैं। कषाय रहित योग से जो कार्माण वर्गणायें आती हैं वे सातावेदनीय रूप परिणमने योग्य आती हैं और एक समय मात्र स्थिति रूप रहती है। दूसरे समय में वे झड़ जाती हैं।

कषाय की विचित्रता ही कर्म बन्ध में अनेक प्रकार कारण हो जाती है। ठीक २ विचारा जावे तब तो यही बात निश्चित होती है कि कर्म बन्ध में वस्तुतः मोहनीय कर्म का उदय ही कारण है। अन्य किसी कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं है। उसके दो भेद हैं १ दर्शन मोह २ और चारित्र मोह। इनके अभाव में बन्ध होना रुक जाता है। और जब मोह कर्म का क्षय कर दिया जाता है तब शेष कर्म बहुत ही शीघ्र छूट जाते हैं। ऊपर जो कर्मों की दश अवस्थायें बताई हैं उनके स्वरूप का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हैं।

बन्ध करण

१ बन्ध—कार्माण वर्गणायें अपने पुद्गल नाम को छोड़ कर ज्ञानावरणादि नाम को प्राप्त कर जीव के योग और मोह भाव के कारण आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही (एक क्षेत्र में ठहरने पने को) प्राप्त हो जाती हैं। अर्थात् उनमें जीव के गुणों के घातने की व साता तथा असाता कारी सम्बन्ध को मिलाने की शक्ति हो जाती है। इस कार्य को बन्धकरण कहते हैं।

जिस समय कर्मों का आस्रव होता है उसी समय उनका बन्ध होता है। बंध होते समय प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग ये चारों बातें एक साथ पैदा हो जाती हैं। जिस जाति के कर्म बंधते हैं वैसे ही प्रकृति कहलाती है। जितनी संख्या में परमाणु बंधे वह प्रदेश कहलाता है। कितने काल की मर्यादा पड़ी, वह स्थिति बन्ध कहलाता है। कैसी तीव्र या मंद फल देने रूप शक्ति पड़ी उसे अनुभाग कहते हैं।

उत्कर्षण करण

(२) उत्कर्षण—किसी एक समय में बांधे हुए कर्मों में जीव के परिणामों के निमित्त से स्थिति और अनुभाग का बढ़ जाना सो उत्कर्षण करण है।

भावार्थ—जिस समय किसी पाप कर्म को किया था उससे पाप कर्मों को बांधा था, पीछे यदि वह अपने किये हुए पाप कर्मों की बड़ी आत्म-प्रशंसा करता है और अपनी कषाय को बढ़ा लेता है, तो उस समय में बांधे हुए पाप कर्मों की स्थिति बढ़ जायगी और अनुभाग भी तीव्र हो जायगा अर्थात वह उत्कर्षण करण है।

संक्रमण करण

(३) संक्रमण—एक कर्म की प्रकृति को बदल कर दूसरे कर्म रूप हो जाना संक्रमण करण है।

भावार्थ—मूल आठ कर्मों में परस्पर तो संक्रमण नहीं होता। हर एक मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण हो सकता है। जैसे मिथ्यात्व कर्म का मिश्र में, व मिश्र का सम्यक्त्व में, व साता वेदनीय का असाता वेदनीय व असाता का सातावेदनीय में, उच्च गोत्र का नीच गोत्र में व नीच गोत्र का उच्च गोत्र में, क्रोध का मान में, मान का माया में, माया का लोभ में इत्यादि परस्पर में संक्रमण हो जाता है। परन्तु मोहनीय कर्म के भेद दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय रूप, चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय रूप नहीं होता और न चारों आयु कर्म का संक्रमण होता है। जीवों के परिणामों के निमित्त से किसी कर्म की वर्गणाओं की प्रकृति अन्य प्रकृति रूप पलट जाती है। इस प्रकार मूल प्रकृति में संक्रमण कदापि नहीं होता।

अपकर्षण करण

(४) अपकर्षण—किसी समय में बांधे हुए कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को अपने परिणामों के द्वारा घटा लेना अपकर्षण है।

भावार्थ—जैसे किसी ने मनुष्यायु १०००वर्ष की स्थिति तीव्र अनुभाग सहित बांधी थी। पीछे आयु बन्ध के दूसरे अपकर्ष काल के समय कुछ उसके परिणामों में मलिनता आगई। वैसी अल्प ममता नहीं रही या वैसा मार्दव भाव नहीं रहा जैसा पहिले आयु बन्ध के समय में था। तब वह जीव मनुष्यायु की स्थिति घटा कर १०० वर्ष की या इससे कम ज्यादा कर सकता है। और अनुभाग भी उसका कमती कर सकता है। जैसे राजा श्रेणिक ने सप्तम नरक की आयु तेतीस सागर की बांधी थी, पीछे क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाने पर आयु कर्म का अपकर्षण कर डाला। अर्थात् उसकी ८४००० वर्ष की स्थिति रह गई।

उदीरणा करण

(५) उदीरणा—जो कर्म बांधे थे उनकी आबाधा अभी पकने वाली नहीं है। अर्थात् उनकी अवधि अधिक है। उनकी अवधि (स्थिति) घटा कर उन कर्मों को अपने आबाधा काल के पहले ही उदय की आवलीकाल के भीतर रख देना जिससे वे कर्म जो पीछे फल देते शीघ्र ही फल देने लग जावें, इस अवस्था को उदीरणा कहते हैं।

भावार्थ—जैसे किसी को अन्नादिक नहीं मिलने से तीव्र क्षुधा की बाधा सता रही है, उस समय पर असातावेदनीय कर्म की कुछ वर्गणाओं को उदीरणा होने लगती है। अर्थात् वे अपने उदय के समय से पहले ही उदय होकर फल प्रकट करने लगती है। अथवा भोगी जाने वाली आयु कर्म की उदीरणा उस समय किसी जीव के हो जाती है जब वह विष खाकर या अग्नि में जल कर वा श्वासोच्छ्वास का निरोध कर या ऐसे ही और भी कई कारण हैं जिनको मिला कर मरण कर जावे, तब आयु कर्म की सब वर्गणाएं एकदम उदय में आकर खिर जावे और उस प्राणी को यह शरीर छोड़ना ही पड़े।

सत्व करण

(६) सत्व या सत्ता—कर्मों का बंध हो जाने पर जब तक वे कर्म उदय, उदीरणा, या निर्जरा को नपाकर आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप बैठे रहें, उनकी इस मौजूदगी को सत्व या सत्ता कहते हैं।

उदयकरण

(७) उदय—कर्मों का अपनी स्थिति पूरी होते हुए उदय आना या फल दिखाकर झड़ जाना। बहुधा जो कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदय आते हैं,बाहरी द्रव्य,क्षेत्र,काल और भाव का निमित्त न पाकर बिना फल दिखाये झड़ जाते हैं। यदि निमित्त अनुकूल होता है तो फल दिखाकर झड़ते हैं। यह बात ऊपर दिखा चुके हैं कि कर्म बन्धन के पीछे आबाधा काल छोड़ कर शेष अपनी सर्व स्थिति में बट जाते हैं और फिर इसी बटवारे के अनुसार समय २ पर झड़ते रहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, चारों कषायों का बन्ध तो एक साथ (एक समय) हो सकता है; परन्तु उदय एक समय में एक का ही होता है। इसका भाव यह है कि चारों कषायों की वर्गणाएं हर समय अपने बटवारे के अनुसार झड़ती हैं; परन्तु जिसका बाहरी निमित्त होता है, उसका उदय कहलाता है, यद्यपि उनकी वर्गणायें भी अवश्य झड़ती हैं। इस प्रकार और कर्मों में भी अवस्था होती रहती है। इसलिये जो कर्म फल प्रगट कर खिरते हैं उनके उदय को रसोदय कहते हैं और जो बिना फल किये ही झड़ जाते हैं उनके उदय को प्रदेशोदय कहते हैं। इस प्रकार के शब्द व्यवहार में प्रचलित हैं।

उपशम करण

(८) उपशम—कर्म वर्गणाओं के उदय काल में आने को अशक्य कर देना उपशम कहलाता है।

भावार्थ—जैसे मिथ्यात्व कर्म का उदय बराबर जारी है ! उस कर्म के उदय को कुछ काल के लिये रोक देना या उसको दबा देना उपशम कहलाता है।

निधत्ति करण

(९) निधत्ति—जिन कर्मों का ऐसा बन्ध हुआ हो कि उनका न तो संक्रमण किया जा सके,और न उनको शीघ्र उदय में लाया जा सके, यद्यपि उनमें स्थिति व अनुभाग का उत्कर्षण तथा अपकर्षण हो सकता है, उन कर्मों की ऐसी स्थिति को (अवस्था को) निधत्ति कहते हैं।

निकांचित करण

(१०) निकांचित—जिन कर्मों का ऐसा बन्ध हो कि न तो उनका संक्रमण किया जा सके, न शीघ्र उदय में लाया जा सके, न उनमें स्थिति या अनुभाग का उत्कर्षण या अपकर्षण किया जा सके, अर्थात् वे जैसे बन्धे थे वैसे ही फल देकर झड़ें, उन कर्मों की ऐसी दशा को निकांचित कहते हैं। इस तरह कर्मों की दश अवस्थाओं का वर्णन किया। ऐसे कर्मों की निर्जरा करने वाला जो जीव है उसको सिद्धान्त दृष्टि से सम्यक्त्वी कहते हैं।

ऐसे सम्यग्दृष्टि के सामान्यतया स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं।

सम्यक्त्वी का सामान्य स्वरूप का उपसंहार

सम्यक्त्वी का जीवन बड़ा पवित्र होता है। वह अपने आप को कर्त्ता भोक्ता नहीं मानता। वह बन्धन मुक्ति का स्वरूप अच्छी तरह समझता है। संसार, शरीर और भोगों की हेयता और आत्मतत्व की उपादेयता का उसके निश्चल श्रद्धान रहता है। वह सुमेरु की तरह दृढ़ होता है। जगत के बाह्य पदार्थों का संसर्ग उसके लिए एक प्रकार का रोग है, उससे वह मुक्त होना चाहता है। ज्ञान ही उसका धन है क्योंकि यही अजर अमर है। इसमें उसे जो अनन्द आता है उसकी विशेषता आत्मानुभूति के बिना नहीं जानी जा सकती। यह स्वयं ही अपना साध्य और साधक है। यथा :—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मासिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् । १५ । [समयसार कलशा]

अर्थ—यह आत्मा सदा ही ज्ञान का समुदाय रूप है। यह ही साध्य है, और यह ही साधक है। इस प्रकार दो रूप होकर भी एक है। ऐसा समझकर जो सिद्धि चाहते हैं उनको ऐसी उपासना करना योग्य है। और भी कहा है—

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः, पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। २१ । [तत्वसार]

अर्थ—पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों रूप मोक्ष मार्ग है; परन्तु द्रव्यार्थिकनय या निश्चयनय से सर्वदा ही अद्वितीय एक ज्ञाता आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। और भी कहा है—

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां । १६३ । [तत्वानुशासन]

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मय होने से सामान्यतथा विशेष स्वरूप आत्मा को अपने ही आत्मा के द्वारा श्रद्धान करते हुए जानते हुए व उदासीन होते हुए, अनुभव करो ये ही सम्यग्दर्शन है। और भी कहा है—

झाणेण कुणउभेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं ।
घेतव्वा णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो । २५ ।
मलरहिओणाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिस ओदेहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो । २६ । [देवसेनाचार्यकृत तत्वसार]

अर्थ—ध्यान के बल से जीव का तथा पुद्गल और कर्मों का भेद करके अपने आत्मा को सिद्ध रूप व परम ब्रह्म स्वरूप निश्चय से समझ कर ग्रहण करना चाहिये। जैसे सिद्ध अवस्था मे सिद्ध भगवान सर्व मल रहित तथा ज्ञानमय विराजते हैं। उसी प्रकार (स्व) अपने

शरीर के भीतर परम ब्रह्म स्वरूप आत्मा विराजता है। सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है। जो ऐसा करता है। वही निश्चय सम्यग्दृष्टि है।

यह आत्मा निश्चय से या अपने स्वरूप से सर्व आत्मा व अनात्माओं से रहित है। आप आप रूप ही है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व चारित्र रूप है। अमूर्तिक है, परम निर्मल आकाश के समान निर्लेप है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीर प्रमाण अपने आकार को रखने वाला है। द्रव्य अपेक्षा नित्य है। पर्याय को अपेक्षा परिणमनशील या अनित्य है। अपने गुणों से व पर्यायों से सदा तन्मय है। और भी कहा है—

"स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रोनिरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मालं कालोकविलोकनः। २१।"

अर्थ—यह आत्मा लोक व अलोक का ज्ञाता दृष्टा (जानने वाला) है, अनन्त सुख स्वरूप है, अविनाशी है, शरीर मात्र आकार धारी है, स्वसंवेदन या स्वानुभव से ही अनुभव में आकर प्रकाशित होता है।

निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति उस समय तक नहीं होती, जिस समय तक सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश एवं विकास अपने आत्मा में न हो। इस सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन अर्थात् मिथ्यात्व भाव मिथ्यात्व कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय के कारण अनादि काल से इस संसारी जीव के हो रहा है। जब तक यह उदय न हटे तब तक सम्यक्त्व गुण प्रगट नहीं होता है। इससे मुमुक्षु भव्य जीवों का यह परम पुरुषार्थ होना चाहिये कि वह उस उदय को उपशमन करके सम्यक्त्व गुण का लाभ करें। कहा भी है—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वं
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थ सिद्ध्यु पायोऽयम् २५ [अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थ सि.]

अर्थ—विपरीत अभिप्राय (मिथ्यात्व श्रद्धान) को दूर करके और भले प्रकार अपने आत्म रूपी तत्व को निश्चयकर के उस तत्व से चलायमान न होना अर्थात् उसमें दृढता रखना ये ही पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है। यही परम पुरुषार्थ है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मा का श्रद्धान कर अपनी आत्मा को पूर्ण रीति से अनुभव कर उसी में स्थिर रहना अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र में स्थिर रहने कर्म बन्धन को काटने का मुख्य कारण है। ऐसे आत्मस्थित आत्मा को ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं। और उसी आत्मा को सिद्धान्त शास्त्रों में निर्बन्ध घोषित कहा है। अन्यथा नहीं। ऐसे आत्मा के जो आगामी बन्ध का अभाव माना है, सो दर्शन मोह जनित बन्ध

का अभाव है, न कि चारित्र मोह जनित बन्ध का। सम्यक्त्वी के भी जो कर्म पूर्व बन्ध चुके हैं वे सत्ता में मौजूद रहते हैं। बिना आबाधा काल के उदय आये वे कर्म निर्जरित नहीं होते हैं। इस प्रकार के बन्ध को निर्बन्ध करने के वास्ते उस आत्मा के निज स्वभाव चारित्र में स्थिर होना एवं उसका अवलम्बन लेना बताया है, कि निज स्वभाव में स्थिर हुए बिना पूर्व या आगामी बन्ध का विध्वंस नहीं होता है। इसलिये उसमें चारित्र की आवश्यकता पड़ती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होजाने पर भी जब तक चरित्र नहीं होता है तब तक आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता और उसको कभी मुक्ति नहीं हो सकती चरित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। वह निश्चय चारित्र है उस चारित्र का साधक व्यवहार चारित्र है वह सम्यक्त्वी को धारण करना पड़ता है। उस चारित्र (संयम) के दो भेद हैं एक सकल संयम दूसरा देश संयम। सकल संयम का व्याख्यान तो हम इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में कर चुके हैं। अब देश संयम जिसको श्रावक धर्म कहते हैं उसका व्याख्या किया जा रहा है।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रंथ के उत्तरार्द्ध की सम्यग्दर्शनाधिकार
नामक प्रथम किरण समाप्त हुई।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

उत्तार्द्ध-द्वितीय किरण

(गृहस्थ धर्म)

संयम—प्रकाश

उत्तरार्द्ध

द्वितीय किरण

पाक्षिकाचाराधिकार

* मङ्गलाचरणम् *

नमः श्रीवीरनाथाय विनष्टाशेषकल्मषे ।
अनन्तज्ञानयुक्ताय धर्मतीर्थप्रवर्तिने ॥ १ ॥

अर्थ—मैं संयम प्रकाश ग्रन्थ के श्रावक धर्म अधिकार के प्रारम्भ में घातिया कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय—के क्षय करने वाले, वीतरागी, अनन्त विज्ञान सहित सर्वज्ञ तथा धर्मतीर्थ के प्रधान नेता २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करता हूँ ।

"दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्यसुखमीप्सितः तम्"

अर्थात्—संसार के समस्त प्राणी दुःखों से डरते हैं तथा सुख की अभिलाषा करते हैं ।

कोई भी प्राणी भूख प्यास आदि सहज दुःख, वात पित्त और कफ की विषमता से होने वाले बुखार गल गण्डादिक शारीरिक दुःख, अति वृष्टि—(अत्यन्त वर्षा) अनावृष्टि—(बिलकुल वर्षा न होना) आदि आगन्तुक दुःख, तथा मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य-भक्षण से होने वाले, अथवा मिथ्यात्व अज्ञान और असंयम से होने वाले संसार रूपी कारावास के आवागमन आदि के अन्तरङ्ग दुःखों से दुःखी नहीं

होना चाहता। सभी की इच्छा वास्तविक सुख प्राप्ति की है। उस वास्तविक सुख की प्राप्ति धर्म रूपी अमोघ औषधि के सेवन से हो सकती है। उस धर्म के विषय में आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है :—

"धर्मात् किलैषजन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः"

किं रूपः किं भेदः किमुपायः किं फलश्च जायेत ॥ १ ॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ—हे पूज्य ! धर्म के अनुष्ठान से प्राणी को वास्तविक सुख प्राप्त होता है। अतः कृपया उस धर्म का स्वरूप, भेद, उपाय, और फल कहिये।— उत्तर सुनिए—

यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥ १ ॥
स प्रवृतिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥ २ ॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणं।
संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादि चतुष्टयम् ॥ ३ ॥
सम्यक्त्वभावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु।
मोहसन्देहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥ ४ ॥
कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम्।
चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥ ५ ॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ—जिन कर्तव्यों के अनुष्ठान से मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो उसे शास्त्रकार धर्माचार्यों ने धर्म कहा है।

वह प्रवृत्ति निवृत्तिरूप–धर्म श्रावक और मुनियों द्वारा पालन किया जाता है। अर्थात् मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र में प्रवृत्ति करना संसार के कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, एवं मिथ्याचारित्र से निवृत्त होना ही धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है, और मिथ्यात्वादि चतुष्टय संसार के कारण हैं। तत्वार्थ सूत्र में भी कहा है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"।

युक्ति से सिद्ध–परमार्थ रूप–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों का यथार्थ–जैसे का तैसा (हेय, उपादेय और ज्ञेय रूप से) श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा उक्त जीवादि सप्त तत्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जैसे का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

चारित्र पालने में निपुण ऋषियों ने सम्यग्ज्ञानी का ज्ञानावरण आदि कर्मों के ग्रहण करने में निमित्त योग और कषायादि रूप क्रियाओं से निवृत्ति–दूर होना–उसे सम्यक् चारित्र कहा है।

सम्यक् चारित्र के भेद

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ॥ ४ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि के त्याग रूप सम्यक् चारित्र के दो भेद कहे गये हैं (१) सकल चारित्र (२) और विकल चारित्र। सर्व परिग्रह त्यागी मुनियों के सकल चारित्र होता है और परिग्रही श्रावकों के विकल चारित्र। सकल चारित्र का वर्णन मुनि. धर्म-निरूपण में किया जा चुका है।

अब श्रावकों के विकल चारित्र की विस्तृत व्याख्या की जाती है—

श्रावक का स्वरूप

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नः प्रत्यासन्नामृतः प्रभुः"
तस्याच्छ्रावकधर्मार्हो धर्मः सः त्रिविधो भवेत् ॥ १ ॥ [धर्म० श्रा०]

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो और जिसकी संसार की स्थिति निकट हो वही पुरुष श्रावक धर्म ग्रहण करने के योग्य होता है।

धर्म के तीन भेद

"पक्षचर्यासाधनञ्च त्रिधाधर्म विदुर्बुधाः"

तद्योगात् पाक्षिकः श्राद्धो नैष्ठिकः साधकस्तथा ॥ २ ॥ [धर्म० श्रा०]

अथ—महर्षियों ने पक्ष, चर्या और साधन इन भेदों से धर्म के तीन भेद किये हैं। इन तीनों के धारण करने वाले क्रम से पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावक के भी तीन भेद हो जाते हैं।

पक्ष और पाक्षिक का स्वरूप

"मैत्र्यादिभावनावृद्धं त्रसप्राणिवधोज्झनम्"
हिंस्यामहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषु च ॥ ३ ॥
सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः।
अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षीह पाक्षिकः ॥ ४ ॥ (धर्म० श्रा०]

अब विस्तार के साथ तीनों धर्मों का वर्णन किया जाता है। क्रम प्राप्त प्रथम पाक्षिक श्रावक का स्वरूप कहते हैं। संसार के प्राणियों में मैत्री भाव रखना, वे सब सुखी रहें ऐसा चिन्तन करना, गुणवानों को देखकर प्रमोद-हर्ष प्रकट करना और दुःखी प्राणियों को देखकर दया भाव रखना एवं धर्म से विपरीत चलने वालो में माध्यस्थ्य भाव रखना, रागद्वेष न करना, उक्त चारों भावनाओं से चारित्र संयम धर्म की वृद्धि करने को, एवं दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के त्याग करने को, तथा धर्म आदि के निमित्त जीव हिंसा न करने को पक्ष कहते हैं। अर्थात् उक्त प्रकार के संयम धर्म के पालने की प्रवृत्ति को पक्ष कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हो अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र और गुरू का ३ मूढ़ता, ६ अनायतन,८ मद और शंकादि आठ दोषों से रहित, तथानिशङ्कित आदि आठ अङ्ग सहित, यथार्थ श्रद्धा करने वाला हो तथा अतिचार सहित आठ मूल गुण एवं पांच अणुव्रतों (१ अहिंसाणुव्रत २ सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत) का जो पालन करने वाला हो और देव शास्त्र तथा गुरू की पूजन का अनुरागी हो, तथा आगे प्रतिमा रूप संयम धर्म पालने का इच्छुक हो, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

नैष्ठिक श्रावक का लक्षण

"दोषं संशोध्य संजातं पुत्रेन्यस्य निजान्वयम्" ।
त्यजतः सद्मः चर्यास्याश्रिष्ठावाकाम मेदतः ॥ ५ ॥
दृष्व्यादिदशधर्माणां निष्ठानिर्वहणं मता ।
तपाचरति यः सः स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः ॥ ६ ॥ [धर्म० श्रा०]

अर्थ—खेती व्यापार आदि आरम्भ के कार्यों से जो दोष उत्पन्न हुए हैं; उन्हें प्रायश्चित्त विधि से संशोधन करके अपने कुटुम्ब के भार को पुत्र को सौंप कर अथवा यदि पुत्र न हो तो किसी योग्य उत्तराधिकारीको सौंपकर गृह त्याग करने वाले के चर्यानैष्ठिक धर्म उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र रूप धर्म का, तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों के एक देश का पालन करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा गया है। वह साधक के उच्च पद का इच्छुक होता है।

साधन और साधक श्रावक का लक्षण

स्यादन्तेऽन्नेह कायानामुज्झनाद्ध्यानशुद्धिता ।
आत्मनः शोधनं ज्ञेयं साधनं धर्ममुत्तमम् ॥ ७ ॥
ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येष साधकः ।
श्रितापवादलिङ्गेन रागादिक्षयतः स्वयुक् ॥ ८ ॥ [धर्म० श्रा० ५ । ७ । ८]

अर्थ—मरण समय में अन्न और शरीरादिक से ममत्व छोड़ कर ध्यान की शुद्धि से आत्मा के शुद्ध करने को साधन नाम का धर्म समझना चाहिये।

अर्थात् अपवाद दृष्टि से रागद्वेष क्रोध मान माया और लोभ कषाय के नाश हो जाने से और वास्तविक दृष्टि से—राजमार्ग दृष्टि से—अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ के विशिष्ट क्षयोपशम हो जाने से, जिसने अपवाद लिङ्ग—नग्नमुनिमुद्रा को धारण कर ज्ञानानन्द स्वरूप

आत्मा का साधन किया है, उसको साधक श्रावक कहते हैं।

श्रावक के गृहस्थ धर्म के पालने की योग्यता निम्न प्रकार के सत्कर्तव्यों से होती है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज—
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः ॥
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागार धर्मं चरेत् ॥ ११ ॥ [सागार धर्मामृत]

अर्थ—जो पुरुष न्याय से वाणिज्य, कृषि आदि उपायों द्वारा द्रव्य कमाता है, सद्गुण और पूज्य माता पिता आदि हितैषियों को विनय करता है, सत्य एवं मीठे वचन बोलता है, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का परस्पर विरोध रहित सेवन करता है, ऊपर कहे हुए तीनों पुरुषार्थों के पालन में सहयोग देने वाली धर्म पत्नी से युक्त है, जो लज्जा सहित है, योग्य रीति से आहार और विहार करता है, सज्जनों की सत्संगति करता है, विचार शील एवं ज्ञानवान् है, कृतज्ञ–किये हुए उपकार को मानने वाला है, जितेन्द्रिय–इन्द्रियों को वश में करने वाला है, धर्म विधि को सुनता रहता है, दयालु है, पापों–हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, विश्वासघात, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा, कृतघ्नता आदि से जो भय करने वाला है, ऐसा पुरुष गृहस्थ धर्म सेवन का अधिकारी है।

भावार्थ—नीति युक्त–स्वामि द्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, चोरी, आदि अन्याय से रहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र, इन वर्णों के अनुकूल वाणिज्य आदि न्याय रूप जीविका के उपायों से धन कमाने वाला श्रावक ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है। क्योंकि जो अन्याय से धन कमाता है उसे राजा भी दण्ड देता है, और उसका लोक में भी अपमान होता है। इसलिये न्याय युक्त जीविका से धन कमाना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है; बिना धन के गृहस्थधर्म चल नहीं सकता।

आगे बताते हैं कि निम्न प्रकार के पुरुषों के पास धन नहीं रहता है—

तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

यः किमप्यसं चिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥ ७ ॥

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥ ८ ॥

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति सः कदर्यः ॥ ९ ॥

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणं ॥ १० ॥

कदर्यास्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥ ११ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—तादात्विक, मूलहर और कदर्य इन तीनों के पास धन नहीं रहता।

जो बिना विचारे कमाये हुए धन को खर्च करता है, अर्थात् आमदनी से भी ज्यादा खर्च करता है उसे तादात्विक कहते हैं।

जो अपने पिता तथा दादा की संचित कमाई को केवल खाता है—खर्च करता है, नया कुछ नहीं कमाता उसे मूलहर कहते हैं।

जो नौकर पात्रों तथा अपने कुटुम्ब को कष्ट पहुंचा कर धन को जमीन में गाड़ देता है उसे कदर्य—लोभी कहते हैं।

इन में तादात्विक और मूलहर का भविष्य में कल्याण नहीं हो सकता; क्योंकि वह दरिद्रता के कारण कष्ट उठावेगा।

लोभी का धन, राजा या कुटुम्बी एवं चोर इन में से किसी एक के हाथ लगेगा। इसलिये न्याययुक्त आजीविका से जो श्रावक धन कमाता है वही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

संसार में गृहस्थ के लिए धन की अनिवार्य आवश्यकता है। उस के बिना मनुष्य दरिद्र कहलाता है। दरिद्र के दुःखों का पार नहीं है। कहा भी है—

"दारिद्र्यादपरं नास्ति प्राणिनामरुन्तुदम्।

अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥ ६ ॥ [क्षत्र चूडामणि तृतीय लम्ब]

अर्थ—मनुष्यों को दरिद्रता से बढकर दूसरा कोई दुःख देने वाला नहीं है। निश्चय से दरिद्रता प्राणों के बिना निकले मरण है। और भी कहा है—

रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।
हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते ॥ ७ ॥
स्यादकिञ्चित्करः सोऽयमाकिञ्चन्येन वञ्चितः ।
अलमन्यैः स साकूतं धन्यवक्त्रं च पश्यति ॥ ८ ॥
संपल्लाभफलं पुंसां सज्जनानां हि पोषणम् ।
काकार्थफलनिम्बोऽपि श्लाघ्यते न हि चूतवत् ॥ ९ ॥ [क्षत्र चूडामणि तृतीय लम्ब]

अर्थ—निर्धन मनुष्य के प्रशंसनीय गुण भी प्रकाशित नहीं होते। खेद है कि और तो क्या कहा जावे, दरिद्र पुरुष की विद्या भी शोभा को प्राप्त नहीं होती। वह सदा धनवानों के मुंह की ओर ताकता रहता है; किन्तु मनुष्यों का धन पाना जब ही सफल-सुख दायक हो सकता है जब उस धन के द्वारा सज्जन धर्म पात्रों की सेवा की जावे। निश्चय से नीम का वृक्ष जिस का फल केवल कौवे के लिए है आम्र के वृक्ष के समान प्रशंसनीय नहीं होता है। और भी कहा है—

सखलु विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यः न तु स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव [नीति वाक्यामृत]

अर्थ—वही धन मनुष्यों का धन है जो कि परोपकार–दूसरों की भलाई में लगाया जावे अर्थात् जो दूसरों से भी भोग्य हो। और जो स्वार्थी लोभी पुरुषों का धन स्वयं केवल अपने आप भोगा जाता है वह रोग के समान है। क्योंकि उस धन से उसका भविष्य में कल्याण नहीं हो सकता। अतः न्यायुक्त धन हो परोपकार में व्यय होता है एवं न्याय से उपार्जन करने वाला धनी पुरुष ही धर्म का पात्र पूर्ण रूप स होने योग्य है।

यजन् गुण गुरून्—

अपने तथा दूसरों के उपकार करने वाले, सदाचार, सज्जनता, परोपकार, चतुरता, नम्रता आदि सद्गुणों को गुण कहते हैं। सत्कार, और प्रशंसा आदि से उन गुणों को पूज्य मानना गुण पूजा है।

माता, पिता, विद्या गुरु और आचार्य को गुरु कहते हैं। इनको प्रणाम करना, इनकी आज्ञा मानना तथा सेवा भक्ति करने को गुरु पूजा कहते हैं। अथवा जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा तप आदि आत्मिक गुणों में बड़े हों, पूज्य हों, उनको गुण गुरु कहते हैं। ऐसे

पुरुषों की सेवा भक्ति करना गुण गुरुओं की पूजा कहलाती है।

उक्त गुरुओं तथा गुण-गुरुओं की भक्ति पूजा करने वाला ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है। कहा भी है—

"व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यस्य-

परिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनय फलम्" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि व्रतों को पालने वाले त्यागी व्रती साधु आदि धर्मात्माओं तथा शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों एवं माता पिता आदि हितैषियों की सेवा भक्ति करना विनय कहलाती है। चारित्रवानों का विनय करने से पुण्य की प्राप्ति, विद्वानों का विनय करने से शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान और माता पिता आदि हितैषियों का विनय करने से सज्जनता, कुलीनता का परिचय आदि सब, विनय करने का फल है। कहा भी है—

गुरुद्रुहां गुणः को वा कृतघ्नानां न नश्यति।

विद्याऽपि विद्युदाभा स्यादमूलस्य कुतः स्थितिः ॥ ३३ ॥

गुरुद्रुहो न हि क्वापि विश्वास्या विश्वघातिनः।

अबिभ्यतां गुरुद्रोहादन्यद्रोहात् कुतो भयम् ॥ ३४ ॥ [क्षत्र चूडामणि द्वि. लम्ब]

अर्थ—माता, पिता और गुरु जनों से वैर विरोध करने वालों का कौनसा गुण नष्ट नहीं होता ? अर्थात् सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। उन लोगों की विद्या भी बिजली के समान क्षणस्थायी होती है। ठीक ही है कि जड़ रहित वृक्ष या महल की स्थिति कैसे हो सकती है ? तात्पर्य यह है गुरु विद्या का कारण है उससे द्रोह करने पर विद्या रूप कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

माता, पिता और गुरुजनों से वैर विरोध करने वाले कृतघ्न सम्पूर्ण संसार के नाश करने वाले हैं। अर्थात् उनकी संसार में प्रतीति नहीं रहती। अतः उनका कहीं पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो गुरुओं तक से द्रोह करने में नहीं चूकते वे लोग अन्यों के साथ विरोध करने से भयभीत होंगे—यह बात असम्भव है। और भी कहा है—

"कचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां न लङ्घयेत् किं नु खलु रामः
क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश"। [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—पुत्र का कर्तव्य है कि वह माता पिता की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करे, उसे उल्लङ्घन न करे, उस आज्ञा के पालन करने में उसे कितना ही स्वार्थ त्याग करना पड़े; वह उसकी जरा भी अपेक्षा न करे। परन्तु उसमें उसके नीति और धर्म की सुरक्षा रहनी आवश्यक है। क्या राजकुमार रामचन्द्र राजनैतिक शक्ति, सेना, कोष व पराक्रम से कम थे? जो कि अपने पिता राजा दशरथ की आज्ञा से बनवास स्वीकार किया। रामचन्द्र ने शक्तिशाली होते हुए भी अपने पिता राजा दशरथ की कठोरतम आज्ञा (बनवास को जाने) का पालन किया, उसमें उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। उन कष्टों की उन्होंने जरा भी परवाह नहीं की। राज्य सम्पत्ति को छोड़कर बनवास को प्राप्त हुए।

हमारे जन्म लेने के समय हमारे माता पिता जो दुःख और क्लेश सहन करते हैं। यदि उसका कोई बदला चुकाना चाहे तो वह उनकी सौ वर्ष सेवा करने पर भी नहीं चुका सकता। इसलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि गुणों से युक्त तथा हितैषी माता पिता आदि की आज्ञा मान कर उनकी भक्ति सेवा करने वाला ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है।

सद्गीः

जो हितमित और मधुर वचन बोलता है और जो पुरुष किसी की निन्दा तथा अपनी प्रशंसा नहीं करता वह पुरुष ही सद्गृहस्थ के धर्म को ग्रहण करने योग्य समझा गया है। कहा भी है—

परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमतिमात्रं च न भाषेत [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—मनुष्यों को दूसरों के हृदय को चोट पहुंचाने वाले, विश्वास से रहित, अधिक वचन नहीं बोलने चाहिये।

अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्गं भजन्—

जो धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को परस्पर बाधा-रहित सेवन करता है वही गृहस्थ धर्म का पात्र है।

जिन कर्तव्यों से अभ्युदय अर्थात् देवेन्द्र, नागेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के पद एवं परम्परा से निश्रेयस–मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं।

जिससे लौकिक समस्त कार्यों की सिद्धि हो उसे अर्थ कहते हैं। इसी को द्रव्य, धन, सम्पत्ति और जायदाद भी कहते हैं।

पंचेन्द्रियों के स्पर्श रसादि विषयों में जो प्रीति है, उसे काम कहते हैं।

इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को त्रिवर्ग कहते हैं। इनके बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ प्राय है। इन पुरुषार्थों को इस प्रकार सेवन किया जावे कि एक से दूसरे में बाधा उपस्थित न हो।

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।

अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥ १६ ॥ [क्षत्र चूड़ामणि प्र. लम्ब]

अर्थ—यदि एक दूसरे के विरोध के बिना धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ सेवन किये जावें, तो बिना किसी प्रतिबन्ध के सुख मिल सकता है। और क्रम से मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये उक्त तीनों पुरुषार्थों में परस्पर बाधा नहीं होनी चाहिये। जो मानव धर्म और अर्थ में बाधा कर केवल काम पुरुषार्थ का सेवन करता है वह गृहस्थ धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि काम की प्राप्ति धन से होती है और उसका कारण धर्म है, इसलिये उक्त पुरुषार्थों को परस्पर बाधा रहित सेवन करने वाला ही श्रावक धर्म पालन कर सकता है।

तदर्हगृहिणीस्थानालय :—

गृहस्थ के लिये उक्त त्रिवर्ग सेवन करने योग्य धर्मपत्नी, गांव एवं नगर तथा मकान होना आवश्यक है। तभी वह श्रावक धर्म पालन कर सकेगा।

जो अपनी जाति की हो तथा पंच माता पिता गुरु और सज्जनों की साक्षी से जिसके साथ विवाह संस्कार हुआ हो। ऐसी सुशील सदा चारिणी धर्मपत्नी को गृहिणी कहते हैं।

आगे यह बतलाते हैं स्त्री का क्या कर्तव्य है—

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने

भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः ॥

भूयिष्टं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी ।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयोवामाः कुलस्याधयः ॥ [अ० शाकुन्तल चतुर्थाङ्क]

अर्थ—शकुन्तलाको ससुराल जाते समय कण्व उसके पिता ने निम्न प्रकार से पत्नी धर्म का उपदेश दिया है—

हे पुत्रि ! सासु, श्वसुर आदि की सेवा करना, सपत्नी स्त्रियों में प्यारी सहेलियों जैसा बर्ताव रखना, अर्थात् उनसे प्रेम का व्यवहार रखना, पतिके नाराज होने पर भी तुम उसके विरुद्ध मत चलना तथा पंचेन्द्रियों के अच्छे २ भोगों को प्राप्त करके भी अभिमान मत करना, धर्म को मत भूलना, इस प्रकार के धर्म को अर्थात् पातिव्रत्य स्त्री धर्म को पालन करने वाली स्त्रियां सच्ची गृहिणी एवं धर्मपत्नी कहलाती हैं। और उक्त कथनों से जो विरुद्ध चलने वाली हैं वे कुल की बीमारी हैं।

उक्त कर्तव्य परायण धर्म पत्नी के होने से श्रावक धर्म की पालना होती है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिये ऐसे गांव एवं नगर में रहना चाहिये जहां पर धर्मसाधन हो सके, तथा न्याय युक्त वाणिज्य आदि से निर्वाह कर सके। इसी प्रकार घर भी अच्छे मोहल्ले एवं सत्संग में होना आवश्यक है

ह्रीमय :—

अर्थात् लज्जा करने वाला।

जो निर्लज्ज-बेशर्म होगा वह अपने देश जाति और धर्म से विरुद्ध आचरण करने में नहीं डरेगा। अतएव श्रावक धर्म में लज्जाशाली की आवश्यकता है।

युक्ताहारविहारः—

जिसके आहार-भोजन, और विहार-स्थान, योग्य-शास्त्रानुकूल हों। आचार शास्त्र में जिन पदार्थों के खाने का निषेध किया गया है, उनको नहीं खाना चाहिये, क्योंकि अभक्ष्य भक्षण से हमारे रत्नत्रयरूप धर्म की हानि होती है; साथ में हमारा शारीरिक स्वास्थ्य भी खराब होता है। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र मे जो पदार्थ प्रकृति–वात पित्त और कफ, एवं ऋतु के विरुद्ध बताये गये हैं उन्हें नहीं खाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से अनेक शारीरिक रोग ग्रसित होने के कारण वह व्यक्ति पुरुषार्थत्रय के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं रहेगा।

आर्यसमितिः—

गृहस्थ को सदाचारी सज्जन पुरुषों की सङ्गति करनी चाहिये। जुआरी, धूर्त, व्यभिचारी, मिथ्यात्वी, भांड, मायावी और नट

आदि अशिष्ट पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिये। कहाभी है—

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुष-
चरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥ ४ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—सज्जनों की संगति करके दुष्टों की संगति का त्याग कर तथा पूज्य महा पुरुषों—त्रेसठ शलाका के पूज्य महा पुरुषों–२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण, और ६ बलभद्र के चरित्र–प्रथमानुयोग के शास्त्रों को पढकर या सुनकर, कुसंग से उत्पन्न हुए व्यसनों–खोटी आदतों को छोडे। कहाभी है—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥ १ ॥
अन्यैव खलु काचिच्छायोपजलतरूणाम् ॥ २ ॥
असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किं नारोहति देवशिरसि ॥ ३ ॥
महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥ ४ ॥
तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि
किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥ ५ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—मूर्ख मनुष्य भी विद्वानों की संगति से विद्वान् होजाता है—

जल के पास—नदी कुए आदि के किनारे वृक्षों की छाया अन्य ही होती है–अर्थात् जल की समीपता से शीतलता अवश्य उसमें पाई जाती है।

निर्गन्ध भी सूत–धागा, फूलों की संगति से माला बन जाने पर क्या राजा आदि बड़े पुरुषों के मस्तक पर आरूढ़ नहीं होता? अवश्य होता है।

पाषाण भी उत्तम पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित होने पर देवत्व को प्राप्त हो जाता है; फिर यदि मनुष्य महापुरुषों की संगति करे तो उसमें अवश्य सद्गुणों का संचार होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य राज्य का अधिकारी न होने पर भी उस समय उसके पास नन्द राजा से लोहा लेने के लिये प्रचुर सैनिक शक्ति तथा खजाना नहीं था तथापि चाणक्य नामक राजनीति के महाधुरंधर विद्वान् की संगति से राज्य लक्ष्मी को प्राप्त हुआ। यह सब सत्संगति का माहात्म्य था।

अतः सज्जन पुरुषों की संगति करने वाला श्रावक धर्म को ग्रहण करने का विशेष रूप से पात्र है।

प्राज्ञ :—

अर्थात् जो हेय-छोड़ने योग्य, उपादेय-ग्रहण करने योग्य कार्य को जानकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि का तथा भविष्य का विचार करके चलता है उसे प्राज्ञ कहते हैं। अथवा बुद्धिमान् विद्वान् भी कहते हैं। कहा भी है—

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद्व्यर्थः श्रुतौ श्रमः। [क्षत्र चूडामणि]

अर्थ—जिसे हेय-छोड़ने योग्य, उपादेय-ग्रहण करने योग्य वस्तु का ज्ञान आदि यदि उत्पन्न नहीं हुआ तो शास्त्रों में परिश्रम करना व्यर्थ है। और भी कहा है—

"सत्यं तपोज्ञानमहिंसता च विद्वत्प्रणामं च सुशीलता च।

एतानि यो धारयते स विद्वान् न केवलं यः पठते स विद्वान्"।

अर्थ—सत्य, तप, दया, नम्रता, सज्जनता, इत्यादि सद्गुणों को जो धारण करता है, उसे प्राज्ञ एवं विद्वान् कहते हैं। जो केवल पढ़ लेता है वह विद्वान् नहीं है। और भी कहा है—

"गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ

परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन॥

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते—

र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥ १॥ [भर्तृहरि शतक]

अर्थ—गुणयुक्त-अच्छा, अवगुणयुक्त—बुरा कार्य करने से प्रथम विद्वान् मनुष्य उस को फल एवं परिणाम का अवश्य विचार लेना चाहिये। अर्थात् विचार कर लेने पर यदि उसका फल भविष्य में उत्तम प्रतीत होतो करना चाहिये अन्यथा नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि श्रावक को यह विचार लेना चाहिए कि इस कार्य के करने से मेरे सम्यक्त्व को तो हानि नहीं होगी। क्योंकि जो कार्य विना विचारे उतावली से कर लिये जाते हैं और उसका परिणाम जब बुरा निकलता है तो हृदय में दाह पैदा करने वाला एवं कील के समान चुभने वाला उसका दुःख बहुत सताता है एवं अखरता है और फिर पश्चात्ताप होता है। और भी कहा है—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥ [किरातार्जुनीय द्वि०सर्ग]

अर्थ—मनुष्य को कोई भी कार्य उतावली से विना विचारे नहीं करना चाहिये। कार्य करते समय उसका भविष्य फल न सोचने-से मनुष्य को बहुत आपत्तियां भोगनी पडती हैं और विचार पूर्वक काम करने वाले बुद्धिमान मनुष्य को गुणों में लुभाने वाली सम्पत्तियां, स्वयं प्राप्त होजाती हैं। इसलिये कार्य करते समय ऊहापोह ज्ञान से उसका भविष्य फल सोच कर कार्य करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति ही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

कृतज्ञ :—

जो दूसरे के उपकार को मानता है तथा उपकार करने वाले के हित और कुशल की कामना कर प्रत्युपकार करता है या इच्छा रखता है उसे कृतज्ञ कहते हैं।

ऐसा धार्मिक व्यक्ति सब को प्रिय लगता है और समय पर लोग उसकी सहायता करते हैं। जो कृतघ्न, गुणमेटा—उपकार के बदले में अपकार करता है वह श्रावक धर्म के योग्य नहीं है। सबसे प्रथम श्रावक तीर्थङ्कर जिनेन्द्रदेव और धर्माचार्यों का ऋणी है, इसलिये उसे उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करनी चाहिये। कहा भी है—

"अभिमतफलसिद्धे रभ्युपायः सुबोधः,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्॥
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धै।
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥ १॥"

अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्ज्ञान से होती है और वह सम्यग्ज्ञान शास्त्रों-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग के पढ़ने से प्राप्त होता है। वह शास्त्र प्रधानरूप से भगवान् तीर्थङ्कर से, तथा गौणरूप से गणधरादिक धर्माचार्यों से उत्पन्न हुआ है। इसलिये वे तीर्थङ्कर भगवान् और धर्माचार्य हमारे पूज्य हैं। सज्जन पुरुष किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं। कहा भी है—

विधित्सुरेनं यदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्॥ १॥ [चन्द्रप्रभचरित]

अर्थ—यदि तू इस परिवार को और समस्त लोगों को अपने वश करना चाहता है, तो कृतज्ञता का पारगामी हो, कृतज्ञ बन, कृतघ्न मत हो। क्योंकि कृतघ्न मनुष्य भले ही सम्पूर्ण गुणों से परिपूर्ण होजावे तथापि सब लोगों को क्षुब्ध कर देता है, सब लोग उससे प्रीति छोड़ देते हैं।

वशी—जितेन्द्रिय

जो समस्त इन्द्रियों को विकारों से रोकने वाला हो तथा काम; क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष इन ६ अन्तरङ्ग शत्रुओं का निग्रह करने वाला हो, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। कहा भी है—

"इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः अर्थशास्त्राध्ययनं वा ८–६ [नीतिवाक्यामृत]

इष्ट, अनुकूल–प्रियपदार्थों में अधिक आसक्ति न होने से और विरुद्ध अप्रिय पदार्थों में प्रवृत्ति न करने से, जितेन्द्रियत्व गुण प्राप्त होता है। तथा नीति शास्त्र के अध्ययन करने से भी जितेन्द्रियत्व गुण प्राप्त होता है।

"नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति। १
हस्तिस्नानमिवसर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनां २। [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—जिनकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं उन्हें किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। जिनकी चक्षु आदिक इन्द्रियां और मन वश में नहीं है उनके समस्त धार्मिक अनुष्ठान हाथी के स्नान के समान निष्फल हैं।

अर्थात् जिस प्रकार हाथी को स्नान करा दिया जाय परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है,

इसलिये उसका स्नान व्यर्थ है। उसी प्रकार जिन के इन्द्रियाँ और मन चञ्चल हैं वे कुछ भी दिखाऊ धार्मिक अनुष्ठान करें तथापि उनका कोई फल नहीं होता, क्योंकि उनकी आत्मिक परिणति दूषित है। अतः वे पापास्रव करते हैं। इसलिये सुखाभिलाषी श्रावक को जितेन्द्रिय होना चाहिये। वह निम्न प्रकार से अन्तरङ्ग शत्रुओं पर जब विजय प्राप्त करेगा तब वास्तविक जितेन्द्रिय समझा जावेगा। कहा भी है—

परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥ १ ॥

अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतुः क्रोधः ॥ २ ॥

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥ ३ ॥

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ४ ॥

कुलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ५ ॥

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थ-

संचयेन वा मनः प्रतिरञ्जनो वा हर्षः ॥ ६ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—स्वस्त्री में अधिक आसक्त रहना एवं विवाहित या अविवाहित परस्त्री की अभिलाषा करना काम है।

अपनी तथा दूसरे की हानि का विचार न करके नाश का कारण क्रोध करना क्रोध है।

सत्पात्र को दान न देना तथा चोरी वगैरह अन्यायों से दूसरे के धन को ग्रहण करना लोभ है।

दुराग्रह व हठ को न छोड़ना तथा न्याययुक्त बात को न मानना एवं घमंड करना मान है।

कुल शक्ति, ऐश्वर्य, सुन्दर रूप, विद्या आदि से उन्मत्त होजाना तथा दूसरों की वृद्धि को रोकने की इच्छा करना मद है।

बिना कारण किसी दूसरे प्राणी को कष्ट देना तथा अपने धन के संचय से प्रसन्न होना हर्ष है।

इन छहों अन्तरङ्ग शत्रुओं को सदा वश में रखने वाला ही वशी–जितेन्द्रिय कहलाता है।

सद्धर्म श्रृण्वन् :—

स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त करने वाले सत्कर्तव्यों को धर्म कहते हैं। उन कर्तव्यों का निर्देश-कथन, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग शास्त्रों में किया गया है। उसे धर्म-विधि या धर्म-शास्त्र कहते हैं। उनको सुनेने वाला गृहस्थ श्रावक धर्म का अधिकारी है क्योंकि बिना सत्कर्तव्यों के सुने उनमें प्रवृत्ति किस प्रकार होगी ? और बिना सत्प्रवृत्ति के कल्याण भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म शास्त्रों का बहुश्रुत विद्वानों के मुख से सुनना आवश्यक कर्तव्य है।

दयालु :—

दुःखी प्राणियों के दुःखों को दूर करने की इच्छा वाले को दयालु कहते हैं।

दयामूलो धम्मो—अर्थात् दया धर्म का मूल है। जिस के दया नहीं है वह जैन धर्म का धारक नहीं हो सकता। यदि शत्रु भी हो तो भी उस पर दया का बर्ताव करना चाहिये। दयालु के हृदय में अन्य धर्म स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। कहा भी है--

"दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः
तस्याशोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥ ॥"

अर्थ—दयारूपी महानदी के किनारे तमाम धर्म के उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच आदि अवान्तर भेद घास फूस के समान उत्पन्न हो जाते हैं और दयारूपी महानदी के सूख जाने पर बाकी धर्म स्वयं स्थिर नहीं रहने—नष्ट होजाते हैं। कहा भी है—

न खलु भूतद्रुहां काऽपि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥ ५ ॥
परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ६ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—निर्दयी मनुष्यों के कोई भी धार्मिक अनुष्ठान कल्याण करने वाले नहीं होते। प्राणियों की दया करने वाले दूसरे धर्म के भेदों को नहीं भी पालने वाले स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। और भी कहा है—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ॥ ३ ॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—समस्त प्राणियों पर दया करना, धार्मिक कर्तव्यों में प्रधान कर्तव्य है। और भी कहा है—

सततविषयसेवाविह्वलीभूतचित्तः।
शिवसुखफलदातृप्राण्यहिंसां विहाय॥
श्रयति पशुवधादिं यो नरो धर्ममज्ञः।
प्रपिबति विषमुग्रं सोऽमृतं वै विहाय॥ ७३॥
पशुवधपरयोषिन्मद्यमांसादि सेवा।
वितरति यदि धर्मं सर्वकल्याणमूलं॥
निगदत मतिमन्तो जायते केन पुंसां।
विविधजनितदुःखाश्वभ्रभू निन्दनीया॥ ७४॥
विचलति गिरिराजो जायते शीतलोऽग्नि-
स्तरति पयसि शैलः स्याच्छशीतीव्रतेजाः॥
उदयति दिशि भानुः पश्चिमायां कदाचित्।
नतु भवति कदाचित् जीवघातेन धर्मः॥ ७५॥ [सुभाषित रत्न संदो]

अर्थ—निरन्तर पंचेन्द्रियों के विषयों के सेवन से व्याकुल चित्तवाला जो मनुष्य, मोक्ष सुख देनेवाली प्राणियों की अहिंसा–दया को छोड़कर जीव हिंसा को धर्म समझ कर उसमें प्रवृत्त होता है, वह मूर्ख अमृत को छोड़कर विष–जहर, पीता है।

पशुवध, परस्त्री सेवन, शराब पीना, और मांस खाना आदि दुष्कृत्य यदि सर्व कल्याण कारक धार्मिक अनुष्ठान कहे जावें, तो हम उनसे पूंछते हैं कि मनुष्यों को नाना प्रकार के भयंकर दुःख देने वाली निन्दनीय नरक पर्याय किस कारण प्राप्त होती है।

एक बार कभी सुमेरु पर्वत भी चलायमान हो जावे, आग भी ठंडी हो जावे, पत्थर भी पानी में तैरने लगे, चन्द्रमा भी गरम होजाय, सूर्य भी पश्चिम दिशा में उगने लगे, अर्थात् ये असम्भव बातें भी कदाचित कभी एक बार हो भी जावें, किन्तु कभी भी–त्रिकाल में

जीव हिंसा से धर्म नहीं हो सकता। और भी कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १ ॥ [महाभारत]

अर्थ—धर्म का सार यही है, इसे सुनकर निश्चय करो। जो कार्य—हिंसा, विश्वासघात-धोखेबाजी, निन्दा, चुगली, असत्य भाषण आदि अपने लिये कष्ट देने वाले समझते हो वे कार्य दूसरों के साथ मत करो, यही दयालु धर्मात्मा का लक्षण है।

दया—अनुकम्पा का लक्षण—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथमाध्यस्थ्यं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्रसा।
अर्थतःस्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ४५० ॥ [पञ्चाध्यायी द्वि. अध्या.]

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियों में उपकार बुद्धि रखना, अनुकम्पा—दया कहलाती है। सम्पूर्ण जीवों में मैत्री भाव रखना भी दया है। द्वेष बुद्धि को छोड़ कर मध्यम वृत्ति धारण करना भी दया है। शत्रुता छोड़ देने से सम्पूर्ण जीवों में शल्य रहित हो जाना—निष्कषाय भाव हो जाना भी अनुकम्पा ही है।

अनुकम्पा दो प्रकार की है। एक परानुकम्पा। दूसरी स्वानुकम्पा, समस्त जीवों में समता भाव धारण करना पर में अनुकम्पा कहलाती है और कांटे की तरह चुभने वाली शल्य—माया, मिथ्यात्व, निदान—का त्याग कर देना स्वानुकम्पा कहलाती है। वास्तव में स्वानुकम्पा ही प्रधान है—

प्रधान क्यों है? इसमें कारण का निर्देश करते हैं—

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेयाकृपात्मनि ॥ ४५१ ॥ [पञ्चाध्यायी द्वि. अ.]

अर्थ—रागादि अशुद्ध भावों के रहते हुए बन्ध ही निश्चय से होता है और उन भावों के नहीं होने पर बन्ध नहीं होता। इसलिये ऐसी कृपा आत्मा में अवश्य करनी चाहिये।

इस प्रकार कृपा एवं दया जब आत्मा में उत्पन्न हो जाती है तब उसका संसार निकट रह जाता है। इसलिये मुमुक्षु जीवों को दयालु होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि बिना दया के उसमें श्रावक धर्म की पात्रता नहीं होती है।

अघभी :—

अर्थात—पाप भीरु।

जो हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, जूआ, मांस-भक्षण, मदिरापान, शिकार प्रभृति, बुरे कामों से डरता है उसे पाप भीरु व पापों से डरने वाला कहते हैं।

जिसे यह निश्चय है कि—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्, दुःखमेव वा [मोक्षशास्त्र ७ अध्याय]

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों से इस लोक में राजदण्ड, समाजदण्ड, निन्दा आदि के कष्ट तथा परलोक में नरक निगोद गति सम्बन्धी भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं। हिंसादिक पाप दुःख ही हैं। क्योंकि इनसे भविष्य में दुःख होता है इसलिये दुःखों के कारण होने से उपचार से दुःख रूप कहा है। इसलिये जो व्यक्ति पाप से भीरु है वह ही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

श्रावकों के मूल भेद और अवान्तर भेद

श्रावकस्य त्रयो भेदाः पाक्षिको नैष्ठिकस्तथा।
साधकस्तु तृतीयः स्यात् प्रत्येकं भवति त्रिधा ॥ १ ॥

पाक्षिकस्य त्रयो भेदाः भ्रुवन्ति सर्वदर्शिनः ।
उत्तमोमध्यमश्चापि, जघन्यः पाक्षिकोमतः ॥ २ ॥
जघन्यः पाक्षिकश्चायं धत्ते मूलगुणाष्टकम् ।
जहाति सर्वमिथ्यात्वं दुर्गतिदुःखदायकम् ॥ ३ ॥
श्रद्धा धत्ते जिनेन्द्रेषु, सर्वदर्शिषु पाक्षिकः ।
ग्रन्थेषु तत्प्रणीतेषु निर्ग्रन्थेषु सुसाधुषु ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद हैं। इन भेदों का पहले भी उल्लेख कर आये हैं और प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और जघन्य ये ३ भेद हैं। जैसे उत्तम पाक्षिक, मध्यम पाक्षिक, और जघन्य पाक्षिक आदि। अतएव ३×३=९ ये नव भेद चारित्र पालन की दृष्टि से श्रावक के सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान ने कहे हैं।

इनमें जघन्य पाक्षिक उसे कहते हैं जो कि श्रावकों के ८ मूल गुणों—(पांच उदम्बर फलों का तथा मद्य,मांस और मधु के त्यागने को) धारण करता है तथा दुर्गति के दुःख देने वाले मिथ्यात्व को छोड़ देता है।

तथा वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थङ्करों में एवं उनके बताये हुए प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप शास्त्रों में तथा बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह रहित साधु गुरुओं में श्रद्धा रखता है। अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि होकर अष्ट मूल गुणों को धारण कर समस्त मिथ्यात्व विषय का त्याग करता है उसे जघन्य पाक्षिक कहते हैं।

श्रावकों के-आठ मूल गुण—

"मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकाः ।
अष्टावेतगृहस्थानामुक्ताः मूलगुणाःश्रुते ॥ १ ॥
सर्वदोषोदयोमद्यान्महामोहकृतेर्मतेः ।
सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितं ॥ २ ॥

हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।
कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥ ३ ॥
मद्येन यादवाः नष्टा नष्टाः द्यूतेन पाण्डवाः ।
इति सर्वत्रलोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥ ४ ॥
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ।
मद्यी भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥ ५ ॥
मद्यैकबिन्दुसम्पन्नाः प्राणिनः प्रचरंति चेत् ।
पूरयेयुः न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥ ६ ॥
मनोमोहस्यहेतुत्वान्निदानत्वाच्चतुर्गतेः ।
मद्यं सद्भिः सदात्याज्यमिहामुत्र चदोषकृत् ॥ ७ ॥ [यशस्तिलचम्पू ७ आश्वास]

अर्थ—मद्यत्याग–शराब का छोड़ना, मांसत्याग, मधुत्याग–शहदत्याग. तथा ५ उदम्बर फलों का त्याग,–अर्थात् बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर इन ५ उदम्बर फलों का त्याग–ये श्रावकों के ८ मूल गुण हैं अर्थात् मुख्य गुण है।

शराब पीने से बुद्धि पलट जाती है, अतः शराबी में तमाम अवगुण पैदा हो जाते हैं। यह तमाम पापों में महान पाप है।

शराबी मनुष्य के हित और अहित का ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण वे लोग संसार रूपी वन में भ्रमण कराने वाले कौन २ से पापों में प्रवृत्त नहीं होते ? अर्थात् सभी पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

शराब पीने से यदुवंशी नष्ट हुए और जूआ खेलने से पाण्डव लोग नष्ट हुए, यह इतिहास सर्वत्र लोक में प्रसिद्ध है।

अनेक त्रसजीव शराब में उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं और शराब रूप हो जाते हैं। वह शराब पीने से कुछ समय पश्चात् मन को विक्षिप्त करदेती है।

शराब की एक विन्दु में उत्पन्न हुए जीव निकल कर यदि उड़ने लगे तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीनों भर जाँय, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

शराब मन को विक्षिप्त करने वाली और दुर्गति–नरक, निगोद में लेजाने वाली है। इसलिये सत्पुरुषों को शराब पीना छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उसके पीने से दोनों लोक बिगड़ते हैं। अर्थात् इस लोक और परलोक दोनों लोकों में शराबी को महा भयंकर कष्ट उठाने पड़ते हैं। कहा भी है—

पानशौण्डश्चित्तभ्रमात् मातरमप्यभिगच्छति [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—शराबी मनुष्य मानसिक भ्रम के कारण अपनी माता को भी सेवन करने में तत्पर होजाता है। अर्थात् शराबी चित्त भ्रम के कारण जब माता तक को भी नहीं छोड़ता, तो परस्त्री आदि में रमण करना तो उसके लिये साधारण सी बात है। और भी कहा है—

"पीतेयत्र रसांगजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः।
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च ॥
तन्मद्यं व्रतयन्नधूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदम्।
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥ ५ ॥ [सागार धर्मामृत]

अर्थ—जिस शराब के पीने के बाद ही उस मद्य के रस में पैदा हुए अनेक जीवों के समूह उसी समय मर जाते हैं तथा काम क्रोध भय भ्रम अर्थात् मिथ्याज्ञान अथवा चक्र के सदृश शरीर का घूमना, अभिमान, हास्य, अरति, शोक आदि, निन्द्य एवं पाप बढ़ाने वाले परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। जो इस शराब का त्याग करता है वह धूर्तिल नामक चोर के समान विपत्ति को प्राप्त नहीं होता और जो इसे पीता है वह एकपाद नामक संन्यासी के समान अनेक दुराचारों में फंस कर नरकादिक दुर्गतियों में डूब जाता है।

उसके पीने वाले एकपाद संन्यासी के समान कष्ट पाते हैं। उसकी कथा इस प्रकार है। चक्रपुर नामक नगर में एकपाद नाम का एक संन्यासी रहता था। वह वहां से गङ्गा मे स्नान करने के लिये जा रहा था। वह चलते २ विन्ध्याटवी समीपवर्ती एक ऐसे स्थान में पहुंच गया जहा सस्त्रीक मांस भक्षी एवं मद्य पायी बहुत से भील रहते थे। उन भीलों ने इस संन्यासी को बांध कर आग्रह पूर्वक कहा, कि तुम शराब, मांस, या परस्त्री इनमें से किसी एक का सेवन करो, अन्यथा मौत के घाट उतार दिये जाओगे। गुड़ पानी महुआ आदि वस्तुओं से शराब तैयार की जाती है सो यह चीज विशुद्ध ही है। ऐसा विचार कर अत्याग्रह करने पर उसने शराब पीली उसके पीने पर उसका मन

ठिकाने न रहा। उसने लंगोटी को भी छोड़ दिया और नंगा होकर खूब नाचने कूदने लगा। तथा भूखे होने के कारण मांस भी खा लिया। और फिर काम पीड़ित उसने चाण्डालिनी का भी सेवन कर लिया। ऐसा करने से उसे नरक जाना पड़ा एवं घोर यातनाय-कष्ट सहने पड़े। और भी कहा है—

हेतुशुद्धे: श्रुतेर्वाक्यात् पीतमद्यः किलैकपात् ।

मांसमातङ्गिकासंगमकरोन्मूढमानसः ॥ १ ॥ [यशस्तिलक ७ अ.]

उक्त पद्य का अर्थ एकपाद संन्यासी के कथानक द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

इसी प्रकार जो शराब पीना छोड़ देता है वह धूर्तिल नामक चोर के समान सुखी हो जाता है। उसकी कथा इस प्रकार है—

वलभी नाम की नगरी में, धूर्तिल, करवाल, शारद कुकलास आदि ५ महा भयङ्कर चौरकलापारङ्गत चोर रहते थे। एक दिन अमावस्या की रात में बड़ी भारी वर्षा हो रही थी। उस समय इन सभी ने उक्त नगरी से खूब धन चुराया। और उसका बटवारा गांव के बाहर करने बैठे। इन्होंने खूब शराब पी रक्खी थी जिससे इनकी बुद्धि बिगडी, अतएव आपस में धन के लिये खूब लट्ठालट्ठी, मुक्कामुक्की, मारा मारी हुई जिससे धूर्तिल को छोड़ कर सब मर गये। धूर्तिल ने वन मे ध्यानस्थ एक मुनिराज के दर्शन किये। ध्यान करने के पश्चात् मुनिराज ने उपदेश दिया। उनके पास धूर्तिल ने शराब पीना छोड़ दिया। उक्त व्रत के ग्रहण करने से उसकी बुद्धि ठिकाने आगई जिससे वह सांसारिक विषय छोड़कर मुनि होगया और तपश्चर्या के द्वारा कर्म समूह को दग्ध कर शिव पद पाया। कहा भी है—

एकस्मिन् वासरे मद्यनिवृत्तेः धूर्तिलः किल ।

एतद्दोषात् सहायेषु मृतेस्वापद नापदम् ॥ १ ॥ [यशस्तिलक ७ अ.]

उक्त पद्य का अर्थ कथानक द्वारा स्पष्ट हो चुका है। और भी कहा—

"चित्तभ्रमेणमत्तोऽसौ कान्यकार्याणि नादरेत्" [धर्म संग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—शराबी उन्मत्त पुरुष चित्त की भ्रान्ति से किन २ अनर्थों में नहीं फंसता ? इसलिये सुख के इच्छुक व्यक्ति को, समस्त अनर्थों की मूल शराब अवश्य त्याग देनी चाहिये। और भी कहा है—

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥ ६३ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—शराब पीने से घमंड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध, आदि जो कि हिंसा के नामान्तर हैं उत्पन्न हो जाते हैं। उल्लिखित ये सब मदिरा के साथी ही हैं। और भी कहा है—

मद्यं मोहति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ॥
विस्मृतधर्माजीवा हिंसामाविशङ्कमाचरति ॥ ६२ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—शराब मन को बेहोश एवं मोहित कर देती है और विक्षिप्त मन वाला व्यक्ति धर्म को भूल जाता है और धर्म को भूला हुआ जीव, निडर होकर हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। और भी कहा है—

विह्वलः स जननीयति प्रियां, मानसेन जननीं प्रियीयति ।
किङ्करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं पार्थिवीयति कुधीः स किङ्करम् ॥ ३ ॥
मंक्षु मूर्च्छति बिभेति कंपते पूत्करोति रुदिति प्रच्छर्दति ।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो, रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति ॥ ५ ॥
गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं रौति धावति विगाहते क्लमं ।
हन्ति हृष्यति च क्रुध्यते हितं, मद्यमोहितमतिर्विषीदति ॥ ८ ॥
तोतुदीति भविनः गुरागतो, वावदीति वचनं विनिंदितम् ।
मोमुषीति परवित्तमस्तधीर्जोभुजीति परकीयकामिनीम् ॥ ६ ॥
नानटीति कृतचित्रचेष्टिता नंनमीति पुरतो जनं जनं ।
लोलुठीति भुविरासमोपमो रारटीति सुरया विमोहितः ॥ १० ॥ अमितगति श्रावकाचार अ. ५

अर्थ—शराबी पुरुष विह्वल हुआ स्त्री को माता के समान, और माता को स्त्री के समान मानता है। और राजा को नौकर के समान, तथा नौकर को राजा के समान मानता है। ३।

शराबी शीघ्र ही बेहोश होजाता है, डरता है, कांपता है, पुत्कार करता है, रोता है, उल्टी कर देता है। दुखी होता है, लटखटाता है और चारों तरफ दिशाओं को देखता है। कभी रोता है, कभी हंसता है तथा कभी दूसरों से ईर्ष्या करने लगता है। ५।

कभी गाता है, घूमता है, एवं अस्पष्ट बकवाद करता है, चिल्लाता है, भागता है, कादे में फंस जाता है, मारता है, खुश होता है अपने भले को नहीं समझता, और विषाद को प्राप्त होता है। ८।

शराबी संसारी जीवों को कष्ट पहुंचाता है और निन्द्य वचन बोलता है दूसरों के धन को चुराता है और परस्त्री का सेवन करता है। ६।

शरीर से अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं बनाकर नाचता है, हर एक आदमी के पैरों में बार २ धोक देता है। मिट्टी तथा धूल में गधे की तरह लोट जाता है। और अनेक प्रकार के शब्द करता है तथा चिल्लाता है। १०।

आगे मद्य निषेधक जैनेतर प्रमाण

गौड़ी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ६४ ॥
यस्यकायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च गच्छति ॥ ६७ ॥ [मनुस्मृति ११ अध्याय]

अर्थ—गौड़ी, पैष्टी और माध्वी तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये, और इन तीनों में जैसी एक तैसी सब। इसलिये द्विजोत्तमों को नहीं पीनी चाहिये।

जिस ब्राह्मण के देह में जीवात्मा एक बार भी मद्य से भोगता है (अर्थात् जो ब्राह्मण एक बार भी मद्य पीता है) उसका ब्राह्मणत्व जाता रहता है और वह शूद्र हो जाता है। और भी कहा है—

विक्रीणन्मद्यमांसानि ह्यभक्ष्यस्य च भक्षणम् ।
कुर्वन्नगम्यागमनं शूद्रः पतति तत्क्षणात् ॥ ७३ ॥ [पाराशरस्मृति पृ. २७३]

अर्थ—शूद्र भी यदि मद्य मांस को बेचता हो, अभक्ष्य पदार्थों को खाता हो और निषिद्ध स्त्रियों का सेवन करता हो तो वह भी पतित हो जाता है। और भी कहा है—

ब्रह्महा च सुरापायी स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गी च पंचमः ॥ ७२ ॥ [लिखितस्मृति पृ. ४३३]

अर्थ—ब्रह्म का घात करने वाला, मदिरा पीने वाला, चोरी करने वाला और गुरु स्त्री से संभोग करने वाला, ये चारों महा पातकी हैं और जो इनसे संसर्ग करता है वह पांचवां भी महापापी है। और भी कहा है—

"मूलं समस्तदोषाणां मद्यं यस्मादुदीरितम् ।
तस्मान्मद्यं न पातव्यं धार्मिकेण विशेषतः ॥"

अर्थ—मदिरा समस्त दोषों की जड़ है, इसलिये धर्मात्माओं को मद्य कदापि नहीं पीनी चाहिये।

(२) मांस भक्षण निषेध

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ ६५ ॥
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोदनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के घात हुये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता, अतः जो मांस भक्षी होगा वह मांस के लिये त्रस जीव को अवश्य मारेगा। यदि यहां पर यह पूछा जावे कि जो किसी जीव को न मारकर बिकता हुआ मांस खरीद लावे अथवा कोई बैल भैंसा

आदि जीव स्वयं ही मर गया हो तो उसके खाने में क्या दोष है ?

इसका उत्तर यह है कि मोल लाये हुए या स्वयं मरे हुए भैंसे आदि के मांस में, मांस की कच्ची व पकी (अग्नि में पकाई हुई) तथा पकी हुई पेशियों (बोटियों) में भी जिस जीव का वह मांस है उसी जाति के (वैसे ही आकार और उतनी इन्द्रियों के धारक) बहुत सूक्ष्म–छोटे, आकार वाले सम्मूर्छन निगोदों (कीटों व कीड़ों) की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। इसलिये किसी प्रकार के भी मांस खाने में हिंसा का बचाव नहीं हो सकता।

यदि यह शङ्का की जावे कि हर एक जीव के शरीर को ही मांस कहते हैं तो व्रती श्रावक वृक्षों के आम्र निम्बू आदि फलों व अन्नों एवं हरे सागों को क्यों खाते हैं ? उसका समाधान करते हैं—

फलादि में मांस भक्षण का दोष नहीं

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्नवा मांसम् ।

यद्वान्निम्बोवृक्षो वृक्षस्तु भवेन्नवानिम्बः ॥ [यशस्तिलक चम्पू पृ. ३२१]

अर्थ—जो मांस होता है वह तो जीव का शरीर ही होता है, परन्तु जीव का शरीर मांस होता भी है और नहीं भी होता है। जैसे कि जो नीम है वह तो वृक्ष अवश्य है किन्तु सब वृक्ष निम्ब (नीम) ही हों ऐसा नहीं हैं। वृक्ष नीम से भिन्न भी हो सकते हैं।

भावार्थ—नीम और वृक्ष के परस्पर व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, जो व्यापक होता है वह सब व्याप्यों में रहता है। इसलिये वृक्षपना नीम मे ही नहीं किन्तु केला, सन्तरा, वड़, पीपल, आम्रादि सबमें रहता है, और नीम वृक्ष होकर भी नीम में ही रहता है। इसी तरह जीव शरीर तो व्यापक होने से सबमें रहता है और मांस शब्द का व्यवहार केवल त्रस जीव के शरीर में ही रहता है। इसलिये स्थावर एकेन्द्रिय वनस्पति रूप शरीर में मांस शब्द का व्यवहार एवं मांस भक्षण का दोष नहीं है। अतः त्रस जीव से रहित आम्र केलादि के भक्षण में श्रावकों को मांस भक्षण का दोष नहीं लगता है।

यहां पर कोई शङ्का करता है कि श्रावकों को दूध भी नहीं पीना चाहिये क्योंकि यह दूध गाय भैंसादि के शरीर से निकलता है। उसका समाधान करते हैं—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ [यशस्तिलक चम्पू पृ. ३३१]

अर्थ—यद्यपि मांस और दूध एक ही गाय भैंसादि के शरीर में घास आदि के खाने से पैदा होता है; तथापि दूध तो खाने योग्य है और मांस नहीं। जैसे धतूरे की जड़ तो शरीर की रक्षक है और धतूरे के पत्र को कोई खावे तो वह मरण को प्राप्त हो जाता है।

जैन शास्त्रों में जो मांस भक्षण की निन्दा भरी हुई है वह स्वाध्याय करने वाले व शास्त्र श्रवण करने वालों से छिपी हुई नहीं है।

जैनेतर शास्त्रों द्वारा मांस निषेध

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥ १ ॥ [विष्णु पुराण]

अर्थ—हे राजन्! जो मनुष्य जिस पशु को मारता है वह उस मरे हुए पशु के शरीर में जितने रोम हैं उतने ही हजार वर्ष पर्यन्त नरक में दुःख भोगता है। और भी कहा है—

सर्वमांसानि यो राजन् ! यावज्जीवं न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नैव संशयः ॥ २ ॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव तथा माचाथ पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! सूर्यसंक्रान्तिरेव च ॥ ३ ॥
तैलस्त्रीमांससंभोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान् ।
विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयान्ति नरकं मृतः ॥ ४ ॥
किं जाप्य होमनियमैस्तीर्थस्नानैः शुभाशुभम् ।
यदि खादन्ति मांसानि सर्वमेतान्निरर्थकम् ॥ ५ ॥ [विष्णु पुराण]

अर्थ—हे राजन्! जो किसी भी जीव के मांस को जीवन पर्यन्त नहीं खाता है वह निःसन्देह स्वर्ग में ऊंचे दर्जे का देव होता है।

दो चतुर्दशी, दो अष्टमी अमावस्या पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति ये सात पर्व दिवस हैं, इनमें जो कोई मनुष्य शरीर में तैल की मालिश करता है, तथा स्त्री संभोग करता है, अथवा मांस भक्षण करता है वह मरकर नरक में जाता है। विएमूत्र भोजन नामक नरक में जाता है। अर्थात् ऐसे नरक में जाता है जहां विष्टा और मूत्र खाने और पीने को मिलता है॥ ३–४॥

जो पुरुष मांस खाते हैं, उनका जाप जपना, होम करना, नियम धारण करना, तीर्थ स्नान करना आदि शुभ कार्य करना निरर्थक है अर्थात् मांस भक्षी का सब धर्माचरण निष्फल है। ५।

आगे महाभारत के प्रमाण देते हैं—

यदि चेद्खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः॥ १॥
हिंसा प्रवर्तकं मांसमधर्मस्य च वर्द्धकम्।
दुःखस्योत्पादकं मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत्॥ २॥
शुक्रशोणितसम्भूतं यो मांसं खादते नरः।
जलेन कुरुते शौचं हसन्ति तत्र देवताः॥ ३॥
किं वेषलिङ्गग्रहणैः किं शिरोमुण्डनैरपि।
यदि खादन्ति मांसानि सर्वमेतन्निरर्थकम्॥ ४॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजादीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येयं तन्न वेदेषु कथ्यते॥ ५॥

अर्थ—यदि कोई मांस खाने वाला न हो तो कोई भी किसी बकरे मछली आदि को न मारे। मांस खाने वाले के ही लिये

घातक (धीवर–खटीक–कषायी) आदि पशु पक्षियों को मारता है। इस कारण मांस भक्षण करने वाला ही विशेष रूप से हिंसा पाप के फल को भोगता है। १।

मांस भक्षण जीव की हिंसा कराने वाला है, अधर्म (पाप) को बढ़ाने वाला है और दुर्गतियों में ले जाकर नाना प्रकार के दुःखों को देने वाला है। इस कारण मांस नहीं खाना चाहिये। २।

जो माता पिता के रज से उत्पन्न हुए महा अपवित्र मांस को खाता है और फिर जल आदि से स्नान करके पवित्र बनना चाहता है, उसे देखकर देव उसकी हंसी करते हैं अर्थात् उसकी मूर्खता पर देवों को हंसी आती है।

नाना प्रकार के वेषों को धारण करने से तथा अनेक लिंग धारण करने से और मूंड मुंडाने से कुछ भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि मांस खाने वालों को ये वेष आदि का धारण करना व्यर्थ है।

भावार्थ—मांस भक्षी का साधु व तपस्वी होना व्यर्थ है।

मदिरा पीना, मछली खाना, पशु का मांस खाना और देवों को बलिदान करना, इत्यादि बातें धूर्तों ने चलाई है। वेदों में ऐसा कभी भी नहीं कहा है। ५।

आगे मनुस्मृति के प्रमाण देते हैं

मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्यमांसमिहाद्म्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनोषिणः ॥ ५५ ॥ [अध्याय ५ पृ. १२४]

अर्थ—जिसका मांस मैं यहां खाता हूँ वह परलोक में मुझे खायगा। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष मांस शब्द का आशय प्रगट करते हैं।

भावार्थ—मां (मुझको) सः (वह) खाता है यह मांस शब्द का शब्दार्थ है।

मधु निषेध

मधु की उत्पत्ति

मधु मक्षिका (सहद पैदा करने वाली मोहल की मक्खियां) अपने रहने के लिये छत्ता बनाती हैं, वे सारे दिन इधर से उधर वृक्षों के फूल पत्ते मिष्टान्न विष्टा रुधिर मांस आदि में से रस चूस २ कर छत्ते में आती हैं। और उस पीये हुए रस को मुख में से उगलती हैं और इसी छत्ते में टट्टी पेशाब करती है। तथा इसी छत्ते में हजारों लाखों छोटी २ नई पैदा होने वाली मक्खियों के संमूर्छन शरीर के परमाणु जिन्हें लोग अंडे कहते हैं, और इन्हीं में से उत्पन्न हुई छोटी २ मक्खियां भी इसी छत्ते में रहती हैं। शहद निकालने वाले भीलादि हिंसक जीव इन मक्खियों के छत्ते को धुंवा वगैरह देकर के तोड़ लेते हैं। फिर उस छत्ते को गाढ़े कपड़े में रख कर खूब मरोड़ी देकर निचोड़ लेते हैं। जो रस निकलता है वह तो शहद कहलाता है। और जो कपड़े में कस रह जाता है उसका मोम हो जाता है। ऐसा करने से मक्खियों और जीवों की जो हिंसा होती है वह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैसे मदिरा में रसज जीवों की उत्पत्ति होती रहती है उसी प्रकार इस मधु मे भी असंख्यात सूक्ष्म त्रस जीव समय २ में पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं। अतः शहद के बनने और बने हुए शहद के भक्षण करने रूप दोनो हालतों में असंख्यात त्रस जीवों की हिंसा होती है। इसलिये महा हिंसा के होने से ही जैनाचार्यों ने पाक्षिक श्रावक के लिये मांस मदिरा के समान इसके खाने आदि का पूर्ण रूप से निषेध किया है।

इसके लिये अनेक ग्रन्थों के प्रमाण

मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डनिपीडनात् ।

जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृतिः ॥ [यशस्तिलक चम्पू. ७ आश्वा.]

अर्थ—मक्खियों के बीच मे पैदा हुए छोटे २ बच्चों और अंडों के निचोड़ने से पैदा हुए और कलल (वीर्य और रुधिर के मेल से जो शरीर बनने के लिये उपादान कारण रूप द्रव पदार्थ स्त्री के गर्भाशय में बनता है उसे कलल कहते हैं) उसके समान मधु को, आश्चर्य है कि न मालूम जैनेतर कुल वाले भी समझदार मनुष्य कैसे खाते हैं ? उनके धर्म ग्रन्थों में भी तो निषेध ही किया है। आगे और भी कहते हैं—

दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियंपि णिठिवई ।
कह मच्छियंड पाणं, णिज्जासं णिग्घिणो पिवई ॥ ८१ ॥ [वसुनंदी श्रावकाचार]

अर्थ—जिस भोजन में मक्खी पड़ी हुई है उस भोजन को अच्छे मनुष्य छोड़ देते हैं। और हजारों लाखों मक्खियों के अंडों से निचोड़ कर निकाले हुए मधु को न मालूम लोग बिना घृणा (ग्लानि) के कैसे पीते हैं ? और भी कहा है—

लोगे विसुप्पसिद्धं वारह गामाइ जो दहई अदऊ ।
तत्तो सो अहियपरो, पाविट्ठो जो महुं हणई ॥ ८३ ॥ [वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ—लोक मे भी यह बात खूब प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गावों को जलाता है उससे भी अधिक पापी वह है जो शहद के छत्ते को तोड़ता है।

मधु शकलमपिप्रायो, मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढ धीको, यः भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥ ६९ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—इसलिये जो मूढ (मंद बुद्धि) शहद को खाता है वह त्रस जीवों की बड़ी भारी हिंसा करता है। और भी कहा है—

म्लेच्छलोकमुखलालयाविलं, मद्यमांसचितभाजनस्थितम् ।
सारघं गतघृणस्य खादतः, कीदृशं भवति शौचमुच्यताम् ॥ २९ ॥
योऽत्ति नाम मधुभेषजेच्छया, सोऽपि याति लघुदुःखमुल्बणम् ।
किं न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम् ॥३२॥ [अमितगति श्रावकाचार ५ सर्ग]

अर्थ—चाण्डाल भीलादि के मुखों की लाला सहित तथा मदिरा व मांस खाने के पात्रों में धरे हुए शहद को जो मनुष्य ग्लानि रहित होकर खाते हैं, उनके बताओ कौनसा शौच, पवित्रपना है।

जो मनुष्य औषधि के अनुपान में भी जरा सा शहद खाता है वह भी परलोक में घोर दुःख पाता है। क्या जीवन के लिये

खाया हुआ जहर झटपट जीवन को नष्ट नहीं करता ?

जैनेतर शास्त्रों से मधु का निषेध

यो ददाति मधु श्राद्धे मोहिते धर्मलिप्सया ।

स याति नरकं घोरं, खादकैः सह लम्पटैः ॥ १ ॥ [महाभारत]

अर्थ—जो कोई अज्ञानी पुण्य होने की इच्छा से श्राद्ध में ब्राह्मणों को मधु देता है अर्थात् शहद खिलाता है वह जिह्वा लोलुपी खाने वालों के साथ नरक में जाता है।

मेदमूत्रपुरीषाद्यैः रसाद्यैर्वर्धितं मधु ।

छर्दिलालामुखस्रावैः भक्ष्यते ब्राह्मणैः कथम् ॥ २ ॥ [नागपटल]

अर्थ—मक्खियों ने जिस मधु को चर्बी, मूत्र, विष्टा फूल आदि के रस को चूस २ कर वमन आदि से पैदा किया है और बढ़ाया है, ऐसे अपवित्र मधु को ब्राह्मण लोग कैसे खा सकते हैं ? और भी कहा है—

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते ।

तत्पापं जायते जन्तोर्मधु विन्द्वेकभक्षणात् ॥ ३ ॥ [नागपटल]

अर्थ—सात ग्रामों के जलाने में जितना पाप लगता है, उतना पाप शहद की एक बूंद के खाने में लगता है।

मधुमांसांजनं श्राद्धं गीतं नृत्यं च वर्जयेत् ।

हिंसां परापवादं च स्त्रीलीलां च विशेषतः ॥ १३ ॥ [शंखस्मृति पृ. ३८०]

अर्थ—मधु (शहद आदिक मीठा पदार्थ व मदिरा) मांस अंजन श्राद्ध का भोजन, गान, नाच, परनिन्दा और विशेष कर स्त्रियों की लीला को त्याग देना चाहिये। और भी कहा है—

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च।

भूस्तृणं शिग्रूकं चैव श्लेष्मांतकफलानि च ॥ १४ ॥ [मनुस्मृति अ. ६]

अर्थ—मधु, मांस, कवक (सांप की छत्री) भूस्तृण (एक घास) सहजना और श्लेष्मांतक (ल्हिसोड़े) इन सब को न खावे।

उदुम्बरादि पांच फलों का त्याग

पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्।

हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥ १३ ॥ [सागार धर्मामृत द्वि.अ. २]

अर्थ—जो पुरुष पीपल, उदम्बर, (गूलर) वट (बड़) सक्ष (पिलखन) और फल्गु–अंजीर; इन पांच वृक्षों के हरे पक्के फलों को खाता है वह तो त्रस जीवों का घात करता है और जो सूखे फलों को खाता है वह अभक्ष्य पदार्थ में राग होने के कारण हिंसा द्वारा अपना घात करता है।

यदि इनमें से किसी के पक्के फल को तोड़ कर ध्यान से देखा जावे तो सैंकड़ों व हजारों सूक्ष्म त्रस जीव उड़ते हुए दृष्टिगत होंगे। त्रस जीव के कलेवर की मांस संज्ञा है। और इन फलों में नियम से त्रस जीव रहते हैं। इसलिये आचार्यों ने मांस त्याग के साथ २ इन पांचों फलों का भी त्याग कराया है। अन्य बहुत से हरे फल पुष्पादि जिनमें त्रस जीव न हों व साधारण हों तो भी सूख जाने से प्रासुक व भक्ष्य बन जाते हैं। परन्तु उक्त पांचों फलों को तो सूखे हुए खाने का भी निषेध है। और भी कहा है—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसानि शुष्काणि।

भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादि रूपा स्यात् ॥ ७३ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—जिन उदम्बरादि पंच फलों में से कभी काल पाकर कुछ त्रस जीव उड़जावें और वे फल सूख भी जावें तो भी उनके खाने में तीव्र राग के होने से तीव्र हिंसा होती है।

"स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः सन्त्युदम्बरमध्यगाः ।
तन्निमित्तं जिनैरुक्तं पंचोदुम्बरवर्जनम् ॥ १ ॥"

अर्थ—पांच उदम्बर फलों का बड़ पीपल पाकड़ उम्बर (कटूम्बर–अंजीर) और गुलर यह पांचों ही फल एक समान जाति वाले हैं अर्थात् दोष की अपेक्षा समान हैं । इनमें चक्षु से दृष्टिगत होने वाले त्रस जीव रहते हैं । अतः सबसे प्रथम इनको त्यागना चाहिये। क्योंकि इनके खाने में मांस भक्षण का दोष है और मांस भक्षी जैन नहीं हो सकता । इस कारण जिनेन्द्र देव ने सर्व प्रथम इनका त्याग बताया है । और भी कहा है—

उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।
नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥ [लाटी संहिता सं २]

अर्थ—समस्त संसारी जीवों को उचित है कि ये उदुम्बरादि पांच फलों को कदापि भी नहीं खावे, क्योंकि ये सदा साधारण और त्रस जीवों से भरे हुए ही रहते हैं ।

पंचोदुम्बरों में भ्रम

कहीं २ भाषा शास्त्रों में ऊमर, कठूमर, बड़, पीपल, और पाकर, ये पांच नाम दिये हुए हैं । परन्तु कठूमर शब्द का अर्थ कोई २ जैनी काठ फोड़ कर निकला हुआ फल करते हैं । किन्तु संस्कृत प्राकृत शास्त्रों में कहीं भी ऐसा कथन नहीं मिला । फल्गुका कोदुम्बरिका मंजुल मलयू जघने फला, इन शब्दों को संस्कृत के कोषों और वैद्यक के निघंटुओं में देखा तो ये सब अंजीर के ही नाम मिले; अंजीर के वृक्षों में दूध भी होता है । इसलिये अंजीर को ही उदम्बरादि पांच फलों में समझना चाहिये । ये अंजीर हरे तो बाजार में बाग के माली बेचा करते हैं । और पसारियों (कंठालियों) के यहां मेवा की चीजों में रस्सी में पुए हुए माला की तरह रहते हैं । हकीम व वैद्य पौष्टिक (ताकत) की तथा जुलाव (दस्तावर) की दवाइयों में इनको देते हैं और स्वरूप समझे बिना जैन लोग इनको खाते हैं । संस्कृत में–काकोदुम्बरिका (काकोदुम्बर) शब्द का काष्टोदुम्बर और काष्टोदुम्बर का बिगड़ कर अपभ्रंश रूप कठूमर बन गया है । और कठूमर शब्द का भाषावालों ने अटकल पच्चू काठ फोड़ कर निकलने वाला अर्थ करलिया है । परन्तु ये सब भ्रम है हमने बहुत छान बीन करही उदुम्बरादि ५ फलों में अंजीर को शामिल किया है ।

प्लक्ष इस संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप पिलखन शब्द बनता है । तथा पर्कटी शब्द से पाखर बनता है, असल में संस्कृत में इस

वृक्ष के मक्ष, पर्कटी और जटा ये तीन नाम हैं।

पिलखन का वृक्ष पीपल जैसा ही बड़ा होता है, और इसके पत्ते जामुन वृक्ष के पत्ते जैसे लम्बे और कुछ चौड़े होते हैं। सहारनपुर आदि स्थानों में इसके वृक्ष हैं, इसमें पीपल की तरह दूध निकलता है। और इसके फल भी पीपल के फल जैसे गोल और छोटे होते हैं, जो पीपल के फल की भीतरी हालत है वही इस पिलखन के फल में है। अतः पंच उदुम्बरादि फलों के त्यागियों को निसन्देह होकर बड़ के फल (बड़ वाले) पीपल के फल (गोल) उदुम्बर (गूलर) काकोदुम्बर (अंजीर) और मक्ष (पिलखन या पाखर) इन पांचों वृक्षों के फलों का ही त्याग करना चाहिये। कितने ही श्रावक जिन वृक्षों में दूध होता है उन वृक्षों के फल खिरनी, करौंदा, अरण्ड काकड़ी, आदि को पंचोदुम्बरों में गिनती कर बैठते हैं। परन्तु संस्कृत श्रावकाचारों में कहीं भी ऐसा नहीं लिखा है। कहा भी है—

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं ।

मद्यमांसमधून्युज्झेत् पंचक्षीरफलानि च ॥ २ ॥ [सागार ध. अ. २]

अर्थ—इस सागार धर्मामृत के श्लोक की टीका में पण्डित आशाधरजी ने लिखा है कि देशव्रत को धारण करने के लिये सन्मुख हुआ श्रावक मद्य, मांस, मधु और दूध वाले पीपल आदि पांच उदुम्बर फलों को तथा च शब्द से नवनीत (मर्यादा के बाहर का लूणिया) रात्रि भोजन और विना छाना पानी आदि का त्याग कर देवें, यहां पर दूध वाले समस्त वृक्षों का ग्रहण न करके केवल वट, पीपल आदि ५ वृक्षों का ही नाम लिया है। क्योंकि जिनमें नियम से उत्पत्ति के साथ त्रसजीव होते हैं। ऐसे अभक्ष्य तो केवल पांच ही फल हैं अन्य नहीं है।

इसी प्रकार कितने ही श्रावक कठूमर शब्द काठ फोड़ कर निकलने वाला अर्थ करके काठ फोड़ कर निकलने वाले कटहल आदि के फलों को भी ग्रहण करते हैं। सो यह भी भ्रम है। क्योंकि कठूमर का अर्थ अंजीर ही है।

यदि काठ फोड़ कर निकलने वाले सभी फल अभक्ष माने जावें तो आंवला भी अभक्ष्य होजावेगा, क्योंकि इसके फल नहीं आते हैं और ये फल टहनियों की लकड़ी में से ही निकलते हैं, और आंवले को कभी भी अभक्ष्य नहीं माना, और पके हुए आंवले में साधारणता व त्रससंयुक्ता का कोई भी लक्षण नहीं मिलता है।

आगे जैनेतर शास्त्रों से उदुम्बर का निषेध बताते हैं—

उदुम्बरं कपित्थं च तथा दन्तशठं च यत् ।

एवमादीनि देवाय न देयानि कदाचन ॥ १ ॥ [विष्णुधर्मोत्तरपुराण काण्ड ३]

अर्थ—गूलर का फल, कपित्थ (कैथवा कपीठ) का फल और दन्त शठ (जिससे दांत सठिया जावे) ऐसी कोई वस्तु ये सब श्रीकृष्ण के भोग में कभी न देवे । और भी कहा है—

"उदुम्बरमलाबू च जग्ध्वा पतति वै द्विजः" [कूर्मपुराण]

अर्थ—उदुम्बर (गूलर) और अलाबू (तूंबी व घिया) को खाकर ब्राह्मण पतित हो जाता है अर्थात् शूद्र सदृश बन जाता है।

आगे जैन शास्त्रों में मद्य मांसादि की निन्दा दिखाते हैं—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।

मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ८४ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—श्री जिनेन्द्र देव के चरणों में आये हुए जैनों को त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिये मधु, मांस का और त्रस हिंसा तथा प्रमाद (बेहोशी पने से) बचने के लिये मदिरा का त्याग कर देना चाहिये ।

आगे और भी प्रमाण दिखाते हैं—

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।

वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥ ७१ ॥ [पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय]

अर्थ—शहद, मदिरा, नवनीत (लूणिया) और मांस ये चार महाविकृत पदार्थ हैं । इनमें इन जैसे ही वर्ण (रूप रङ्ग) वाले त्रस जीव उत्पन्न होते हैं । अतः व्रती पुरुषों को कदापि नहीं खाने चाहिये । और भी कहा है—

मांसादिषु दयानास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।

आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदम्बरसेविषु ॥ [पृ. ३३० यशस्तिलक चम्पू ७ आश्वास]

अर्थ—मांसभक्षिपुरुषों में दया नहीं होती, और शराब पीने वालों में सत्य भाषण नहीं होता। तथा जो शहद और पंच उदुम्बर फलों की भक्षण करते हैं वे हिंसक ही नहीं; बल्कि महाघातक क्रूर एवं दया रहित हैं।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

कांचाकृभवनीतमक्षमदस्थणमांसं प्रसङ्गप्रदं ।

मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यच्च चत्वार्यपि ॥

सम्मूर्च्छालसवर्णजंतुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया ।

हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः ॥ २८ ॥ [अनागार धर्मामृत अ. ७]

अर्थ—नवनीत खाने से विषय सेवन की बार २ इच्छा होती है। मांस भक्षण से पांचों इन्द्रियों में मद (बल) की वृद्धि होती है। मदिरा पान से मनुष्य पुनः पुनः स्त्री सेवन अथवा अगम्य–निषिद्ध, स्त्रियों में गमन करता है। और मधु खाने से मधु के रस के खाने की इच्छा रूप इन्द्रियसंयम और रसज जीवों की हिंसा रूप प्राणसंयम होता है। ये चारों सम्मूर्छन एवं नवनीतादि जैसे ही वर्ण वाले त्रस जीवों से भरे हुए हैं, और मन में अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करने के कारण महाविकृति रूप हैं। अतः धार्मिक पुरुषों को ये चारों ही त्यागने योग्य हैं।

जैनेतर ग्रन्थों से मद्य मांसादि का निषेध

लाक्षालवणसंमिश्रं कुसुम्भं क्षीरसर्पिषः ।

विक्रेता मधु मांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ [अत्रिसंहिता पृ. ३७७]

अर्थ—जो लाख, लवण, कसूमा, दूध, घी, शहत और मांस का बेचने वाला ब्राह्मण है वह शूद्र कहलाता है।

मद्ये मांसे मधून न नवनीते वहिर्गते ।

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते असंख्या जीवराशयः ॥ [नागपटल]

अर्थ—मदिरा, मांस, शहद, और छाछ (मट्ठे) में से निकाले हुए नवनीत (लूणिया वा मक्खन) में असंख्यात जीवों का समूह उत्पन्न हो होकर मरता रहता है। और भी कहा है—

न ग्राह्याणि न देयानि षड्वस्तूनि सुपण्डितैः ।

अग्निर्मधु विषं शस्त्रं मद्यं मांसं तथैव च ॥ [महाभारत]

अर्थ—विद्वानों को उचित है कि वे अग्नि, शहद, जहर, शस्त्र (हथियार) मदिरा और मांस ये छह प्रकार की चीजें न किसी से लेवें, और न किसी को देवें। और भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धमाल्य रसान् स्त्रियः

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥ [मनुस्मृति अ. २]

अर्थ—ब्रह्मचारी को उचित है कि वह शहद, मांस, सुगन्धित इतर फुलेल, पुष्पमाला, स्वादिष्ट रस, सब स्त्रियों, शुक्तों (सिरका जैसी चीजों) का तथा हिंसा का त्याग करे।

उक्त प्रकार से मद्य, मांस, मधु और उदुम्बरादि ५ फलों के त्याग रूप आठ मूल गुणों का वर्णन करके अब जो अष्ट मूल गुणों में आचार्यों का मत भेद विवक्षा कृत है उसे दिखाते हैं—

आठ मूल गुणों में मतभेद

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणान्याहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसंतोष, और परिग्रह परिमाण इन पांच अणु व्रतों को धारण करना। इस प्रकार गृहस्थों के आठ मूल गुण आचार्यों ने बतलाये हैं।

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।

द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति गृहिणोऽष्टसंत्यमी मूलगुणाः [आदि पुराण]

अर्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य उक्त श्लोक द्वारा यह कथन करते हैं कि स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, इन पांच पापों और द्यूत-जूआ खेलने तथा माम खाने एवं मदिरा पीने के त्याग करने रूप श्रावक के आठ मूल गुण हैं। इनमें मधु को मांस में गर्भित करके उसकी जगह द्यूत का ग्रहण किया है।

आगे और भी मत दिखाते हैं।

मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां।
नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोय सुवस्त्रस्रुतम्॥
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरै रागारिणां कीर्तिता।
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी॥ १॥ [सागार धर्मामृत टी.श्लो. १३ अ.२]

अर्थ—उक्त श्लोकानुसार मद्य मांस मधु और उदुम्बर पञ्चक के त्याग रूप ४ मूल गुणों में जीवों की दया करना, रात्रि भोजन त्याग करना, मजबूत गाढे वस्त्र से छना हुआ जल पीना, और सर्वज्ञ देव वीतराग को नमस्कार करना, इन चार गुणों को मिलाकर श्रावक के ८ मूल गुण बताये हैं।

यदि कोई पुरुष इन आठ मूल गुणों में से १ गुण को न पालता हो तो वह पुरुष श्री जिनोक्त गृहस्थ धर्म का पालक नहीं है।

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम्॥ १॥ [अमितगति श्रावकाचार ५ परि.]

अर्थ—इस श्लोक द्वारा यह कहा गया है कि जो ज्ञानी व्रतों को धारण करना चाहता है वह पहले मद्य, मांस, मधु, रात्रि-भोजन, और उदुम्बरादि पांच फलों का मन, वचन और काय से त्याग करे। क्योंकि इनका त्याग करने से व्रतों की पुष्टि होती है अर्थात् अहिंसादि पांच अणुव्रत पाले जा सकते हैं।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आदि पुराण, चारित्रसारादि कुछ ग्रन्थों में तो अहिंसादि पांच अणुव्रतों को मूल गुणों में लिया है और वसुनन्दि उपासकाध्ययन, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, यशस्तिलक, उपासकाचार, अमितगति श्रावकाचार, लाटी संहिता आदि में गृहस्थ धर्म का कथन करने वाले अधिकांश शास्त्रों में पांच अणुव्रतों के स्थान में उदुम्बरादि पांच फलों का त्याग कराया गया है।

श्री पं. आशाधरजी सब आचार्यों के मतों को दिखाकर किसी भी मत का खण्डन व मण्डन न करके यही कहा है कि प्रतिपाद्य के अनुरोध से अर्थात् जो श्रावक जैसे मूल गुणों के धारण करने की योग्यता रखते हों उनको वैसा ही उपदेश देना, इस दृष्टि से आचार्यों के अनेक प्रकार के उपदेश हैं, तथापि उसमें सूत्र से व आगम से कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि जो हेय वस्तु है उसी का सबने त्याग कराया है, ऐसा कहकर मध्यस्थता धारण की है। सो ठीक ही है क्योंकि मान्य आचार्यों के उपदेश में किसी को प्रमाण तथा किसी को अप्रमाण कह देना छद्मस्थ की बुद्धि के बाहर की बात है।

आगे श्रावक के शुद्ध सम्यग्दृष्टि नामक भेद को ११ भेदों (श्रेणियों) से पृथक माना है—उसको सप्रमाण दिखाते हैं।

तेणु व इट्ठो धम्मो संगा सत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारह भेयो दस भेओ भासिओ विदिओ ॥ ३०४ ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

विवरण—

श्री सर्वज्ञदेव ने गृहस्थ और निर्ग्रन्थों का जो धर्म कहा है, उसमें पहिला श्रावक धर्म तो १२ प्रकार का है और दूसरा मुनि धर्म दश प्रकार का है।

इस गाथा के आगे जो श्रावक के १२ भेद दिखलाये हैं, उनमें ११ भेद तो प्रतिमा रूप हैं, और दर्शन प्रतिमा के पहले एक भेद शुद्ध सम्यग्दृष्टि को जुदा माना है, जिसमें २५ दोष रहित सम्यग्दर्शन पालने की मुख्यता दिखलाई है।

पण्डित आशाधरजी ने पक्ष, चर्या, और, साधक, ये तीन भेद दिखलाकर, अहिंसा रूप पक्ष के धारक को पाक्षिक, ग्यारह प्रतिमाओं में चर्या (प्रवृत्ति) करने वाले को नैष्ठिक, और सल्लेखना के धारक को साधक श्रावक माना है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका मे लिखा है, कि गृहस्थों को जो हिंसा होती है, उसका वे पक्ष, चर्या, और साधकत्व इन तीनों उपायों से निराकरण करते हैं।

उक्त प्रमाणों स यह सिद्ध होता है कि प्रथम दर्शन प्रतिमा के पहिले एक ऐसा भी श्रावक है, जो कि सम्यग्दर्शन का धारक होने से चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती तो है, परन्तु अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से उसके प्रतिज्ञा बद्ध होकर मद्य मासादि का त्याग नहीं हुआ है। किन्तु सम्यग्दर्शन होने से जो अनुकम्पा गुण प्रगट होगया है उसके प्रभाव से अथवा जैन कुल मे होने के कारण कुलाचार पालन करने रूप अपने कर्तव्य के अनुसार ही मांस भक्षणादि रूप प्रवृत्ति नहीं करता है।

श्रावक के चतुर्थ गुणस्थानवर्ति होने के विषय मे कहा है कि—

दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम्।

केवल पाक्षिकः मः स्याद् गुणस्थानादसंयतः ॥ १३१ ॥ [लाटी संहिता पृ. ४७]

अर्थ—इस श्रावक के न तो पहिली दर्शन प्रतिमा है और न पाचवां गुणस्थान ही है, यह केवल पाक्षिक श्रावक ही है, और असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ही है।

श्रावक कुल म जन्म लेने वाले सभी जैन, सम्यग्दर्शन के धारक हों ऐसा नियम नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना कोई साधारण बात नहीं। आज कल तो हजारों जैनों मे भी २५ दोष रहित व्यवहार सम्यग्दर्शन का पालने वाला कोई बिरला ही दृष्टिगोचर होता है, फिर निश्चय सम्यग्दर्शन के धारक की दुर्लभता का तो कहना ही क्या है।

अतः जो सम्यग्दृष्टि न होकर केवल जैन कुल में जन्म लेने से जैन कहलाते हैं, उनको भी "आचारः प्रथमो धर्मः" सदाचार का पालन करना गृहस्थ का सबका पहिला धर्म है अतः श्रावक कहा है। कहा भी है—

आज्ञा मर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावकोमतः ।
कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४६ ॥ [लाटी संहिता पृष्ट १६]

अर्थ—सर्वज्ञ की यह ही आज्ञा है कि जो किया का धारक होता है, वही श्रावक माना गया है। अतः जो कोई अन्य गुणों में सबसे निकृष्ट श्रावक है वह भी कुलाचार को नहीं छोड़ता है।

इस लाटी संहिता के कथनानुसार कषाय का तीव्रता के कारण भावों से प्रतिज्ञा रूप त्याग न होने पर भी श्रावक को कुल परम्परा से चली आई कुछ क्रियाओं का पालन करना ही जरूरी है। इस कुलाचार की तरफ लक्ष्य रखकर (ध्यान देकर) ही वसुनन्दि आदि आचार्यों ने समस्त जैन धर्म धारकों के वंश में उत्पन्न हुए स्त्री पुरुषों को साधारण रूप से पालन करने योग्य मद्य मांस मधु व उदुम्बरादि ५ फलों के त्याग रूप आठ मूल गुणों का कथन किया है। और भी कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नु
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ १६ ॥ [रत्न माला]

मद्य मांस और मधु के त्याग सहित पांच अणुव्रतों के पालन रूप आठ मूल गुण तो उत्कृष्टता की अपेक्षा से हैं, और पंचोदुम्बर सहित मद्य मांस मधु के त्याग रूप आठ मूल गुण तो बालकों को भी धारण कराये जाते हैं। अर्थात् जब किसी जैन के बालक का जन्म होता है तब उसे १॥ माह के बाद श्री जिनमंदिरजी में लेजा कर उसे पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया जाता है, और पंचोदुम्बरादि त्याग रूप आठ मूल गुण भी धारण करा कर कुलाचार से जैन बनाया जाता है।

प्रसङ्गवश यह भी समझ लेना चाहिये कि बालक को आठ वर्ष की अवस्था तक मद्य मांसादि भक्षण से बचाये रहने की जिम्मेदारी उसके पालक व रक्षक माता पिता के ऊपर है। अतः यदि अबोध बालक को इनका भक्षण कराया जावेगा, तो उसके माता पितादि ही विशेष पाप के भागी होंगे।

दूसरे बालक के संरक्षकों का यह भी खास कर्तव्य है, कि इस अवस्था में बालक को इतना धार्मिक ज्ञान भी अवश्य करा देना चाहिये कि जिससे वह समझदार होने पर अधिक नहीं तो कम से कम कुलाचार के विरुद्ध मांस भक्षणादि में प्रवृत्ति तो न कर सके। अन्यथा यदि कुशिक्षा के प्रभाव से संतान कुमार्गगामिनी बन जावे तो इसमें भी संरक्षक दोष के भागी होते हैं। और भी कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही ॥ ७२६ ॥
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥ [पंचाध्यायी पृ. १८३]

अर्थ—जिसने मद्य, मांस और मधु के साथ उदुम्बरादि पांच फलों को त्याग दिया है, वही गृहस्थ श्रावक इस नाम से कहला सकता है। बिना आठ वस्तुओं के त्याग के कोई भी अपने को श्रावक या जैन कहलाने का अधिकारी नहीं है।

ये मद्यादि त्याग रूप आठ मूल गुणों का धारण किसी के तो इन मद्यादि में हिंसा,अपवित्रता आदि दोषों के देखने से अपने आप स्वभाव से ही हो जाता है, और कितने ही पुरुषों को इनका त्याग कुल एवं वंश परम्परा की अपेक्षा से हो जाता है। इन आठ गुणों को धारण किये बिना न तो किसी गृहस्थ के व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है और न कोई गृहस्थ व्रती श्रावक बनने के योग्य ही हो सकता है।

मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥" [यशस्तिलकचम्पू सोमदेवसूरि]

अर्थ—मद्य, मांस और मधु के त्याग रूप स्वामी समन्तभद्र के मूलगुणों को स्वीकार करते हैं। परन्तु पंचाणुव्रतों को मूलगुण नहीं मानते, उनके स्थान में पंच उदुम्बर फलों के–प्लक्ष, न्यग्रोध, पिप्पलादि, के त्याग रूप विधान करते हैं और लिखते हैं कि गृहस्थों के इस प्रकार आठ मूलगुण हुआ करते हैं।

"महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं।
अट्ठे दे मूलगुणा हवंति फुडुदेस विरयम्मि" ॥ [भाव संग्रह देवसेनाचार्य कृत]

अर्थ—ऊपर के श्लोक के अर्थ में तथा इसमें कुछ फेरफार नहीं है। अतः इसका अर्थ भी ऊपर के अनुसार समझ लेवें।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—श्रीमान अमृतचन्द्रसूरि भी इसही मत के पोषक हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थ में अहिंसा व्रत का वर्णन करते हुए इनका वर्णन किया है । हिंसा के त्याग की इच्छा रखने वालों को प्रथम ही इन मद्य मांसादिक को छोड़ देना चाहिये । इन आठ पापों को त्याग कर ही शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष जिन धर्म की देशना के पात्र होते हैं ।

उपर्युक्त चारों ग्रन्थों के अवतरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इनके कर्ता आचार्यों ने पंच अणुव्रतों के स्थान में पांच उदुम्बर फलों के त्याग का विधान किया है । आचार्यों का उपदेश समय के एवं आवश्यकता के अनुसार सिद्धान्तानुकूल ही हुआ करता है ।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रत धारिणां ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ॥ ७२३ ॥ [पंचाध्यायी]

अर्थ—यह बात ध्यान में रखने की है, कि स्वामिसमन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित मूलगुणों का व्यवहार अव्रतियों के लिये नहीं हो सकता, वे मूलगुण व्रतियों को ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं । यही दोनों भेद है । इस प्रकार इन मूलगुणों के धारक अव्रति श्रावकों तथा देश व्रतियों में भी परिगणित होते हैं । आचार्य सोमदेव ने तो यशस्तिलक में उन्हें स्पष्ट रूप से देशयति लिखा है । तो भी वास्तव में उन्हें नाम के ही श्रावक अर्थात् श्रावक सामान्य तथा देशव्रती समझना चाहिये । पंचाध्यायी के श्लोक नं. ७२६ से तो प्रकट होता है कि असली श्रावक तो वही है जो पांच अणुव्रतो को धारण करते हैं । इसकी पुष्टि के लिये एक शिव कोटि नाम के आचार्य हुए हैं, उन्होंने रत्न माला नाम के ग्रन्थ में लिखा है, कि जिसमें पंच अणुव्रत सहित मद्य मांस और मधु के त्याग को ही अष्ट मूलगुण माना है, और साथ ही में यह भी बतलाया है कि पञ्च उदुम्बर वाले जो अष्ट मूलगुण हैं वे अनभिज्ञ बालकों के लिये अथवा कमजोरों के वास्ते हैं ।

इस शास्त्रोक्त स्पष्टीकरण से यह निश्चय तो हो ही गया है कि पंचाणुव्रत के धारण कराने वाले मूल गुण तो प्रतिमा धारी श्रावकों के लिये हैं । और पंचाणुव्रत के स्थान में पांच उदुम्बरादि फलों के त्याग रूप आठ मूल गुण पाक्षिक श्रावक अथवा जो जैन कुल में जन्म लेने वाले स्त्री पुरुष हैं उन सबके लिये है ।

इनमें से अणुव्रत सहित मूल गुणों को उत्कृष्ट रूप से और जघन्य की अपेक्षा से पंचोदुम्बर सहित मद्य मांस मधु के त्याग रूप

मूल गुणों को माने जावें तो कोई आपत्ति नहीं है। रहे 'मद्योदुम्बरपंचकामिष' इत्यादि श्लोकोक्त मूल गुण, सोमध्यम श्रेणी के समझ लेने चाहिये।

कुछ आचार्य आठ से भी अधिक मूलगुण बताते हैं जैसे—

मद्यमांसमधुरात्रि भोजनक्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेवितव्रतम् ॥

इस प्रकार के कथन से मूलगुण आठ के स्थान में नव हो जाते हैं। यदि क्षीरवृक्ष वर्जन को एक ही गुण माना जावे तो मूलगुणों की संख्या पांच ही रह जाती है। सम्भवतः इसही ध्यान से आचार्य महाराज ने अपने ग्रन्थ में मूलगुणों की संख्या का निर्देश नहीं किया है। केवल इतना ही लिख दिया है कि "आदावेतेस्फुटमिह गुणाः निर्मला धारणीया"। अर्थात सबसे प्रथम ये निर्मल गुण धारण करने चाहिये।

यहां पर जो रात्रि भोजन नाम का गुण माना है उसके लिये आचार्यों के बहुत कुछ मत भेद हैं। जिसका कुछ दिग्दर्शन आगे रात्रि भोजन के कथन मे बताया जावेगा।

यहां पर इतना ही बता देना पर्याप्त है कि एक आचार्य मन्तव्य दूसरे आचार्य से भिन्न है।

मद्यमलमधुनिशाशनपंचफलीविरति पंचफलकाप्तनुति।

जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥ १८ ॥ [सागारधर्मामृत २ अ.]

अर्थ—मद्य १ मांस २ मधु ३ रात्रि भोजन त्याग ४ पंचोदुम्बर फलों का त्याग पंच परमेष्ठि की स्तुति ६ जीवों की दया मालना ७ और पानी छान कर पीना ये आठ मूलगुण कहीं पर कहे है। ये आशाधरजी का अभिमत है। स्वामी समन्तभद्र १ जिनसेन २ सोमदेव ३ आचार्यों का जो मन्तव्य है उसको पर कहकर अरुचि प्रकट की है।

आगे श्वेताम्बराचार्यों के शासन भेद को दिखाते हैं—

मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अनंतकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितोदनं ।
दध्यहर्द्वितीयातीतं कुथितान्नं विवर्जयेत् ॥ ७ ॥ [हेमचन्द्राचार्यकृत योगसार]

अर्थ—मद्य मांसादिक के त्याग रूप उक्त मूलगुणों का प्रायः सारा कथन भोगोपभोग परिमाण नामा गुणव्रत में किया गया है। परन्तु विशेष रूप से उनके यहां दिगम्बराचार्यों जैसा कथन नहीं मिलता है।

इस प्रकार श्रावक के मूलगुणों का वर्णन किया। परन्तु सब आचार्यों का मन्तव्य एकसा नहीं मिलता, कोई अणुव्रत सहित अष्ट मूलगुण बताते हैं, कोई रात्रि भोजन त्याग रूप बताते हैं, कोई द्यूत (जूआ) त्याग रूप बताते हैं। इस प्रकार फेरफार सबमें है। परन्तु अहिंसा की पूर्ति सबका उद्देश्य है। जिस समय जिस गुण की आवश्यकता होती है वैसा ही मूलगुण वर्णन कर देते हैं। अहिंसा के उद्देश्य में बाधा नहीं आने देते। अतः जो भी मूलगुण बताये हैं वे सब पूर्वाचार्यों के मन्तव्य के अनुसार ही हैं।

यहां तक मूलगुणों का सामान्य रूप वर्णन किया। अब आगे अष्ट मूलगुणों के अतिचारों का वर्णन करते हैं—

पंचोदुम्बर के अतिचार

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादित्वदारितम् ।
तद्वद्भल्लादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥ १४ ॥ [सागारधर्मामृत तृ. अ.]

अर्थ—पांच उदुम्बर के त्यागी दार्शनिक श्रावक को कोई भी अजान फल नहीं खाना चाहिये। विदारे बिना, भटा, कचरिया, और सुपारी आदि भी नहीं खाना चाहिये। तथा सेम की फली आदि को भी बिना फोड़े नहीं खाना चाहिये।

भावार्थ—त्रस जीवों से भरे हुए फलों का त्याग कर देना चाहिये। तुच्छ फलों को त्यागना, गले हुए, घुने हुए, त्रसजीवों से भरे हुए और बिना जाने फलों का त्याग कर देना चाहिये। जिन फलों में छिद्र हो ऐसे फलों को भी छोड़ देना चाहिये। और साबुत फल (बिना फोड़े) जैसे नारियल, सुपारी, गोला, बेर जामुन, और भी जैसे अजानफल, बिना छना पानी, पहले छना हो फिर दो घड़ी पीछे बिना छना

नहीं पीना चाहिये। इन सब को देख भाल कर लेना चाहिये अन्यथा अतिचार लगेगा।

मद्यव्रत के अतिचार

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोन्यथा ॥ ११ ॥ [सागार धर्मामृत तृ. अ.]

अर्थ—सब प्रकार के आचार मुरब्बों का दार्शनिक प्रतिमावाले एवं मद्यव्रती को त्याग कर देना चाहिये तथा जिसे दो दिन तथा रात व्यतीत हो चुकी है ऐसे दही मठा और जिस पर फूल आगये हों ऐसी कांजी को भी छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ—मद्यव्रती को नशीले पदार्थ जैसे तम्बाखू, अफीम, गांजा, भांग, कोकीन, आसव, अरिष्ट, कोंदो का रस, कांजी, संधान (आचार) मुरब्बे मर्यादा से बाहर के दही छाछ, फुई वाली चीजें, सड़ा हुआ मांड, ताड़ व खजूर का रस, मद्य के पात्रों का भोजन, तथा मद्य-पायी के हाथ का भोजन, एवं मद्य का व्यापार भी त्याग देना चाहिये अन्यथा अतिचार लगेगा।

मांस के अतिचार

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥ १२ ॥ [सागार धर्मामृत अ. ३]

अर्थ—चमड़े के पात्रों में रखा हुआ घी, जल, और तेल आदि तथा चमड़े से आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखने वाली हींग एवं स्वाद से चलित भोजन का उपयोग मांस त्यागी को नहीं करना चाहिये अन्यथा अतिचार लगता है।

भावार्थ—चर्म के वर्तनों में रखा जैसे घी तेल, जल, हींग, चमड़े से ढका हुआ नमक, चमड़े की चालनी, सूपड़ा, उसका छना आटा आदि, चमड़े से ढका दूध दही छाछ, मांस खाने वाले के बरतन या उनका बनाया एवं लाया हुआ भोजन, बीधा अनाज तथा और भी इस प्रकार के पदार्थ त्याज्य हैं; अन्यथा मांस भक्षण का अतिचार लगता है।

मधु के अतिचार

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये ।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादि–प्रयोगं नार्हति व्रती ॥ १३ ॥ [सागार धर्मामृत रु. ३]

अर्थ—मधु त्याग व्रत को पालन करने के लिये प्रायः करके फूलों को नहीं खावें। और व्रती पुरुष वस्त्यादि कर्मों में भी मधु आदि का उपयोग न करे।

भावार्थ—रोग की शान्ति के लिए प्राण त्याग होने पर भी शहद नहीं खाना चाहिये। शहद खाने से अहिंसा धर्म रह ही नहीं सकता। इससे दुर्गति की प्राप्ति होती है। जिन पुष्पों से त्रसजीव अलग नहीं किये जावें ऐसे पुष्पों को त्याग देना चाहिये। जैसे गोभी, कचनार, निम्ब, केवड़ा, केतकी आदि। शहद को आंजना भी नहीं चाहिये, अन्यथा अतिचार आजाता है।

मिथ्यात्व का वर्णन

मिथ्यात्व के कारण मिथ्यादृष्टि जीव को समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता, जैसे पित्त ज्वरी को मिष्ट दूध भी नहीं रुचता।

मिथ्यात्वसदृशं पापं सम्यक्त्वेन समं वृषं ।
न भूतं भुवने चापि नास्ति नाग्रे भविष्यति ॥ १ ॥
नीचदेवरतो जीवो मूढः कुगुरुसेवकः ।
कुज्ञानतपसा युक्तः कुधर्मा कुगतिं व्रजेत् ॥ २ ॥
वरं सर्पमुखे वासो वरं च विषभक्षणम् ।
अचलाग्निजले पातो मिथ्यात्वे न च जीवितं ॥ ३ ॥
सकलदुरितमूलं पापवृक्षस्य बीजं,
नरकगृहप्रवेशं स्वर्गमोक्षैकशत्रुं ।

त्रिभुवनपतिनिन्द्यं मूढलोकैर्गृहीतं,
त्यज सकलमसारं त्वं च मिथ्यात्वबीजं ॥ ४ ॥ [सुभाषितावली]

अर्थ—मिथ्यात्व के समान पाप और सम्यग्दर्शन के समान पुण्य तीनों लोकों में न हुआ है और न होगा। क्योंकि मिथ्यात्व के कारण आत्मा चतुर्गति रूप संसार में घूमता है।

मिथ्यादृष्टि जीव, जघन्य कोटि के रागी द्वेषी देवों की तथा खोटे गुरुओं की सेवा करता है। इसलिये खोटे ज्ञान और खोटे तप के कारण कुधर्म को प्राप्त होकर खोटी गति में जाता है।

इसलिये सर्प के मुख में प्रवेश करना, विष का भक्षण करना, दावानल अग्नि में जल जाना, तथा समुद्र में डूब कर मर जाना, किसी प्रकार अच्छा है; किन्तु मिथ्यात्व सहित जीवन कदापि अच्छा नहीं। क्योंकि उक्त सर्प आदि द्वारा एक ही पर्याय नष्ट होती है और मिथ्यात्व के कारण अनेक पर्यायें नष्ट होती हैं।

इस कारण हे भव्य जीवो! समस्त पापों का मूल, पाप रूपी वृक्ष का बीज, नरक में प्रवेश कराने वाला, स्वर्ग मोक्ष का शत्रु जिनेन्द्र देव द्वारा निन्द्यनीय, मूर्खों से ग्राह्य और असार मिथ्यात्व को छोड़ो। कहा भी है—

कुदेवगुरुशास्त्राणां भक्तिर्मिथ्यात्ववर्धिनी।
कुर्वन्ति मनुजाः ये वै ते स्युः नरकगामिनः॥

अर्थ—कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र की भक्ति मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली है। जो मनुष्य इनकी भक्ति करते हैं वे नरकगामी होते हैं

कुदेवों का स्वरूप

मज्जे धम्मो मंसे धम्मो जीवाहिसाई धम्मो।
राई देवो दोसी देवो माया सुण्णं पि देवो ॥ १८४ ॥ [भावसंग्रह–देवसेनाचार्य कृत]

अर्थ—मद्य में, मांस भक्षण एवं जीवों की हिंसा में धर्म को कहने वाले, रागी, द्वेषी, मायाचारी, स्त्रियों के बहकाने वाले, अनेक

प्रकार के उपद्रव करने वाले, खोटी चेष्टा के धारक कुदेव होते हैं।

आज लोग झूंठे चमत्कार के पीछे पड़कर चाहे जिसे देवता मान बैठते हैं। पर उन्हें सोचना चाहिए कि वह व्यक्ति कभी देवता नहीं हो सकता जिसके विषय कषाय नहीं घटी है। जो पुरुष विषय वासना में लिप्त है वह 'भगवान' इस पद से अलंकृत नहीं हो सकता। क्योंकि विषयी और कषायी होकर भी मोक्ष मार्ग का नेता हो ये दोनों कार्य परस्पर विरोधी हैं। ये दोनों कार्य एक स्थान में नहीं हो सकते। कहा भी है—

क्रोधी मानी मायावी च लोभी शाश्वतरूपकः।

रागद्वेषभयाशाभाक् ईश्वरो न भविष्यति ॥ [सुदृष्टितरङ्गिणी]

अर्थ—जिस प्राणी की आत्मा राग द्वेष युक्त हो, जैसे किसी को मारना, किसी को बचाना, किसी को वरदान देना, किसी से पूजा भेट चाहना, किसी पर क्रोध करना, किसी पर प्रसन्न होना, किसी को अपना लेना, किसी को छोड़ देना, इस प्रकार की जितनी भी क्रिया हों, सो सब संसारी जीवों में घटित होती हैं। कारण कि जिनको देखते ही भय लगे उनसे संसारी जीव अपना कैसे कल्याण कर सकते हैं। ऊपर जितना भी कार्य बताया है सो सब कुदेवों में घटित होता है। यदि किसी को विशेष समझना हो तो मिथ्यात्व खण्डन रत्नाकर, आप्त परीक्षा, आप्त मीमांसा, या अष्टसहस्री से समझ लेना चाहिये। और भी कहा है—

ये शस्त्रादिभृतो रौद्राः द्वेषाद्यैः परिवर्तिताः।

शापप्रसादसंरंभा न ते देवाः भवापहाः ॥ [प्रबोधसार]

अर्थ—जो त्रिशूलादिक हथियारों को धारण करने वाले क्रूर, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, और लोभी, अर्थात् कषाय से व्याप्त, रुष्ट होने पर शाप देने वाले, अनुकूल होने पर प्रसन्न होने वाले, एवं आरम्भी हैं वे कुदेव (खोटे देव) हैं। उनकी भक्ति से संसार समुद्र में डूबना ही होगा पार नहीं हो सकते। जिनमें अहिंसा रूप धर्म के लक्षण घटित नहीं होते वे कुदेव हुआ करते हैं। देव वह ही हो सकता है जिसके सामने सदैव अनुकम्पा का समुद्र बहता रहे।

कुशास्त्र का लक्षण

पूर्वापरविरोधार्थं रद्वैतादिनयैस्तथा ।
विरुद्धं यद्भवेत्तत्वं तत्र तत्वं मतां मतं ॥ १ ॥ [प्रबोधसार]

अर्थ—जिनमें पूर्वापर विरोध पाया जाता है-कहीं पर हिंसा को अधर्म बताया है और कहीं पर अर्थात् यज्ञादिक में प्राणि-हिंसा को धर्म बताया है; एवं जिनमें सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, एकान्त धर्म का निरूपण है; और प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से विरोध है वे सब कुशास्त्र समझने चाहिये।

जिनमें राजकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, शृंगारकथा, नटकथा, भटकथा, लड़ाईकथा, शिकारकथा, गीत नृत्यवादित्रकथा एवं सांसारिक कथा हो, और जिनमें मांस, मदिरा भक्षण का कथन हो, जीवों के मारने के उपाय बताये गये हों, एवं यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रादिक बताये गये हों, इस प्रकार के कथन करने वाले सब कुशास्त्र हैं। दूसरे शब्दों में उनको शस्त्र कहना चाहिये क्योंकि इनसे प्राणियों का अहित होता है। कहा भी है—

"विकथादि समावेशाः रागद्वेषादिवर्धकाः ।
मारणोच्चाटनाख्यानाः कुत्सिताः आगमाः मताः" ॥

इस पद्य का तात्पर्य ऊपर आचुका है।

कुगुरुओं का स्वरूप

सर्वसावद्यसम्पन्नाः संसारारम्भवर्तिनः ।
सलोभाः समदाः सेर्ष्याः समानाः यतयो न ते ॥ १ ॥

अर्थ—जो समस्त हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप कार्य में प्रवृत्त है तथा संसार को बढ़ाने वाले कार्य करते हैं-जैसे व्यापार करना, भोजन बनाना, कृषि करना आदि आरम्भ करना; लोभ, मद, ईर्ष्या, और अभिमान जिनमें पाया जावे, वे गुरु कहलाने योग्य नहीं है, कुगुरु हैं। क्योंकि उनका आचरण साधारण मनुष्य जैसा है। और भी कहा है—

फूटी आंख विवेक की, सूझ पड़े नहीं पंथ ।
ऊंट बलध लादत फिरें, जिनको कहें महंत ॥ [कबीरदास]
लीनो कहा जोग जोलों भोगसों न मूंह मोरयो ।
लोक को रिझायवे को धूम्र पान गटकें ॥
कोहू शीस धारे जटा कोहू तो उखारे लटा ।
कोहू कनफटो, कोहू क्रिया ही में अटका ॥
कोहू मठवासी कोहू होय के सन्यासी ।
कोहू होय के उदासी परतीर्थ में भटका ॥
आतमा (ब्रह्म) को चीन्हों नाहीं मन वश कीनों नाहीं ।
एते पर होत कहा थोथे कान पटका ॥ १ ॥

तात्पर्य—इस प्रकार की क्रियाओं के करने से कुगुरु ही कहला सकते हैं न कि सुगुरु ।

कुधर्म का स्वरूप

"मिथ्याबुद्धिभिराम्नातो हिंसाद्यैर्विपदाम्पदम् ।
धर्मधर्मेति नाम्नैव न धर्मोऽयं सतां मतः ॥ १ ॥"

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टियों द्वारा कहा गया हो, और जिसमें हिंसा झूंठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह का विधान हो, भले ही उसे भोले पुरुष धर्म कहें, किन्तु केवल नाम का ही धर्म है । वास्तव में वह अधर्म है, सज्जनों से माननीय नहीं है । ऐसा कुधर्म प्राणियों को संसार रूपी समुद्र में डुबाने वाला है ।

अब सम्यग्दर्शन का सामान्य लक्षण बतला कर सच्चे देव और सच्चे गुरु का लक्षण बतलाते हैं—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।

मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादि भाक् ॥ १ ॥

देव का स्वरूप

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।

सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥ २ ॥

अठारह दोष

क्षुत्पिपासा भयं द्वेषश्चिंतनं मूढतागमः ।
रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥ ३ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ ४ ॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥ ५ ॥ [यशस्तिलक चम्पू ६ आश्वास]

अर्थ—सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, और सच्चे जीवादि सप्त तत्वों का, ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद, और शङ्कादिक ८ दोष इन २५ दोषों से रहित और ८ अङ्ग सहित जैसे का तैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

उस सम्यग्दर्शन के होने पर आत्मा में प्रशम कषायों की मन्दता होती है ।

संवेग—संसार के पदार्थों से भयभीत होना, अनुकम्पा—प्राणियों पर दया करना, और आस्तिक्य—परलोक स्वर्ग नरक मोक्ष आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करना, ये चार बातें होती हैं ।

जो क्षुधा तृषा आदि १८ दोषों से रहित हो; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ४ घातिया कर्मों का जिसने सर्वथा क्षय-कर दिया हो अर्थात् वीतरागी हो; संसार की समस्त वस्तुओं को एक काल में प्रत्यक्ष जानने वाला हो अर्थात् सर्वज्ञ हो; समस्त संसार का स्वामी हो; समस्त प्राणियों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाला हो; हितोपदेशी हो; ऐसे तीर्थङ्कर भगवान को गणधरादिक ने सच्चा देव कहा है।

भूख, प्यास, भय, राग, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा, और विषाद ये १८ दोष हैं। ये संसारी प्राणियों में साधारण तौर से पाये जाते हैं। इन १८ दोषों से जो रहित हो-वह निरंजन, पाप कर्मों से रहित, केवल ज्ञान रूपी नेत्रों वाला, आप्त-सच्चा देव है। वह प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग रूप शास्त्रों का निर्माता एवं मोक्षमार्ग का नेता है।

सच्चे शास्त्र का लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ ९॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—जो तीर्थङ्कर भगवान का कहा हुआ हो, वादियों के द्वारा खण्डनीय न हो, प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों से जिसमें विरोध न हो, वास्तविक जीवादिक ७ पदार्थों का स्वरूप बतलाने वाला हो, समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो और जो मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं।

सच्चे पदार्थ का स्वरूप

"तत्व प्रमाणनयाधीन निर्दोषार्हत्प्रभाषितं" [प्रबोधसार]

अर्थ—जिनका स्वरूप प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से जाना जावे, एवं जो निर्दोष सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे गये हों। ऐसे अनेक धर्मों वाले, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ को तत्व पदार्थ कहते हैं।

सच्चे गुरु का लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

सर्वसत्वहिताः शान्ताः स्वदेहेऽपि हि निस्पृहाः ।

यतयो ब्रह्मतत्वस्था यथार्थपरिवादिनः ॥ १ ॥ [प्रबोधसार]

अर्थ—जो विषयों की आकांक्षा से रहित हो, खेती व्यापार आदि आरम्भों तथा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से रहित हो, तथा जो ज्ञान ध्यान और तप में लीन हो उसे सच्चा गुरु कहते हैं।

समस्त प्राणियों के हित करने वाले; शांत स्वभावी-अर्थात् जिनके कषायों की मन्दता है; अपने शरीर में भी ममत्व न रखने वाले, और जब अपने शरीर से भी ममत्व नहीं है तो फिर बाह्य धन धान्य वस्त्र आदि परिग्रह के पूर्ण त्यागी; यथार्थ आगम के अनुकूल भाषण करने वाले और आत्मीक ज्ञान और ध्यान मे सर्वदा लीन रहने वाले ही यति, मुनि अथवा सच्चे गुरु हैं। इस प्रकार पाक्षिक श्रावक मिथ्यात्व को त्याग कर सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु और जीवादि ७ तत्वों का श्रद्धान करने वाला होता है।

जघन्य पाक्षिक श्रावक का संस्कार

"असंस्काराज्जायते शूद्रः संस्काराज्जायते द्विजः" [आदि पुराण]

अर्थ—बिना संस्कार के रहने वालों की शूद्र संज्ञा होती है और संस्कारों से उत्तम द्विज-ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य संज्ञा होती हैं। इस आर्ष प्रमाण के अनुसार ही जैनों मे बच्चे के संस्कार की प्रथा चली आ रही है।

भावार्थ— जब गृहस्थ के घर मे बच्चा पैदा होता है तो उस दिन से लगा कर दश दिन तक सूतक माना जाता है और इसके ३५ दिन बाद वह बच्चा श्री जिन मन्दिर मे लेजाया जाता है। इस प्रकार की प्रथा जैनियों में परम्परा से चली आ रही है। इसका कारण यह है कि ४५ दिन के बाद वह बच्चा जघन्य पाक्षिक श्रावकों के संस्कारों से सुसंस्कृत किया जाता है अर्थात् उसके कुटुम्बी जन उस बालक पर जैन धर्म का संस्कार करते हैं। अर्थात् यह कहते हैं कि हे बच्चे ? तुझे इस संसार में जैन धर्म प्राप्त हुआ है या नहीं ? यह हम नहीं जानते, परन्तु

आज हम लोग तुझे जैन बनाते हैं। क्योंकि तू हमारे कुल में पैदा हुआ है। ऐसा कहकर उस बालक को श्री जिन बिम्ब के सम्मुख लेटाते हैं। पश्चात् उसके कानों में पञ्च परमेष्ठी का स्मरण रूप णमोकार मन्त्र सुनाते हैं। और बाह्य व्रतों में उसके लिये उपचार मात्र से पांच उदम्बर फल और तीन मकार के त्याग रूप आठ मूल गुणों का धारी, कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के सेवन का त्यागी, एवं सच्चे देव, सच्चे गुरु तथा सच्चे शास्त्र का भक्त बनाते हैं।

इस प्रकार उस बालक में पाक्षिक श्रावक के संस्कार स्थापित किये जाते हैं। जब तक उस बालक की आयु ८ वर्ष की न होजावे तब तक उसके व्रतों की रक्षा उसके माता पिता करते हैं। उसी समय से वह बच्चा पाक्षिक श्रावक पद का धारी कहलाता है। और एकादश गुणधारी जघन्य पाक्षिक होता है।

स्थूल रूप से बताये गये जैसे पांच उदुम्बर फल का त्याग, तीन मकार का त्याग तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का त्याग इस प्रकार ग्यारह पदार्थ हुए। (कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के त्याग से सुदेव-सुगुरु और सुशास्त्र का ग्रहण कर लेना चाहिये) ११ गुणों का धारक ४५ दिनों का बालक होता है। इन ग्यारह प्रकार के लक्षणों का वह उपचार से धारक कहलाता है। यथार्थ में ८ वर्ष तक उसके माता पिता ही इन व्रतों के पालन करने में उसकी रक्षा करते हैं। यदि माता पिता के प्रमाद से वह व्रतों का भङ्ग करता है तो उसके पाप के भागी उसके संरक्षक-माता-पिता ही होते हैं।

मध्यम पाक्षिक का स्वरूप

"प्रपाल्य वै मूलगुणाष्टकं सदा, संसेव्य देवाननु शास्त्रपूजकः।
करोति सेवां सुगुरोस्तपस्विनः, जहाति सर्वं व्यसनं हि मध्यमः॥"

अर्थ—जो जघन्य पाक्षिक के गुणों से युक्त होकर, समस्त प्रकार के मुख्य रूप से सप्त व्यसनों को त्याग कर देता है उसे मध्यम पाक्षिक श्रावक कहते हैं।

भावार्थ—ऊपर जो जघन्य पाक्षिक श्रावक के-पञ्च उदुम्बर फल और ३ मकार के त्याग तथा सच्चे देव शास्त्र गुरु की भक्ति ये ग्यारह गुण कहे गये हैं उन सहित ७ सप्त व्यसनों का त्याग होता है। अर्थात् मध्यम पाक्षिक के ११+७ योग १८ गुण हुए। इनमें से मांस और मदिरा का ग्रहण तो तीन मकार में हो चुका है। और सप्त व्यसनों में भी उनका वर्णन आया है, अतः उन दोनों को पृथक् करने से १६ क्रियाएं एवं सद्गुण मध्यम पाक्षिक के रह जाते हैं।

पाक्षिक श्रावक के अन्य मुख्य कर्तव्य

"धेयं सदा श्रीजिनदेवदर्शनं, पेयं सुपाथः पटगालितं सदा ।
हेयं निशायां खलु भोजनं हृदा, एतानि चिह्नानि भवन्ति श्रावके ॥"
"जल छानन तजि अशन निशि, श्रावक चिह्न जु तीन ।
नितप्रति जो दर्शन करे सो जैनी परवीन ॥"

प्रति दिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना, जल छान कर पीना, और रात्रि समय में भोजन न करना, ये तीन श्रावक के चिह्न हैं। इनसे जैन पहचाना जाता है।

आगे क्रमशः इनका पृथक् २ विस्तार से वर्णन करते हैं।

नित्य प्रति देव दर्शन करना–जिन–भक्ति

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेय परम्परा विचिंतिज्ज ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८२ ॥ [श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मोक्ष प्राभृत]

अर्थ—जो अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियों की भक्ति करते हैं, और वैराग्य का चिन्तवन करते हैं, तथा ध्यान मे रत हैं, अर्थात् परमात्मा व निज आत्मा के ध्यान में तत्पर हैं और सदाचार के धारक हैं, वे ही मोक्ष मार्ग के पथिक माने गये हैं। और भी कहा है—

"पुण्यं जिनेन्द्रचरणार्चनमाप्यमाद्यं ।
पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमेतत् ॥
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् ।
पुण्यार्थिना मिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥ १ ॥"

अर्थ—(१) श्री जिनेन्द्र देव के चरणारविन्दों की पूजा करने से (२) उत्तम पात्रों को दान देने से (३) अहिंसादि व्रतों को पालन करने से (४) उपवास करने से पुण्य होता है। इसलिये पुण्य की इच्छा वाले गृहस्थों को उचित है कि वे इन चारों उपायों द्वारा पुण्य का संचय करें। और भी कहा है—

अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परंतमः ॥ [यशस्तिलक चम्पू सोमदेव सूरि]

अर्थ—गृहस्थावस्था में जो पुरुष दर्शन स्तुति पूजनादि के द्वारा श्री जिनेन्द्र देव की पूजा न करके और आहारदान वैयावृत्तादि के द्वारा निर्ग्रन्थ मुनियों की सेवा आदि न करके भोजन करता है वह भोजन नहीं करता किन्तु महा पाप बन्ध का आहार करता है अर्थात् महा पाप का बंध करता है। और भी कहा है—

जो जिणवरिंदपूअं कुणई ससत्तीए सो महा पुरिसो ।
तेलोय पूअणी ओ अइरेणय सो नरो होइ ॥ १३८ ॥ [धर्मरसायण]

अर्थ—जो उत्तम पुरुष निज शक्ति के अनुसार श्री जिनेन्द्र देव की पूजन करता है वह अल्प काल में ही तीनों लोक के जीवों द्वारा पूज्य हो जाता है। और भी कहा है—

व्रतं शीलं तपोदानं संयमोऽर्हत्प्रपूजनम् ।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥ ३२२ ॥ [श्री कुलभद्राचार्यकृत सारसमुच्चय]

अर्थ—श्री जैनागमों में जो व्रतग्रहण, शीलपालन, तपश्चरण, दान करना, संयम धारण, और जिन पूजन का उपदेश दिया गया है वह सब संसार परिभ्रमण जनित दुःख का नाश करने वाला है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। और भी कहा है—

"यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयते न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्"
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं ।
तत्रस्था भवसागरेति विषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥ २२५ ॥ [पद्मनन्दि पंचविंशतिका]

अर्थ—जो गृहस्थ प्रति दिन श्री जिनेन्द्र देव का दर्शन नहीं करते हैं, तथा श्री जिनराज के गुणों का स्मरण नहीं करते हैं, और न श्री जिनेन्द्र देव की पूजा एवं स्तुति ही करते हैं तथा सामर्थ्य होने पर भी परम भक्ति के साथ श्री मुनिराज को दान नहीं देते हैं, उन मनुष्यों का गृहस्थाश्रम में रहना, पत्थर की नाव के समान है, क्योंकि वे गृहस्थ मनुष्य अत्यन्त गहरे व भयङ्कर संसार समुद्र में डूबते हैं और नष्ट होते हैं। और भी कहा है—

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवनं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥"

अर्थ—जो प्रति दिन श्री जिनेन्द्र का दर्शन और स्तवन नहीं करते उनका जीवन निष्फल है, और उनके गृहस्थपने को भी धिक्कार है। और भी कहा है—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय,
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रम्।
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम्॥ [भूपाल चतुर्विंशतिका]

अर्थ—हे नाथ ! यदि किसी को सोकर उठते ही मङ्गल जनक पदार्थ देखना हो तो वह अन्य सबको न देखकर तीन लोक के समस्त मङ्गल कारक पदार्थों का स्थान भूत (सर्वोत्कृष्ट कल्याण के कर्ता) आपके ही मुख का दर्शनकरे। और भी कहा है—

जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किञ्चित् दुर्लभं भवेत्॥ २१३॥ [पद्म पुराण पृ. १४]

अर्थ—जो पुरुष श्री जिनेन्द्र से आकार वाला जिन बिम्ब–बनवा कर स्थापित करता है, श्री जिनेन्द्र की पूजा व स्तुति करता है उस सज्जन के कोई भी सुख सामग्री दुर्लभ नहीं होती। और भी कहा है—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं।
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं॥

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं ।
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—श्री जिनेन्द्र का भक्त भव्य जीव अपार महिमा के धारक इन्द्रपने को, सब भूपालों से पूज्य चक्रवर्ती पद को और त्रिभुवन को नम्रीभूत बनाने वाले तीर्थङ्कर पद को क्रमशः प्राप्त करके सिद्ध पद की प्राप्ति करता है। और भी कहा है—

करजुअलकमलमुअले भालत्थे तुह पुरो कराअम्मि ।
सग्गा पवग्गा कमला थुणंति तंतेण सप्पुरिसा ॥
विचलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठग्गपरिठविया ।
परविय सीसाण त ओपणविय सीसा बुहा होंति ॥ [पद्मनन्दि पंचविंशतिका]

अर्थ—हे भगवन्! जो सत्पुरुष दोनो हाथों को कमल डोडी के समान मुकुलितकर और उनको मस्तक पर धारण करके आपके सामने खड़े होते हैं उनको स्वर्ग-मोक्ष-लक्ष्मी मिलती है। अतएव सज्जन जन आपकी स्तुति करते हैं। आपके आगे खड़े हुए भक्त पुरुषों पर मोह रूपी ठग के द्वारा गेरी हुई जो मोहन धूली (बेहोश बनाने वाली मिट्टी की भुरकी) है वह नष्ट हो जाती है अर्थात् अनादि काल से मोहनी कर्म के द्वारा बेहोश हुआ जो आत्मा निज स्वरूप को भूल कर पर पदार्थों में ममत्व का धारक बना रहा था वह निज शान्त स्वरूप को पहिचानने लगता है। अतएव ज्ञानी पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

आगे आचार्यों के कथन का सार बताते हैं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥

अर्थ—यदि कोई चारित्र मोहनी के उदय से अणुव्रतादि का धारण एवं तपश्चरणादि न कर सके और मन, वचन, काय से जिनेन्द्र देव की भक्ति ही करे तो उसको दुर्गति में जाने से रोकने में, पुण्य का भरपूर संचय कराने में और मुक्ति लक्ष्मी को देने में वह केवल जिन भक्ति ही सामर्थ्य रखती है। व्रतादि रहित भी जिन भक्ति से दुर्गति के पतन से बचा कर स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति करता हुआ

परम्परा से शीघ्र ही मोक्ष का भागी हो जाता है।

यहां यदि यह शङ्का की जावे कि रागद्वेष से रहित श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा हमारा कल्याण कैसे हो सकता है ? क्या वे हमारी भक्ति से प्रसन्न होकर हमें स्वर्गादि का सुख देते हैं और जो उनकी निन्दा करता है उसे नरकादिक के दुःख भुगताते हैं ?

इस शङ्का का समाधान स्वामी समन्तभद्र इस प्रकार देते हैं कि—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ [स्वयंभू स्तोत्र]

अर्थ—हे नाथ ! आप वीतराग हैं। इसलिये आपको अपनी पूजा कराने से कुछ प्रयोजन नहीं है। तथा आप द्वेष भाव से रहित हैं अतः कोई निन्दा करे तो उससे भी आपको कोई मतलब नहीं है। तथापि आपके पवित्र गुणों की स्मृति हमारे चित्त को पाप रूपी मैल से पवित्र करती है।

भावार्थ—आप सेवक वा निन्दक दोनों में समभाव के धारक हैं, अतः किसी को सुख दुःख नहीं देते तो भी जिस समय हम आपके गुणों को याद करते हैं। उस समय हमारे भावों में ऐसी निर्मलता आजाती है कि जिसके द्वारा संचित हुए पुण्य से हमें स्वयंमेव स्वर्गादिक सुखों की प्राप्ति हो जाती है। और निन्दा करने से स्वयं कुगतियों का दुःख उठाना पड़ता है। यह उस किये हुए कर्तव्य की स्वयं ऐसी शक्ति है सो बिना मिलाये ही ऐसे फल स्वयं मिल जाते हैं।

यहां पर पुनः यदि ऐसी शङ्का की जावे कि जब भगवान के गुणों का स्मरण करने से ही पुण्य बंध होता है, तो गुणों का चिंतवन तो बिना प्रतिमा के भी हो सकता है, फिर प्रतिमा के दर्शन की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यह है कि—गुणों का स्मरण करना मन का काम है। और यह तभी हो सकता है जब कि अन्तरङ्ग में रागद्वेष जनित सङ्कल्प विकल्प या वासनाओं से और बाहर कुटुम्बादि परिवार के पालन पोषण सम्बन्धी व खान पानादि सम्बन्धी तथा व्यापारादि सम्बन्धी लौकिक झंझटों से मन को हटाया जावे। क्योंकि जब तक चित्त की एकाग्रता न हो, तब तक परमात्मा के गुणों का स्मरण होना असम्भव है। भगवान की प्रतिमा के समक्ष चित्त की एकाग्रता अच्छी तरह हो सकती है और तब परमात्मा के गुणों का स्मरण अपने आप ही होने लगता है। इस सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है :—

"तेरी छवि है अटपटी झटपट लखै न कोय।
जब मन की खटपट मिटै चटपट दर्शन होय ॥ १ ॥
जब लग या मन सदन में प्रभु किंह आवे वाट।
निपट विकट जबलों जुड़े खुलै न कपट कपाट ॥ २ ॥"

आज कल के मोह जाल में फंसे हुए गृहस्थों के परिणामों के विषय में कहा है—

धिग् दुःखमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदशामपि।
चैत्यालोकाद्विना नस्यात्प्रायो देवविशामतिः ॥ ३६ ॥ [सागार धर्मामृत]

अर्थ—जैसे आखों वाला मनुष्य भी गहरी अंधेरी रात्रि में दीपक के प्रकाश के बिना अपने मनोवांछित विकट स्थान में नहीं जा सकता, उसी प्रकार इस पञ्चम (कलि) काल रूप रात्रि में मोहान्धकार ग्रसित शास्त्रज्ञ पुरुष भी जब तक श्री जिन प्रतिमा के दर्शन न करे, तब तक उनके चित्त में भक्ति भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

जैन प्रतिमाओं को इतिहास बहुत पुराना है। प्रचलित सन् सम्वतों में भी हजारों वर्ष प्रथम भारत के ही नहीं किन्तु अरब फारस यूनान आदि विदेशों के स्त्री पुरुष भी मूर्ति पूजक ही थे। और जहां २ जैन धर्म का प्रचार था वहां के जैन जन अवश्यमेव जिन प्रतिमा की पूजन किया करते थे।

बुत परस्तों (मूर्ति पूजकों) को काफिर समझने वाले इसलाम धर्म के मानने वालों का जब भारत में राज्य होने लगा, तो उन्होंने राज्य की वृद्धि के साथ २ ही अपने धर्म की जन संख्या बढ़ाने के लिये स्थान २ पर मन्दिरों व प्रतिमाओं को तोड़ फोड़ कर भोली भाली जनता को दिखलाया कि जब तुम्हारे माने हुए ईश्वर वा देव की प्रतिमा अपनी व अपने निवास स्थान मन्दिर की भी रक्षा नहीं कर सकती है तो वह तुम्हारा भला क्या कर सकेगी। ऐसे उपदेशों से कितनों ही का मूर्ति पूजा पर से विश्वास उठने लगा। किन्तु फिर भी मूर्ति पूजा निर्बाध चलती रही।

वि. सं. १५०८ तक जैन समाज में कोई भी मूर्ति पूजा का प्रकट रूप से विरोध नहीं था। परन्तु ऐसे ही अवसर को पाकर सबसे

पहिले एक श्वेताम्बरीय जैन गृहस्थ लुंका नामक लेखक ने कषाय वश लुंका गच्छ स्थापित किया। इसी में से बाद में बाइस टोला हो गये जो स्थानकवासी कहलाने लगे। इन स्थानकवासियों में से भी कुछ भीषम पंथी होकर तेरह पंथी कहलाने लगे। वर्तमान श्वेताम्बर जैन समाज में मूर्ति पूजकों की संख्या ही अधिक है, तथापि स्थानकवासी और तेरहपंथी ये दोनों मूर्ति पूजा को नहीं मानते हैं। श्वेताम्बरों की देखा देखी दिगम्बर जैन समाज में विक्रम संवत् १५४३ में मूर्ति पूजा को न मानने वाले एक तारण तरण नामक त्यागी हुए और उन्होंने अपने नाम का तारण पंथ स्थापित कर दिया। इस पंथ में चलने वाले प्रतिमा को न पूज कर जैन शास्त्रों की पूजा करते हैं।

जी. आई. पी. रेलवे के बीना जंक्सन के पास ग्वालियर राज का एक मुंगावली कसबा है। उससे थोड़ी दूर पर सेमर खेड़ी ग्राम में इस पंथ की उत्पत्ति का स्थान है। परन्तु ये बहुत थोड़ी संख्या में हैं, और बुंदेलखंड में ही प्रायः इनका अधिक निवास है। इनके सिवाय जैन समाज यद्यपि मूर्ति पूजक है, तथापि वर्तमान में देखा जा रहा है कि धर्म शून्य व धर्म विरुद्ध शिक्षा द्वारा शिक्षित होने के कारण एवं धर्मोपदेश रहित चारित्र उपन्यास व समाचार पत्रादि के निरन्तर पढ़ने से तथा धार्मिक भाव से रहित देशोन्नति चाहने वाले राष्ट्रवादियों एवं मूर्ति पूजा के विरोधी दयानन्दियों आदि के उपदेश के सुनने से और असदाचारियों व व्यसनियों की सङ्गति के प्रभाव से बहुत से युवक व उनकी देखा देखी नवयुवतियां तथा कितने ही बालक भी धर्म के स्वरूप को न पहिचान कर एवं कुलाचार को भी एक प्रकार का ढोंग समझ कर श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा का दर्शन करना तो दूर रहा, मन्दिर में जाना भी फैशन के विरुद्ध समझते हैं। इनमें से जो कुछ थोड़ा बहुत जैन धर्म के महत्व को जानते हैं तथा जिनकी धार्मिक उन्नति की तरफ कुछ रुचि है वे भी मूर्ति पूजन को उपयोगी एवं अत्यावश्यक नहीं समझने लगे हैं।

यदि ऐसे जैन कुल में जन्म लेने वालों को सत्पथ में लाने की चेष्टा न की जावेगी तो सम्भावना है कि थोड़े ही वर्षों में या तो मन्दिरों के ताले जुड़ जावेंगे या मन्दिरों की सम्पत्ति तथा सुन्दर इमारतों आदि का निजी व राष्ट्रीय कार्यों मे उपयोग होने लगेगा। अतएव हमें सजग होना चाहिये। यहां मूर्ति पूजन के समर्थन में कुछ लिखा जाता है।

मूर्ति पूजा का सर्वत्र अस्तित्व

मूर्ति पूजकों में ही नहीं; मूर्ति पूजा निषेधकों में भी मूर्ति का आदर किया जाता है—

(१) ईसाई मजहब वाले—क्रास पर चढ़ाई हुई ईसा की तसवीर को देख कर शिर झुकाते हैं। योरप के युद्ध में मारे हुए ईसाई देश भक्तों की हर जगह मूर्तियां बनी हुई हैं और हर एक देश भक्त मनुष्य उनको पूज्य दृष्टि से देखता है तथा उनका सन्मान करता है।

(२) मुसलमान—(१) कब्रों पर चादर—फूल माला व मिठाई चढ़ाते हैं और लोबान खेते हैं (२) ताजियों की जियारत करते हैं (३) मक्के में आकर वहां के जम कुए का पानी पीते हैं तथा उसको पवित्र मान कर साथ में लाते हैं। (४) मक्के के मन्दिर की प्रदक्षिणा करते हैं। और वहां के अवसद नामक काले पत्थर को सात बार चूमते हैं। (५) काबा तुल्ला मन्दिर की तरफ मुख करके नमाज पढ़ते हैं। (६) और कुरान को गले में लटका कर उसको विनय से रखते हैं। यह भी तो तसवीर अथवा मूर्ति ही है।

(३) आर्य समाजी—दयानन्दजी के फोटुओं को जड़ा कर अपने कमरों में उच्च स्थान पर लगाते हैं। ये मूर्ति पूजक नहीं हैं तब भी मूर्ति को मानते हैं।

(४) सिक्ख लोग—अपने गुरुओं के चित्र को हाथी पर विराजमान कर शान के साथ उसका जुलूस निकालते हैं।

(५) अपने को देश भक्त कहलाने वाले मनुष्य—महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, पं. तिलक, पं. गोखले, पं. मदनमोहनजी मालवीय, महात्मा गांधी, पं. नेहरू आदि पुरुषों की तसवीरों को अपनी बैठक के कमरे में लगाते हैं और सभा सम्मेलन व जयन्ती आदि के उत्सवों में इनके फोटुओं को विराजमान कर उन्हें पुष्प मालाओं से सुसज्जित करते हैं।

(६) प्रेमीजन—इष्ट मित्रों व प्रेम पात्र स्त्रियों के फोटू अपने शयनागार में लगा कर उन्हें स्नेह दृष्टि से देखते रहते हैं।

(७) गुरु भक्त सज्जन—अपने माता पिता अध्यापक आदि के चित्रों को खास स्थानों पर लगाते हैं और उन्हें भक्ति भाव से निरखते हैं।

(८) दशहरे के दिन—क्षत्रिय जन खड्ग तलवार आदि शस्त्रों की और दीपमालिका के दिन वैश्य लोग दवात कलम की पूजा करते हैं।

(९) स्त्रियां देहली व मूसल की और किसान हल आदि की पूजा करते हैं। इत्यादि दृष्टान्तों से यह सहज में जाना जा सकता है कि जो जिसको अपना उपकारक समझता है वह उसका व उसकी मूर्ति का सम्मान यथायोग्य अवश्य करता है। असली के अभाव में मूर्ति का समादर करने वाले उस जड़ मूर्ति का सत्कार नहीं करते, किन्तु उसके द्वारा उस पूजनीय व्यक्ति का अथवा उसके गुणों का आदर सत्कार करते हैं। यही नहीं किन्तु यदि कोई दुष्ट व्यक्ति किसी जन समूह की मानी हुई मूर्ति आदि का निरादर करता है तो उस पर मुकद्दमा दायर हो जाता है तथा वह कानून से दण्ड पाता है।

जड़ (अचेतन) मूर्तियों तथा आकारों से लाभ—

(१) किसी बालक के सामने हाथी का शिकार करते हुए नाहर की रङ्गीन तसवीर रखकर उसे नाहर के अङ्ग प्रत्यंगों से असली नाहर का बोध कराया जा सकता है।

(२) भूगोल आदि का नक्शा विद्यार्थियों को शहरों आदि की दिशा व दूर का ज्ञान कराता है। जगत का बहुत सा व्यवहार स्थापना निक्षेप से चलता है। न बोलने पर भी चित्र के आकार को देख कर समझदार बच्चे प्रसन्न होते हैं और भयङ्कर चित्र से डरने लगते हैं।

(३) अपने मन के विचारों को लिख कर दिखलाने के लिये मनुष्यों के नियत किये हुए सांकेतिक आकार रूप अक्षर जड़ होकर भी चेतन का सा काम करते हैं अर्थात् लिखने वाला जो पढ़ने वाले को समझाना चाहता है वह अक्षर समझा देते हैं।

(४) बादशाहों, राजा महाराजाओं एवं हाकिमों के हस्ताक्षरों अथवा उनके दफतरों की मुहरों सहित हुकुम अहकामों के कागज आदि से वैसा ही काम होता है जैसा कि कोई खुद खड़ा होकर कराता है।

(५) अधिकारी पुरुषों द्वारा निर्मित और प्रामाणिकता में लाये हुए कोर्ट स्टाम्प, पोस्टेज, रेलवे टिकट, नोट, हुंडी, चैक, सिक्के आदि से तमाम दुनिया का व्यवहार चल रहा है।

जिन मूर्ति पर द्वेष का विषय

अपने शिक्षाप्रद आदर्श रूप से संसारी जीवों का उपकार करने वाली जिन प्रतिमा से द्वेष रखकर स्वार्थी लोगों ने जो "हस्तिना ताड्य मानोऽपि बाध्यमानोऽपि भूभुजा ॥ न पठेद्यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥ १ ॥" अर्थात् हस्ती से ताड़ित होने पर तथा राजा के द्वारा बाधित किये जाने पर जैन मन्दिर को न जावे तथा म्लेच्छ भाषा को न पढ़े। ऐसा घड़ कर जनता को बहकाने का प्रयत्न किया है उस पर किसी आचार्य ने कहा है—

प्रशान्तदृष्टिं स्थिरसन्निवेशां,
विकारहीनामतिसुप्रसन्नां ।
न नाथ मुद्रामपि तीर्थिकास्ते ।
नु कुर्वते कान्यगुणप्रवृत्तिम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे नाथ ! शान्त दृष्टि वाली स्थिरता की धारक रागद्वेषादि जनित विकारों से रहित और अत्यन्त प्रसन्न ऐसी आपकी सूरत का भी दूसरे लोग अनुकरण नहीं करते अर्थात् उससे द्वेष करते हैं। ऐसे लोग आपके वीतरागत्व आदि लोकोतर गुणों को अच्छे समझकर उन्हें धारण ही कैसे करेंगे ?

"हितार्थपरिपन्थिभिः प्रबलरागमोहादिभिः।
कलङ्कितमना जनो यदभिवीक्ष्य सः शुद्ध्यते ॥ ३४ ॥
पुनातु भगवज्जिनेन्द्र तवरूपमन्धीकृतं।
जगत्सकलमन्यतीर्थ गुरूरूप दोषोदयैः ॥ ३५ ॥"

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आत्म कल्याण को न होने देने वाले ऐसे तीव्र रागद्वेष मोह आदि दोषों से मलीन मनुष्य भी जिस आपके शान्त रूप को देखकर अपने मन को शुद्ध कर लेते हैं, वही आपके शरीर का सौम्य नग्न आकार कुगुरुओं के उपदेश से अंधे हुए इस समस्त जगत् के मनुष्यों को पवित्र करे।

जिन मूर्ति से द्वेष रखने वाले भोले जीवों को जिन मुद्रा का महत्व समझाने के लिये जैन मत में ही नहीं किन्तु अन्य मत के पुराणों आदि में भी बहुत कुछ लिखा हुआ है, उसमे से यहां प्रसङ्गवश एक दो प्रमाण दिये जाते हैं।

श्री मद्भागवत में श्री वृषभदेव (प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदि नाथ) को अवतार मान कर पञ्चम स्कन्ध में उनका चारित्र लिखा है और स्वयं वेद व्यासजी ने कहा है।

"नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः।
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ॥
लोकस्य यः करुणया भयमात्मलोक।
माख्यन्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥" १६ ॥

अर्थ—जो निज आत्म स्वरूप की प्राप्ति से तृष्णा रहित होगये हैं, जिन्होंने आत्म कल्याण के करने के लिये उल्टे मार्ग से चलने वाले, चिरकाल से बुद्धि रहित, ऐसे मनुष्यों को करुणा भाव से अपने निज लोक (मोक्ष) का उपदेश दिया है उन श्री ऋषभनाथ भगवान् को

मेरा नमस्कार हो।

योग वसिष्ठ के मुमुक्षु प्रकरण में कहा है।

नाहं रामो न मे वांछा विषयेषु न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥ [वैराग्य प्रकरण]

अर्थ—मैं पहले वाला राम अब नहीं हूँ, न मेरे कुछ इच्छा है, न मेरा मन विषयों में जा रहा है, अब तो मैं जिन देव के समान निज आत्मा में ही मग्न होकर शान्ति की प्राप्ति करना चाहता हूँ।

विचारना चाहिये कि श्री रामचन्द्रजी और वेदव्यासजी भी जिन तीर्थङ्करों को पूज्य समझते हैं, उनकी प्रतिमा दर्शन के योग्य न समझी जावे यह कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। जो मूर्ख नग्न प्रतिमा को देखना अमङ्गल समझते हैं, उनको भी निम्न लिखित श्लोकों पर विचार करना परमावश्यक है।

जिस समय महाभारत का युद्ध करने के लिये श्री अर्जुन जाने लगे उस समय कहीं से निर्ग्रन्थ मुनि उधर आ निकले उनको देखते ही श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

"आरोह स्यन्दनं पार्थ गाण्डीवं च करे कुरु।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्था यदि सम्मुखाः॥"

अर्थ—हे अर्जुन! खड़ा होकर रथ में बैठ और गाण्डीव व धनुष को अपने हाथ में धारण कर, क्योंकि इस समय निर्ग्रन्थ मुनि सामने आगये हैं। यह ऐसा शुभ शकुन है कि मैं पृथ्वी को जीती हुई मानता हूँ, अर्थात् इस समय प्रस्थान करने से तुझ को अपना राज्य प्राप्त हो जायगा। और भी कहा है—

पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ॥ [वराह मिहिर निमित्ताध्याय]

अर्थ—पद्मिनी स्त्री, राजहंस, और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) मुनि जिस देश की तरफ गमन करते हैं उस देश में सुभिक्ष होता है।

अब कहिये जहां श्री कृष्ण अवतार और ज्योतिषाचार्य भी नग्न मुनियों के दर्शन और विहार को कल्याण करने वाले मान रहे हैं वहां इन प्रमाणों के सामने ही "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" इस श्लोक का क्या मूल्य है ?

"विकारे विदुषां द्वेषो विकारं नानुकुर्वत ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥ [यशस्तिलक चम्पू]

अर्थ—ज्ञानीजन जो विकारी मनुष्य होता है उसी से द्वेष रखते हैं, निर्विकार पुरुष के साथ विद्वानों को द्वेष नहीं होता। अतः काम विकार को पूर्ण रूप से जीत चुकने पर जो महात्मा स्वाभाविक नग्नपने को धारण करता हो उसके प्रति किसी को क्यों द्वेष करना चाहिये?

"सर्वं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्" (अकलङ्क) सब मत वाले देखें कि भूमंडल के समस्त जीवों पर श्री जिनेन्द्र की मूर्ति की ही छाप लगी हुई है। श्री भट्टाकलङ्क देव के कथनानुसार वास्तव में देखा जावे तो इस भूमण्डल के पशु पक्षी मनुष्यादि सभी बिना वस्त्र के नग्न ही जन्म लेते हैं, और शिक्षित लज्जावाने सभ्य स्त्री पुरुषों के सिवाय सभी मरण पर्यन्त नग्न रहते हैं। स्त्री पुरुषों को अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये तो वस्त्र पहनने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी उस अवयव (हिस्से) को ढकने की जिससे कि काम विकार का पता चलता है। देखा जाता है कि जब तक बालक के मनमें काम उत्पन्न नहीं होता और उसकी उत्पत्ति से उसके शरीर के बाहरी अवयवों में विकार नहीं होता तब तक वह नंगा भी फिरा डोला करता है किसी को बुरा नहीं लगता। कोई २ छोटे २ बालक तो जैसे नंगे प्यारे लगते वैसे कपड़े पहने हुए नहीं लगते। क्योंकि वस्त्र से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। परन्तु जब काम विकार उत्पन्न होने लगता है तो भिखारी के लड़के और लड़कियों को भी शरम आने लगती है और फटा पुराना मैला वस्त्र ही किसी से मांग कर उससे अपने लज्जोत्पादक शरीर के भाग को ढकते हैं। इसलिये स्वाभाविक निर्विकार नग्न स्वरूप-से द्वेष रखना और उसमें अमङ्गलकारी समझना कितनी भूल है।

मूर्ति का प्रभाव

जैसे अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित योद्धा पुरुष के फोटू के देखने से कायर लोगों को शूरवीरता (बहादुरी) का जोश आ जाता है, स्वप्न में भी यदि कोई डरावनी सूरत देखने में आजावे तो मारे भय के दिल दहल उठता है उसी प्रकार निर्विकार मूर्ति के देखने से शांति प्राप्त होती है। कहा भी है—

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥ १५ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—मिट्टी पाषाण लकड़ी में बनाये हुए तथा चित्र आदि में लिखे हुए स्त्रियों के सुन्दर शरीर को देख कर भी मनुष्य निःसंदेह मोहवश होकर काम विकार से ग्रसित हो जाता है।

ज्ञानार्णव के कथनानुसार वस्त्राभूषणों से अलंकृत रूपवती सुन्दरी स्त्री को देख कर मनुष्यों के चित्त में काम विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार यह भी मानना ही होगा कि रागद्वेषादि जनित सङ्कल्प विकल्पों में चक्कर लगाने से थका हुआ मनुष्य का मन भी श्री जिनेन्द्र देव की वीतराग शान्त छवि के दर्शन से अवश्यमेव स्थिरता व शान्ति को प्राप्त होता है।

भगवान की वीतराग मुद्रा के विषय में कहा है :—

निराभरणभासुरं, विगतरागवेगोदया-
न्निरम्बरमनोहरं, प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमा ।
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥ ३२ ॥
अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवह्नेर्जयात् ।
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः ॥
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा ।
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम् ॥ ३३ ॥ [चैत्यभक्ति]

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! राग भाव के उदय से रहित होने के कारण बिना आभूषण पहने ही देदीप्यमान, स्वाभाविक नग्नरूप में किसी प्रकार का दोष न होने से वस्त्र धारण बिना ही मनोहर, किसी भी जीव की हिंसा करने का भाव न होने से आयुध (शस्त्र) रहित, किसी की भी आपके प्रति शत्रुता न होने से निर्भय, रोगादि जनित पीड़ाओं के न होने से निरोग, मांस भक्षण के बिना ही तृप्ति धारक, समस्त क्रोध रूपी अग्नि को जीत लेने से ललाई रहित नेत्रों वाले, काम विकार से रहित होने के कारण कटाक्ष रहित, सौम्यदृष्टि धारक और विषाद (खेद) एवं मद के अभाव से सदा हर्षित, ऐसा जो आपका मुख है वही दर्शकों के लिये आपके हृदय की अत्यन्त निर्मलता को कह रहा है।

उक्त कथन से प्रकट हो जाता है कि जिन प्रतिमा के दर्शन से श्री जिनेन्द्र के गुणों का ज्ञान होता है। यदि यहां पर यह शङ्का की जावे कि जिनेन्द्र के गुणों का ज्ञान कराने से क्या प्रयोजन है ? तो इस शङ्का का यह समाधान है कि उनके गुणों के ज्ञान से दर्शकों के भी यह इच्छा होनी है कि हम भी इसी प्रकार गुणों के धारक बनकर शान्ति का लाभ करें। इसी आकांक्षा की पूर्ति के लिये श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा को वे नमस्कार करते हैं। कहा भी है—

विगतायुधविक्रियाविभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम् ।

प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्याऽ प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे ॥ १३ ॥

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानां ॥

प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमन्ति प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम् ॥ १४ ॥ [चैत्यभक्ति]

अर्थ—मैं रागादि रूप भाव मलों को नष्ट करने के लिये कर्म शत्रुओं को नष्ट करने से कृतार्थ हुए श्रीमज्जिनेन्द्रों के जिन मन्दिरों में विराजमान और निरूपम शोभा की धारक उन प्रतिमाओं की वन्दना करता हूँ।

जो प्रतिमायें भूषणों, वसनों शस्त्रों और शरीर जन्य विकारों से रहित हुई अपने स्वाभाविक नग्न मुद्रा की धारक हैं, तीर्थङ्करों के आकार जैसे ही आकार को सर्वाङ्ग में धारण करने वाली और अपनी परमशान्तता से (कषायों की रहितता से) उत्पन्न हुई लक्ष्मी को कहने वाली ऐसी जिन प्रतिमाओं को अपने भावों की निर्मलता के लिये नमस्कार करता हूँ।

आगे स्तुति, स्तोता, स्तुत्य और स्तुति का फल बतलाते हैं।

"स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिस्तोता भव्यः प्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥"

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की पूर्ति कर चुकने से कृतकृत्य हुए आप तो स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) है। निर्मल शुद्ध भावों का धारक भव्य पुरुष स्तोता (स्तुति करने वाला) है। आपके पवित्र गुणों का कथन ही स्तुति है। ऐसी स्तुति का फल मोक्ष का अविनाशी सुख है।

विचारने का विषय यह है कि आचार्यों व धर्म शास्त्रों ने तो जिन-दर्शन से वीतरागता की प्राप्ति होना, और जिन-भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होना बतलाया है; परन्तु आज कल श्री जिन प्रतिमा का दर्शन,स्तवन और पूजन करने वाले अधिकांश जैन इन असली फलों को भूल कर ऐसी प्रवृत्ति कर रहे हैं, जिससे धर्म का मार्ग बिगड़ता जा रहा है, और वे भक्ति के फल में चिन्तामणि को छोड़ कर कांच का टुकड़ा मांग रहे हैं। जसे स्वार्थी लोग हर किसी की खुशामद करके (सेवा टहल करके) या किसी को द्रव्यादि का लालच देकर उससे अपना काम निकालते हैं,उसी प्रकार बहुत से मूर्ख दूरसे महावीरजी पद्मपुरीजी आदि अतिशय क्षेत्रों में जाकर व स्थानीय मन्दिरों में ही जाकर श्रीजिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! यदि मेरे पुत्र हो जायगा तो मैं आपके यहां आकर उसके बाल उतरवाउंगा; मेरा रोजगार लग जावेगा तो मैं आपके यहां छत्र, चढाउंगा, मुझे व्यापार में लाभ हो जावेगा तो चौथाई धन आपके भंडार में जमा करा दूंगा, मेरा रोग मिट जावेगा तो मैं चौसठ ऋद्धि आदि का मंडल मंडा दूंगा व रथ यात्रा महोत्सव करा दूंगा,इत्यादि। कहां तक लिखा जावे;जिसको जिस बात की जरूरत होती है, वही प्रतिमाजी से मांगने लगता है। मानों अचेतन (जड़) पाषाणादि मय मूर्ति में इन भक्तों से अपनी भक्ति व पूजा आदि कराने के लिये मोक्ष में पधारे हुए भगवान् आ बिराजे हैं, और भक्तों का कष्ट कर डालते हैं।

आगे भक्तों की ओर से प्रश्न दिखाये जाते हैं—

(१) प्रतिमा में यदि असली भगवान् नहीं विराजते हैं ? तो भक्ति किसकी की जाती है ?

(२) भगवान् भक्ति से प्रसन्न नहीं होते हैं तो स्वयंभू और भक्तामर आदि स्तोत्रों के रचने वाले भक्तों का सङ्कट कैसे दूर हुआ?

(३) तीर्थङ्करादि भक्ति से स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति तथा उनकी निन्दा से नरकादि में गमन कैसे होता है ?

(४) यदि भक्ति का फल मिलता है तो कैसे मिलता है तथा कौन देता है ?

(५) यदि भक्ति का फल नहीं मिलता है तो भक्ति क्यों की जाती है ?

(६) भक्ति से धन पुत्र निरोगता आदि न मांगें तो क्या मांगें ?

(७) क्या भगवान् भक्त को अपने समान कर सकते हैं ?

इन सातों प्रश्नों का उत्तर नीचे दिया जाता है—

१–२ प्रश्न का उत्तर—

यद्यपि जिन प्रतिमायें साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान नहीं हैं तथापि उनमें अर्हन्त की स्थापना है और वे अरहन्त अवस्था के चित्र हैं। इसलिये हम जब उन्हें साक्षात् अर्हन्त भगवान् की तरह मानेंगे, तबही हमारी आत्मा में वीतराग विज्ञानता आदि श्रेयस्कर सद्गुणों का आविर्भाव होगा, अन्यथा नहीं।

भक्त के हृदय में जिन मन्दिर और जिन प्रतिमा के दर्शन के समय निम्न प्रकार के भाव होने चाहिये।

सेयमास्थायिका साऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः।

चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥ १० ॥ [सागार धर्मामृत अध्याय ६]

अर्थ—यह जिन मन्दिर की भूमि है सो समवसरण की भूमि ही है। ये प्रतिमा में स्थापन किये हुए जिनेन्द्र देव, जिनागम में प्रसिद्ध, अष्ट प्रातिहार्य और अनन्त चतुष्टय अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि विभूतियों एवं आत्मिक सद्गुणों से विभूषित श्री तीर्थङ्कर अरहन्त देव ही हैं और ये श्री जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाले, भव्य पुरुष, साक्षात् अरहन्त देव की सेवा करने वाले समवसरण की १२ सभाओं में सुशोभित, ऐसे शास्त्रों में प्रसिद्ध मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका आदि सभासद हैं। इस प्रकार चिन्तवन कर धर्मानुष्ठान करने वाले भक्त पुरुषों की सराहना–प्रशंसा करनी चाहिये। तब ही आत्मा में वीतराग विज्ञानता आदि सद्गुणों का सञ्चार होगा। जैसे नाटक में सीता और राम का पार्ट खेलने वाले नटों को (चाहे वे जघन्य से जघन्य व्यक्ति क्यों न हों) दर्शक लोग जब साक्षात् सीता और राम समझते हैं तब ही उनके हृदय में सीता और राम के समान सद्गुण–भक्ति, माता पिता गुरु आदि पूज्य पुरुषों की कठोर से कठोर आज्ञा के पालन करने में भयङ्कर कष्टों को परवाह न करना, भ्रातृ प्रेम आदि नैतिक धार्मिक सद्गुणों का संचार होता है; अन्यथा नहीं। उसी प्रकार जिन प्रतिमाओं को भी ऊपर लिखे अनुसार साक्षादर्हन्त तीर्थङ्कर सदृश मानने में ही भक्ति करने वालों का कल्याण होता है अन्यथा नहीं। अर्थात् उन्हें वास्तविक तीर्थङ्कर भगवान् समझ कर भक्ति स्तुति करने से आत्मा की प्रवृत्ति अशुभ पाप रूप विषय कषाय से हट कर शुभ पुण्य की ओर होती है। अतएव तत्काल पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य का बन्ध होने से इष्ट (चाही हुई) वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट अशुभ का परिहार हो जाता है। भक्तामर स्तोत्र के रचयिता श्रीमानतुङ्गाचार्य को जिस समय राजा भोज ने हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल कर कारावास की अड़तालीस कोठरियों के भीतर बन्द कर दिया था उस समय उन्होंने सम्यग्ज्ञान पूर्वक निष्कपट भाव से भक्तामर स्तोत्र द्वारा आदिनाथ तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति की थी, उस समय उनकी आत्मिक प्रवृत्ति अशुभ से हट कर (बेड़ियों वगैरह से होने वाले

कष्टों की तरफ न जाकर) भगवज्जिनेन्द्र की दृढ भक्ति रूप शुभ प्रवृत्ति में आकृष्ट हुई। उस समय उन्हें सातिशय पुण्य बंध हुआ। ऐसा होने से तत्काल उनका बेड़ी आदि बन्धनों से छुटकारा हुआ और देवायु का बन्ध हुआ।

इसी प्रकार विक्रम की १ री शताब्दी में बहुश्रुत विद्वान्, दर्शन शास्त्र के समुद्र, आचार्य समन्त भद्र को, मुनि अवस्था में जब भस्मक रोग होगया, तब उन्होंने अपने आचार्य से समाधिमरण करने की आज्ञा मांगी।

परन्तु आचार्य ने कहा कि तुम बहुश्रुतप्रकाण्ड विद्वान् हो। जैन धर्म रूपी सूर्य को आच्छादित करने वाले, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य आदि एकान्तवादी प्रचण्ड मेघों को तितर बितर करने में, खण्डन करने में तुम्हारी प्रतिभा प्रचण्ड वायु के समान अप्रतिभ है। इसलिये आपके द्वारा जैन धर्म रूपी सूर्य उग्र तेज से चमक कर भव्य प्राणियों के हृदय कमलों को प्रफुल्लित करेगा। अर्थात् तुम्हारे द्वारा जैन शासन की स्थायी उन्नति होगी। इसलिये हम तुम्हें समाधि मरण करने की आज्ञा नहीं देते हैं। किन्तु कुछ समय के लिये मुनि दीक्षा का छेद किये देते हैं। क्योंकि जैनेश्वरी दीक्षा में अनर्गल प्रवृतिका निषेध है। ऐसा होने पर वे काशी में दंडी त्रिदण्डी का वेष बनाकर शिवजी के मन्दिर में गये। वहां बारह मन से भी अधिक नैवेद्य (मिष्टान्न लड्डू) चढ़ाया जाता था। ये छिपकर मिष्टान्न खाने लगे। कुछ दिन बाद जब भस्मक रोग चलागया, तब शिवजी का नवैद्य बाकी बचने लगा, तब राजा को पुजारियों के द्वारा सन्देह हुआ। अतएव पुलिस का पहरा लगाया गया। फिर उसके जरिये इनका पता पड़ गया। तब राजा ने इन्हें शिवजी को नमस्कार करने का आग्रह किया, नमस्कार न करने पर दण्ड का भय बताया। तब इन्होंने स्वयंभू स्तोत्र द्वारा भक्ति की गङ्गा बहाई। चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर भगवान् की स्तुति करने के समय शिव लिङ्ग से चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा निकली। तब इन्होने राजा और प्रजा के समक्ष जैन धर्म का स्वरूप,एवं नमस्कार करने योग्य तीर्थङ्करों का स्वरूप समझाया। शिव कोटि राजा की जैन धर्म पर अगाढ श्रद्धा हुई और जैन धर्म को धारण किया। तथा अनेक प्रजा के लोगों ने भी जैन धर्म धारण किया। इसलिये भक्ति का अनन्त माहात्म्य है, जिस प्रकार पारस पाषाण के संसर्ग से लोहा सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार श्रीमज्जिनेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् की भक्ति के सङ्ग से यह संसारी आत्मा भी मोक्ष मार्गी हो जाता है।

आगे देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति के फल बतलाते हैं।

"जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥ १ ॥

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥ २ ॥
गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
चारित्रमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥ ३ ॥"

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति, सदा मेरे हृदय में उत्पन्न हो जिसके द्वारा संसार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

भगवान् तीर्थङ्कर के द्वारा निरूपित प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग रूप द्वादशांग शास्त्रों की भक्ति हमारे हृदय में उत्पन्न हो जिसके द्वारा संसार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

निर्ग्रन्थ वीतराग गुरुओं की भक्ति, सदा मेरे हृदय में उत्पन्न हो, जिसके द्वारा संसार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

निष्कर्ष यह कि जिन प्रतिमा को आदर्श मानकर उनकी भक्ति करने से, हमारी आत्मिक प्रवृत्ति, अशुभ, मिथ्यात्व, अन्याय, और अभक्ष्य से हटकर; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में प्रवृत्त होती है जो कि स्वर्ग एवं मोक्ष के कारण हैं।

सुहृत्त्वयि श्री सुभगत्वमश्नुते द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोऽपि प्रभोः परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ६९ ॥ [स्वयंभूस्तोत्र]

अर्थ—हे प्रभो! जो आपकी भक्ति स्तुति करता है उसको स्वर्ग की लक्ष्मी अपने आप प्राप्त हो जाती है और जो आपसे द्वेष कर निन्दा गर्हा करता है वह व्याकरण के किप प्रत्यय के समान नष्ट हो जाता है और नरक निगोद का पात्र होता है। किन्तु आप दोनों से ही अत्यन्त उदासीन हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—आपकी भक्ति करने वाला भक्त पुरुष, आपके गुणों—वीतराग—विज्ञानता आदि को देखकर, प्राप्त कर, स्वयं स्वर्ग लक्ष्मी के सुखों को प्राप्त हो जाता है। जब कि आपकी निन्दा करने वाला पापी, मिथ्यात्व, अन्याय, और अभक्ष्य में फंसा रहने के कारण नरक निगोद

के भयङ्कर दुःख भोगता है। यह सब शुभ और अशुभ परिणति होने से स्वयं प्राप्त होता है, किन्तु हे प्रभु! आप दोनों से ही उदासीन रहते हैं। आपकी चेष्टा आश्चर्य जनक है। कहा भी है—

"देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात् [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—सच्चे देव, सच्चे गुरु और दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला कभी दुःखी नहीं होता। इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार सच्ची भक्ति का फल स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

५वें प्रश्न का उत्तर—

निष्कपट भाव से सम्यग्ज्ञान पूर्वक, भगवज्जिनेन्द्र के स्वरूप को समझ कर की जाने वाली भक्ति का फल अवश्य मिलता है। सच्ची भक्ति कदापि निरर्थक नहीं होती, किन्तु वह सच्ची और सच्चेपन से होनी चाहिये। कहा भी है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि।
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या॥
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःख पात्रं।
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्या॥ ३८॥ [कल्याण मन्दिर]

हिन्दी अनुवाद

मैंने सुदर्शन किये गुन भी सुने, की—
पूजा, तथापि हिय में न तुझे बिठाया॥
हूं दुःख पात्र जन बान्धव मैं इसी से।
होती नहीं सफल भाव बिना क्रियाएं॥ ३८॥

हे भगवन ! यद्यपि मैंने अनेक बार आपके पवित्र दर्शन किये एवं आपके पवित्र सद्‌गुणों को सुना, तथा पूजा भी की; किन्तु मैंने सच्ची भक्ति से अपने हृदय मन्दिर में आपको विराजमान नहीं किया। इसी कारण हे प्राणियों के बन्धु ! भगवन् ! मैं दुःखी रहा। क्योंकि सच्चे निष्कपट भावों के बिना धार्मिक अनुष्ठान सफलीभूत नहीं होते।

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।

भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥ [रत्नकरण्ड श्रा.]

अर्थ—एक मैंढक प्रसन्न होकर फूल की पांखुड़ी को मुंह में दबा कर राजगृही नगरी में विपुलाचल पर्वत पर आये हुए श्री वीर प्रभु के समवसरण में पूजा करने जा रहा था कि रास्ते में श्रेणिक राजा के हाथी के पैरों के तले दब कर मरा, और अन्तर्मुहूर्त में देव पर्याय को प्राप्त होकर वहां समवसरण में आया। उसने सब महा पुरुषों के समक्ष पूजा की एवं भक्ति का माहात्म्य प्रगट किया। इसलिये भक्ति सच्चे भावों से की जानी चाहिये तभी सफल होती है। झूंठी–मायाचार पूर्वक (दिखावटी) तथा अज्ञान पूर्वक भक्ति कदापि सफल नहीं होती। कहा भी है—

"ध्यातोगरुडबोधेन न हि हन्ति विषं बकः" [क्षत्र चूड़ामणि]

अर्थ—सर्प का विष उतारने के लिये विषवैद्य गरुड़ का ध्यान करते हैं तबही विष उतरता है। यदि विषवैद्य बगुले को गरुड़ मान कर मन्त्र पढ़े तो कदापि विष नहीं उतरता। उसी प्रकार यदि हम कुदेवादि को सच्चा देवादि मान कर भक्ति करें अथवा पूजा करें तो दुःख ही प्राप्त होगा, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

६ठे प्रश्न का उत्तर—

भव्य जीवों को भगवान की भक्ति निष्काम–बिना इच्छा के करनी चाहिये। भक्ति के माहात्म्य से जब सातिशय पुण्य बन्ध होकर स्वर्ग लक्ष्मी और परम्परा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तो सांसारिक इष्ट सामग्री पुत्र धनादिक की प्राप्ति साधारण बात है।

जैसे कृषक केवल धान्य की इच्छा से बीज बोता है, भूसा वगैरह स्वयं मिल जाते हैं, उसी प्रकार ऐहिक लाभ की इच्छा के बिना भक्ति करने से मुख्य स्वर्गादि की प्राप्ति है और ऐहिक पुत्र धनादिक की प्राप्ति साधारण बात है।

७वें प्रश्न का उत्तर—

भक्त भगवान् के वास्तविक स्वरूप को समझ कर तदनुकूल कर्तव्य पालन कर कालान्तर में भगवान् के समान हो जाते हैं। कहा भी है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्तः ॥
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा ।
भूत्याश्रितं य इह नाथ ! समंकरोति ॥ १० ॥ [भक्तामरस्तोत्र]

हिन्दी पद्यानुवाद

आश्चर्य क्या भुवनरत्न ! भले गुणों से
तेरी किये स्तुति बने तुझ से मनुष्य
क्या काम है जगत में उन मालकों का
जो आत्म तुल्य न करें निज आश्रितों को ॥ १० ॥

अर्थ—हे पृथिवी के रत्न ? प्रभो ? आपके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, आदि सद्गुणों से आपकी स्तुति भक्ति करने वाले प्राणी आपके समान हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं ? ठीक ही है संसार में ऐसे स्वामियों से क्या लाभ ? जो अपने आश्रितों को अपने समान न कर सकें। इसलिये हे प्रभो ? आप तीन लोक के स्वामी हो। आपके भक्त अवश्य भक्ति करने से आपके समान हो जाते हैं।

जल छानने का विधान

श्रावक को जल छान कर ही पीने आदि के काम में लाना चाहिए; इसलिए अब यहां जल छानने की विधि बतलाते हैं। पुद्गल परमाणुओं से जल बनने के साथ ही उसमें जल रूप शरीर के धारक एकेन्द्रिय स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जो कि जल कायिक कहलाते

हैं। एवं जो जल है वह भी जल काय के जीवों का शरीर कहलाता है। गृहस्थावस्था में स्थावर काय के जीवों की हिंसा से पूर्ण रूप बचना असम्भव है अतः पहिली प्रतिमा के धारक श्रावक ऐसे जल को पीने वगैरह के काम में लेते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि वह इन स्थावर जीवों की हिंसा से बचने के लिये जहां तक हो सके वहां तक उस जल से अपनी आवश्यकता को ही पूर्ण करते हैं। बिना विचारे व्यर्थ जल को नहीं ढोलते। जैसे जल में जल काय के स्थावर जीव हैं उसी प्रकार एक २ जल की बूंद में अगणित त्रसजीव भी हैं। एकेन्द्रिय जल कायिक जीव तो इतने सूक्ष्म हैं कि सूक्ष्म दर्शक यंत्र (खुर्दबीन) से भी नहीं देखे जा सकते। परन्तु जल के त्रसजीवों को (कीटाणुओं) को आज कल वैज्ञानिक लोगों ने खुर्दबीन से पूरी तौर से नहीं तो कुछ २ देख लिया है और उनका चित्र भी लेलिया है। अतः त्रसजीवों के बचाव के लिये जल का छानना अत्यावश्यक बताया है। जल छानने के वस्त्र का परिमाण बतलाते हुए कहा है कि—

षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोय तेन तु गालयेत् ॥ १ ॥ [पीयूषवर्ष श्रावकाचार]

अर्थ—३६ अंगुल लम्बा तथा २४ अंगुल चौड़ा वस्त्र लेकर उसे दोहरा करे और उससे छना हुआ जल पीवे। और भी कहा है :—

वस्त्रेणातिसुपीनेन गालितं तत्पिवेज्जलम्।
अहिंसाव्रतरक्षायै मांसदोषापनोदने ॥ ३४ ॥
अम्बुगालितशेषं तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यतः।
तथा कूपजलं नद्यां तज्जलं कूपवारिणि ॥ ३५ ॥ [ध. सं. श्रावकाचार अ. ६]

अर्थ--अत्यन्त गाढ़े (जिसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई न दे) ऐसे दोहरे नातने (कपड़े) से छना हुआ जल पीना चाहिये। ऐसा करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है अर्थात् त्रसजीव उस कपड़े में रह जाते हैं और छना हुआ जल त्रसजीव रहित समझा जाता है। त्रसजीवों के भक्षण न करने से मांस भक्षण के दोष से बच जाता है।

जो जल छानने के पश्चात् नातने में जल बचे उसको एक दूसरे पात्र में रखे, और उस नातने को छने हुए जल की धार से झकोल कर वह जल भी उस पात्र में डालदे, यह अजवाणी कहलाता है। इस अजवाणी को कुए की कुए में और नदी का नदी में डालना चाहिये।

भावार्थ—जिन कुए वा जलाशय से वह जल लाया गया हो उसी में उसको पहुंचाना चाहिये। एक जगह का अजवाणी दूसरी जगह पहुंचाने पर भी जीव मर जाते हैं। क्योंकि वह स्थान उनकी प्रकृति के विरुद्ध होता है।

अजवाणी को कुए पर ले जाकर ऊपर से डालने में जल की टक्कर से जल के जीव मर जाते हैं, इसलिये अजवाणी को कड़ीदार वालटी (भंवर कड़ी) की वालटी से कुए में भेजना चाहिये।

जो जल दोहरे छन्ने से छन चुका है उसके विषय में भी कहा है कि—

मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्।

उष्णोदकमहोरात्रं ततः संमूर्छितं भवेत् ॥ ६१ ॥ [रत्नमाला]

अर्थ—छना हुआ जल एक मुहूर्त तक, तथा प्रासुक किया हुआ दो पहर तक, और उकाला हुआ जल ८ प्रहर तक त्रसजीवों से रहित होता है। इसके पीछे फिर उसमे त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अनुसार छने हुए जल में एक मुहूर्त २ घड़ी (४८) मिनट के पश्चात् फिर त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण इतने समय के जल को फिर से छान कर पीना चाहिये।

जिस तरह से छना हुआ जल पीने के काम मे लिया जाता है उसी तरह छने हुए जल से ही स्नान शौच आदि सब कार्य करने चाहिये। क्योंकि बिना छने हुए जल से स्नानादि करने में पीने से भी अधिक हिंसा होती है, क्योंकि एक बार पीने में तो थोड़ा ही जल काम में आता है किन्तु स्नान करने मे तो मनों जल का दुरुपयोग किया जा सकता है। कहा भी है—

एकबिन्दूद्भवाः जीवाः पारावतसमा यदि।

भूत्वा चरन्ति चेज्जम्बूद्वीपोऽपि पूर्यते च तैः ॥ १६ ॥ [त्रिवर्णाचार अ. ७]

हिन्दी पद्यानुवाद

एक बूंद जिलछाणी मांहि, जीव असंख जिनेन्द्र बताहिं।

जो होवे कापोत समान, मरै भरत भाखैं भगवान् ॥ १ ॥

अर्थ—श्लोक और इस दोहे के अनुसार बिन छाने जल की एक बूंद में इतने असंख्य जीव हैं कि वे कबूतर जितने बड़े होकर उड़ें तो उनमें सारा भरत क्षेत्र अथवा जम्बूद्वीप भर जावे।

अतः धर्मात्माओं को चाहिये कि वे छने हुए जल को भी बहुत विचार कर खर्च करे। क्योंकि उसमें त्रसजीवों की हिंसा न हो तो भी जल काय के जीवों की हिंसा तो होती ही है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक केप्टन स्क्रोसंबी महोदय ने खुर्दबीन से एक जल विन्दु में ३६४५० जलचर त्रसजीव देखे हैं। गवर्नमेन्ट इलाहाबाद में छपी हुई इनकी बनाई हुई सिद्ध पदार्थ विज्ञान नामक पुस्तक में उन जीवों का चित्र छपा हुआ है।

जो लोग सर्वज्ञ कथित आगमों की आज्ञा पर विश्वास न करके केवल प्रत्यक्ष देखी हुई बात पर ही विश्वास करते हैं उनको उक्त चित्र पर विश्वास करना चाहिए और यह भी विचारना चाहिये कि जब जड़ स्वरूप यंत्र (खुर्दबीन) द्वारा ही इतने जीव दिखलाई दे रहे हैं, तब आत्म शक्ति द्वारा उत्पन्न हुए दिव्यज्ञान से तो इससे भी अधिक जीव दिखलाई देते होंगे। इसमें कुछ भी शक नहीं है; इसीलिए शास्त्र में कहा है कि—

एगम्मि उदगबिंदुमि जे जीवी जिणवरेंहि पएणत्ता।
ते जइ सरिस व मिता जम्बूदीवे ण मायंति ॥ १ ॥ [श्वेताम्बराचार्यकृत प्रवचनसारोद्धार]

अर्थ—एक जल विन्दु में चलते फिरते इतने जीव हैं कि सरसों के दाने के बराबर हो जावें तो इस जम्बू द्वीप में न समावें, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। अतः जैनियों का एवं जीव दया पालने वालों का यह धर्म है कि कंठ गत प्राण होते हुए भी जल को बिना छना हुआ नहीं काम में लावे।

बिना जल पीने का जैनेतर शास्त्रों से भी निषेध दिखाते हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥ [मनुस्मृति अ. ६ पृ. १४५]

पृथ्वी पर आंखों से देख कर पग धरना चाहिये, वस्त्र से छान कर जल पीना चाहिये, सत्यता से पवित्र वचन बोलना उचित है और जो कार्य निज मन से उत्तम हो वही करना योग्य है। और भी कहा है—

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः ।
एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसंगृही ॥ [लिङ्गपुराण]

अर्थ—मच्छी मारने वाला धीवर १ वर्ष भर में जितना पाप करता है, उतना पाप बिना छने हुए जल को काम लेने (पीने आदि कार्य में खर्च करने वाले) को एक दिन में होता है ।

लूतास्य तन्तुगलिते ये बिन्दौ सन्ति जन्तवः ।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥ १ ॥ [उत्तरमीमांसा]

अर्थ—मकड़ी के मुख से निकले हुए जल से भरी हुई बूंद में इतने सूक्ष्म जीव हैं कि यदि वे भौंरे जितने बड़े होकर उड़ें तो तीन लोक में नहीं समावे । और भी कहा है—

जलके एक ही बिन्दू में, रहते जीव असंख्य ।
बिन छाने मत बापरो, होवे पाप निसंख्य ॥
बिन छाना जल जो पीवे, वे नर पापी होय ।
त्रस हिंसा के पाप से, जावे नरके सोय ॥
जीते रहो जीने दो जिते हीं सुख होय ।
जीने में बाधा करे ते नर पापी होय ॥
वर्तन मुख से तीगुना छत्तीस चोवीस होय ।
पानी उससे छानिए जीव घात नहीं होय ॥

उत्तर मीमांसा में कहा है—

"त्रिंशदंगुलप्रमाणं विंशत्यंगुलमायतं ।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य गालयेच्चोदकं पिबेत् ॥"

तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यतः ।

एवं कृत्वा पिबेत्तोयं स याति परमां गतिम् ॥ [उत्तर मीमांसा]

अर्थ—तीस अंगुल लम्बा और बीस अंगुल चौड़ा वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके उससे छान कर जल पीवे और उस वस्त्र में जो जीव हैं उनको उसी जलाशय में जहां से कि वह जल आया हो वहां पर स्थापित कर देना चाहिये। इस प्रकार से जो मनुष्य जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

आगे रात्रि भोजन का निषेध दिखाते हैं—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती ।

जीवदयाजलगालनमिति क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ १८ ॥ [सागार धर्मामृत २ अ.]

अर्थ—मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन, ५ उदुम्बरादि त्याग, पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करना, जल छान कर काम में लाना, और जीवों पर दया करना, ये आठ मूल गुण बतलाये हैं। इनमें रात्रि भोजन का त्याग आठ मूल गुणों में शामिल किया है। और भी कहा है—

एयारसेसुपढमं विजदो निमि भोजणं कुणं तस्स ।

ठाणं न ठाइ तम्हा खिसि भुत्त परिहरे णियमा ॥ ३१४ ॥ [वसुनन्दी उपासकाध्ययन]

अर्थ—रात्रि में भोजन करने वाले श्रावक को ग्यारह प्रतिमाओं में से पहिली प्रतिमा भी नहीं है। इसलिये रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिये।

इस गाथा में पाक्षिकावस्था में ही रात्रि भोजन का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। जैन धर्म के धारण करने वालों के घरों में वंश परम्परा से रात्रि में भोजन बनाने व खाने की निषेध रूप प्रवृत्ति चली आ रही है। और भी कहा है—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।

निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥ ३३४ ॥ पृ. [यशस्तिलक च.७ आश्वास]

अहिंसा व्रत की रक्षा और आठ मूल गुणों की निर्मलता के लिये एवं मांस त्याग गुण में दोष न लगने पावे इसलिये; और इस लोक सम्बन्धी रोगादि दु:खों से बचने के लिये; तथा परलोक सम्बन्धी दुर्गति आदि दुःखों से बचने के लिये, रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये। यह रात्रि भोजन त्याग अष्ट मूल गुणों का पोषक है, अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो जैन नाम के धारक हैं, उनके लिये रात्रि भोजन करना मना है।

अन्न में (चावल, मूंग, जौ, गेहूँ, आदि) पान में (जल दूध आदि) चर्व्य में (सुपारी इलायची आदि) और लेह्य में (चाटने योग्य रबड़ी मलाई आदि) ये चार प्रकार की खाने की चीजें हैं, इन सबका मन, वचन, काय, व कृत, कारित, अनुमोदना से उत्सर्ग रूप पूर्ण त्याग तो दूसरी प्रतिमा में होता है, और इसका साधक अपवाद रूप त्याग अभ्यास के लिये नीचे की अवस्था मे होता है।

अत. पाक्षिक श्रावक को यथाशक्ति इसका त्याग अवश्य करना चाहिये। न करने से कुछ करना तो अच्छा है, इस नीति को सदा ध्यान में रखना चाहिये। सूर्यास्त के होने पर अन्धकार फैल जाता है। अतः अन्धेरे में जब भोजन की चीजों में पड़ी हुई मक्खी भी देखने में नहीं आती, तब मच्छर बालुकी (कीड़ी) आदि सूक्ष्म जीव तो देखे ही कैसे जा सकते हैं ? यदि दीपक आदि का प्रकाश किया जावे तो प्रकाश के पास दूर २ से पतङ्ग आदि त्रसजीव उड़ २ कर आजाते हैं, खुले दीपक में तो लालटेन (कंडील) के गरम काच से टकरा २ कर झुलस जाते हैं। बहुत से मच्छर जीते ही भोजन में गिर पड़ते हैं। अगर बिजली के प्रकाश में भोजन किया जावे तो भी एक तो दिन जैसा उजेला नहीं होता, दूसरे अनेक प्रकार के उड़ने वाले कीड़ों की हिंसा तो उसमें और भी अधिक होती है। अतः दीपक आदि के प्रकाश में भोजन करने वाले न तो त्रसजीवों की हिंसा से बच सकते हैं, और न जीते वा मरे हुए त्रसजीवों के खाने में पूर्ण रूप से मास के त्यागी ही हो सकते हैं। यदि कोई त्यागी हुई वस्तु थाली मे परोस दी जावे तो वह भी खाने मे आजाती है। अतः प्रतिज्ञा भङ्ग का दोष भी लगता है। रात्रि भोजन बनाने मे आटे दाल वगरह मे लट, ईली, कीड़ी, सुलसुली आदि सूक्ष्म त्रसजीव नहीं दिखाई पड़ते हैं। चौथे मच्छरादि भोजन में भी गिर जाते हैं। इस रात्रि का बना हुआ भोजन दिन मे खाने से भी त्रस हिंसा का बचाव नहीं हो सकता, यदि रात्रि मे भोजन बनाकर रात्रि में खाया जावे तो द्विगुण पाप का भागी होना पड़ता है। अतः दिन का बनाया हुआ रात्रि में और रात्रि का बनाया हुआ दिन में नहीं खाना चाहिये। अर्थात् दोनों तरह का भोजन त्याग करना चाहिये। कारण कि रात्रि भोजी किसी भी दशा मे मांस भक्षण के दूषण से नहीं बच सकता है।

रात्रि के समय बहुत से शुभ कार्य करना भी वर्जित है, क्योंकि भूत पिशाचादि का सञ्चार हो जाता है, जैसे देव पूजन, पात्र दान, आदि धार्मिक कार्य भी रात्रि मे नहीं किये जाते, तथा भोजन करना भी एक शुभ कृत्य है। अतः इस अपेक्षा से भी रात्रि भोजन त्याज्य है रात्रि के अन्धकार में खान पान करने से सूक्ष्म त्रसजीवों का घात ही नहीं होता, किन्तु निज शरीर में भी अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। जैसे कहा भी है—

कीड़ी बुद्धि बल हरै, कंपगद करै कसारी।

मकड़ी कारण पाप कोढ़, उपजत अतिभारी॥

जुंआ जलोदर करैं, फांस गल विथा बढावै,

बाल करै स्वर भंग, वमन मक्खी उपजावै॥ २॥

तालु छिद्र विच्छू भखत और व्याधि बहु करहि थल।

यह प्रगट दोष निशि अशन में परभव दोष परोक्ष फल॥ ३॥

उल्लिखित पद्यों का अर्थ–स्पष्ट प्राय है। और भी कहा है—

देवार्चां भोजनं निद्रामाकाशे न प्रकल्पयेत्।

नान्धकारे न संध्यायां ना विताने न निकेतने॥ ३२२॥ [यशस्तिलक आश्वास ३]

अर्थ—देव पूजन, भोजन करना, और निद्रा लेना, ये तीनों कार्य आकाश ऊपर से खुले हुए स्थान में, अन्धेरे में, सन्ध्या काल में और ऐसे मकान में जिसकी छत के नीचे वस्त्र (चंदोवा) नहीं लगा हो न करे। जहां पर दिन में भी अंधेरा हो वहां पर भोजन करना निषेध बतलाया गया है, अतः इससे बिना कहे ही रात्रि भोजन का निषेध हो जाता है।

प्रातःकाल तारे मिटने लगे जबसे, आधा सूर्य नहीं निकले तब तक और सायंकाल को आधा सूर्य अस्त होने के समय से नक्षत्र दिखलाई देने लगे तब तक सन्ध्या काल समझा जाता है। यह दिन और रात्रि के बीच का काल है और प्रायः सभी मत वालों ने इसको ध्यान करने के लिये बचाया है।

जैन शास्त्रों में तो इसे शास्त्र के पठन पाठन के लिये भी निषिद्ध बतलाया है। परन्तु देखा जाता है कि बहुत से रात्रि भोजन त्यागी जैन सायंकाल को इसी समय में भोजन करना अच्छा समझने लगे हैं। और विशेष कार्य न हो तब भी सूर्यास्त के समय भोजन करते हैं। यह धर्म-शास्त्र, नीति तथा लोक व्यवहार से विरुद्ध है। अतः इस काल को बचा कर ही भोजन करना चाहिये। और भी कहा है—

ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा।
भुञ्जते जितहृषीकवाजिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिताः ॥ ४७ ॥ [अमितगति श्रावकाचार अ.५]

अर्थ—इन्द्रिय रूपी घोड़ों को जीतने वाले जो जितेन्द्रिय पुरुष दिन के आदि और अन्त की दो २ घड़ियों को छोड़ कर भोजन करते हैं वे मोह रूपी अन्धकार का नाश करके शीघ्र ही महोदय (केवल ज्ञान रूपी प्रकाश) को प्राप्त करते हैं।

चारित्रसारादि ग्रन्थों में रात्रि भोजन त्याग को छठा अणुव्रत भी माना है, इसका खुलासा आगे व्रत प्रतिमा में किया जायगा।

जब जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने आत्म–कल्याण का इच्छुक होता है, तब वह श्रावक बनना चाहता है, क्योंकि आचार्यों ने कर्म के आवेश को रोकने के वास्ते चारित्र ही एक अमोघ वाण समझा है। बिना चारित्र के न तो किसी के कर्म कटे और न किसी की किसी प्रकार से सिद्धि हुई, अतः वह सम्यग्दृष्टि पुरुष श्रावक बनने के लिये व्रत की प्रथम पाक्षिक अवस्था को ग्रहण करता है तो पाक्षिक में उस को सबसे पहले अष्टमूल गुणव्रत धारण करना पड़ता है।

रात्रि भोजन त्याग छठा अणुव्रत है—

हिंसादिक पांच पापों की एक देशतः निवृत्ति (स्थूल रूप से त्याग) का नाम अणुव्रत, और सर्वतः निवृत्ति का नाम महाव्रत है। वास्तव में सावद्य योग की निवृत्ति को व्रत कहते हैं। परन्तु यहां पर आपेक्षिक कथन है। वह निवृत्ति किंचित् होने से अणुव्रत और सर्व प्रकार त्याग होने से महाव्रत कहलाती है। गृहस्थ लोग समस्त सावद्य योग का (हिंसा कर्मों का) पूरी तौर से त्याग नहीं कर सकते, अतः उनके लिये आचार्यों ने अणु रूप से व्रतों का विधान किया है। जिनकी संख्या और विषय सम्बन्ध में कुछ आचार्यों के परस्पर मतभेद हैं। उसको यहां दिखाते हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में, भगवान् कुन्दकुन्द ने चारित्र पाहुड में, उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में, सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक में, वसुनन्दी आचार्य ने अपने श्रावकाचार में आचार्य अमित गति मुनि ने उपासकाचार में, तथा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र में, अणुव्रतों की संख्या पांच ही है। जिनके नाम प्रायः इस प्रकार है।

१ अहिंसा २ सत्य ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य, ५ परिग्रह परिमाण ये पांच प्रकार के व्रत अपने प्रतिपक्षी स्थूल हिंसादिक पापों से विरति रूप वर्णन किये गये हैं। श्वेताम्बरों के भी उपासक दशांग सूत्र में इन्हीं का उल्लेख है। तथा इन्हीं का श्रावक प्रज्ञप्ति नाम का ग्रन्थ भी

विधान करता है। परन्तु ऐसे विद्वान् व आचार्य भी हुए हैं जिन्होंने रात्रि भोजन विरति नाम के एक छठे अणुव्रत का भी विधान किया है। कहा भी है—

"अस्य (अणुव्रतस्य) पंचधात्वं बहुमतादिष्यते क्वचित्तु रात्र्यभोजनमप्यणुव्रतमुच्यते" [सागार धर्मामृत टीका]

पं. आशाधरजी जो कि तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं, वे इस प्रकार इन वाक्यों द्वारा बतलाते हैं, कि अणुव्रतों की यह पांच संख्या बहुमत की अपेक्षा से है। कुछ आचार्यों के मत से रात्रि भोजन विरति भी एक अणुव्रत है, सो वह अणुव्रत ठीक ही है। कहा भी है—

"व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।

सर्वथान्ननिवृतेस्तत् प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्" ॥ ७० ॥ [आचारसार पञ्चमाधिकार]

यह वाक्य भी वीरनन्दी आचार्य का है जो आज से ८०० वर्ष पूर्व विक्रम की १२वीं शताब्दी में होगये हैं। इसमें कहा गया है कि अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये रात्रि भोजन का त्याग भी आवश्यक है और यह सब प्रकार की अन्न निवृत्ति से छठा अणुव्रत कहा है।

भावार्थ यह है कि श्रावक को अहिंसाणुव्रत आदि व्रतों को पालन करने के लिये रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत भी अवश्य पालन करना चाहिये। रात्रि भोजन के त्याग बिना अहिंसादि पाँच शेष व्रतों की रक्षा नहीं हो सकती;क्योंकि रात्रि भोजन में पूर्ण हिंसा की सम्भावना रहती है, और जब अहिंसा व्रत भी नहीं पला तो शेष व्रत व्यर्थ हैं अथवा वे भी नहीं पल सकते क्योंकि अहिंसा व्रत एक धान्य के समान मुख्य हैं और शेष व्रत उसकी रक्षा के लिये बाड स्वरूप हैं। यदि खेत का मुख्य फल रूप धान्य विनष्ट हो जावे और बाड बनी रहे तो उससे क्या लाभ हो सकता है ?

यहां पर मुनियों के व्रतादि के वर्णन के प्रकरण में यह रात्रि भोजन त्याग का लक्ष्य गृहस्थियों के लिये ही है। मुनियों का तो आहार गृहस्थी के घर ही होता है,और गोचरी दिन में ही होती है,अतः रात्रि भोजन उनके लिये सम्भव न होने से त्याग स्वतः सिद्ध है। दूसरे मूल पद्य में "षष्ठमणुव्रतम्" यह शब्द दिया है, अतः छठा अणुव्रत ही हो सकता है। महाव्रत पांच ही रहेंगे। क्योंकि महाव्रतो मुनियों की चर्या इस प्रकार नियम बद्ध है कि जिससे रात्रि भोजन त्याग स्वतःसम्पन्न हो जाता है। सूक्ष्म रूप से विचार किया जावे तो गृहस्थ के लिये भी पांच ही अणुव्रत हैं। यह छठा रात्रि भोजन त्याग नाम का अणुव्रत अहिंसाणुव्रत में आजाता है, किन्तु भोले जीव रात्रि भोजन करके हम अणुव्रती हैं —ऐसा समझ कर त्रसजीवों की हिंसा के पाप के भागी न बनें, तथा अहिंसाणुव्रत पर पूर्ण ध्यान होजावें, अतः बहुत से आचार्यों ने इसको

छठा व्रत कह दिया है; किन्तु साथ में यह पद जो लगाया है कि "व्रतत्राणाय" अर्थात् व्रतों की रक्षा के लिये सो स्पष्टीकरण करता है कि यह "रात्रि भोजन त्याग" अहिंसाणुव्रत में गर्भित है एवं उसका एक अङ्ग है तथा परमावश्यक है, और विशेष एवं प्रधान अहिंसा का अङ्ग होने से ही रात्रि भोजन त्याग पर आचार्यों ने जोर देकर अल्पज्ञों को स्पष्ट करने के लिये छठा अङ्ग तक बतला दिया है। सूक्ष्म-दर्शी, कुशाग्र बुद्धि, मितभाषी समन्तभद्र स्वामी ने अहिंसाणुव्रत में इसका अन्तर्भाव होने से ही पृथक् उल्लेख नहीं किया है ऐसा प्रतीत होता है।

"सर्वथान्ननिवृत्तेः" इस शब्द से सब प्रकार भक्षणीय पदार्थों की प्रतीति होती हैं। क्योंकि यदि अन्ननिवृत्ति मात्र ही अभिमत होता तो "अन्ननिवृत्तेः" इस शब्द से अन्न मात्र एवं सब अन्नों की निवृत्ति हो सकती थी। यहां पर सर्वथा शब्द से सूचित होता है कि अन्न शब्द यहां पर व्युत्पत्यापक है अर्थात् अनभक्षणी से क्त प्रत्यय होने पर बना है,अतःयावत् भक्षणीय पदार्थों का बोधक है इसी कारण"खाद्य पेय लेह्य चोष्य चर्व्य"सबही की निवृत्ति समझनी चाहिये। सर्वथा शब्द इस बात का अभिव्यञ्जक है। यहां पर मुनियों का प्रकरण होते हुए भी"सर्वथा" शब्द उनके लिये नहीं आया है। क्योंकि मुनि धर्म तो "षष्ठमणुव्रतम्" कथन मात्र से विभक्त सा हो जाता है। और रात्रि भोजन त्याग मुनियों की चर्या मात्र से ही सम्पन्न हो जाता है। और भी कहा है—

"एत्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्"

"वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम् ।

पंचधाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्" ॥ [चारित्रसार]

ये वचन श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य चामुण्डराय के हैं जो आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले विक्रम की ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हो गये हैं। यहां पर यह स्पष्ट रूप से बतलाया है, कि रात्रि भोजन त्याग को छठा अणुव्रत कहते हैं। यह उन पांच प्रकार के अणुव्रतों से भिन्न बताया गया है जो हिंसाविरति आदि नामों से कहे गये हैं।

यहां पर इतना विशेष अवश्य है कि वीरनन्दी आचार्य ने तो केवल अन्न शब्द का प्रयोग किया है और इन्होंने स्पष्ट "अन्न पान खाद्य लेह्य" इस प्रकार चार शब्दों स चार प्रकार के आहार के त्याग को छठा अणुव्रत माना है।

भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ के सातवें अध्याय में प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए"रात्रि भोजन विरमण" नामक छठे अणुव्रत का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

"ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं, न भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते, तत्रालोकितपानभोजनभावनाकार्येति" । [सर्वार्थसिद्धि ७ अध्या.]

पूज्यपाद स्वामी का अस्तित्व काल विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है। उस समय रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत प्रचलित था।

परन्तु उमा स्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र में इस छठे अणुव्रत का विधान नहीं किया, इसलिये प्रतीत होता है कि उस समय यह छठे व्रत रूप में प्रचलित न होगा।

अकलङ्क स्वामी ने भी अपने राज वार्तिक में पूज्यपाद के वाक्यों का प्रायः अनुसरण और उद्धरण करते हुए रात्रि भोजन विरति को छठा अणुव्रत प्रकट किया है। (तदपि षष्ठमणुव्रतम्) और उसके विषय में वे ही विकल्प उठाकर उसे आलोकित पान भोजन नाम की भावना में अन्तर्भूत किया है।

यहां यह विचारणीय है कि वीतराग महात्माओं के उपदेश में भी समय के अनुकूल फेरफार हुआ करता है। यहां तक कि सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान ने भी अपने समय के साधु वर्ग को समयानुसार उपदेश दिया है सो नीचे बताया जाता है।

बावीस तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुन भयवं उसहोय वीरोय ॥ ३२।७ ॥ [मूलाचार]

अर्थ—उस समय मुख्यता से उनके उपदेश में फेरफार हो जाता था किन्तु उद्देश्य में भेद न था। जैसे भगवान आदिनाथ स्वामी ने और भगवान महावीर स्वामी ने अपने समय में छेदोपस्थापना चारित्र का उपदेश दिया; और भगवान् अजितनाथ स्वामी के समय से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक जो २२ तीर्थङ्करों का समय था उसमें उन्होंने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया।

प्रश्न—आदि और अन्तिम तीर्थङ्कर ने तो छेदोपस्थापना का उपदेश किया और मध्यवर्ती २२ तीर्थङ्करों ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—प्रथम आदिनाथ स्वामी के समय जो शिष्य वर्ग थे वे सरल परिणामी थे अतः भूल जाते इस कारण से प्रथम तीर्थङ्कर ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय की जनता में मायाचार की मात्रा थी अतः वक्र परिणामी थे, उनके हित के

लिये छेदोपस्थापना का उपदेश कार्यकारी था। शेष बाईस तीर्थङ्कर के जमाने में शिष्य वर्ग साधुओं में न तो भोलापन और न वे वक्र परिणामी एवं मायाचारी ही थे। अतः उन्हें सामायिक चारित्र का उपदेश दिया। बात यह है जिस समय जैसी आवश्यकता होती है उस समय वैसा ही प्रतिपादन किया जाता है। जैसे आदिनाथ पुराण में यज्ञोपवीत का कथन कर दिया सो मान्य ही है। इसके अतिरिक्त देश में जब जैनेतर लोगों का बहुत जोर होगया और जैन मन्दिरों की रक्षा करना अत्यन्त कठिन जान पड़ा, उस समय इन भट्टारक लोगों ने मन्दिरों में क्षेत्र पालादि विराजमान करना उचित समझा, इसके उपरान्त इस देश में जब यवन लोगों का शासन रहा, तब मन्दिरों में मसजिद बनवाकर धर्म के नेता लोग धर्मायतनों की रक्षा करते थे। किन्तु इस समय जैसा धर्म में ढोंग न था। जो उपादेय नहीं हैं उसे हेय समझना तथा हेय को उपादेय समझने से केवल जैन धर्म का ही नहीं,आत्मा का भी अत्यन्त अनिष्ट हो जाता है। आजकल जैनों में भी रात्रि भोजन करने की प्रथा बहुत चल रही है, इस कुप्रथा को शीघ्र दूर करने की अत्यावश्यकता है। जिसने पंचोदुम्बर और तीन मकार का त्याग किया है उसको रात्रि भोजन का त्याग भी सर्व प्रथम उपादेय है। अन्यथा मांस भक्षण का दूषण आजाता है। यह प्रथा शीघ्र दूर करके रात्रि भोजन का त्याग कर अहिंसा व्रत पालना चाहिये।

रात्रि भोजन त्याग व्रत के समर्थन में जैनेतर ग्रन्थों के भी अनेक स्थलों के प्रमाणों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

जैनेतर शास्त्रों में रात्रि भोजन का त्याग

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥ [मनुस्मृति तृ. अ.]

अर्थ—रात्रि राक्षसी मानी जाती है, अतः रात्रि के समय में, दोनों सन्ध्याओं में और सूर्य के उदय हुए थोड़ी देर हुई हो तब श्राद्ध न करें। और भी कहा है—

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥ १ ॥
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर।
तपस्विना विशेषेण गृहिणां च विवेकिना ॥ २ ॥ [महाभारत]

अर्थ—जो उत्तम बुद्धि के धारक मनुष्य हैं वे रात्रि में सदा सब प्रकार के आहारों का त्याग रखते हैं। उनके एक मास में पन्द्रह दिन के उपवासों का फल होता है।

हे युधिष्ठिर ! जो तपस्वी है, अथवा हेयोपादेय का ज्ञाता गृहस्थ है, उसे रात्रि के समय खास तौर पर अन्न पान भी नहीं करना चाहिये। और भी कहा है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्।

ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥ १ ॥ [पद्मपुराण]

अर्थ—जो मनुष्य मद्य पीते हैं व मांस खाते हैं रात्रि को भोजन करते हैं, तथा जमीकन्द खाते हैं, उनका सब जप तप, तीर्थ यात्रादि करना वृथा निष्फल है। जैनों के यहां और भी कहा गया है—

कुगुरु, कुदेव, कुवृष, की सेवा, अनर्थ दण्ड, अघम व्यापार।

जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, परतिय हिंसन, दान शिकार ॥

त्रस की हिंसा स्थूल असत्य, अरु, विन छानो जल, निशि आहार।

यह सत्रह अनर्थ जग मांहि, यावज्जीव करो परिहार ॥ १ ॥

अर्थ—मध्यम पाक्षिक श्रावक को निम्न प्रकार सत्रह दुर्गुण जन्म पर्यन्त छोड़ देना चाहिये, तभी वह मध्यम पाक्षिक श्रावक की कोटि में गिना जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

(१) कुगुरु—परिग्रह रखने वाले रागी द्वेषी व्यक्ति की सेवा।

(२) कुदेव—रागी द्वेषी मानी देवताओं की उपासना।

(३) कुवृष—खोटे धर्म–जिसमें जीव हिंसा का वर्णन हो, उसे पालन करना।

(४) बिना प्रयोजन के पाप कार्यों में प्रवृत होना।

(५) दुष्ट व्यापार—सावद्य क्रियाओं से जीविका करना अर्थात् ऐसा व्यापार करना जिसमें त्रस जीवों की विशेष विराधना हिंसा होती है। जैसे जङ्गल कटवाना, अग्नि से जीविका करना, बैल गाड़ी या ऊंट गाड़ी को जोत कर व्यापार करना, आतिशबाजी या बारूद बेचना, कोल्हू वगैरह से तेल निकाल कर बेचना, तालाब को सुखा कर उसमें गेहूँ आदि बोना, विष को या लाख को बेचना, हाथी दांत या शेर वगैरह के नखों को बेचना, पशु आदि को बेचना, मक्खन बेचना, या शहद, चर्बी, मद्य बेचना, इत्यादि अनेक प्रकार की पाप क्रियाओं को करके जीविका करना इसे दुष्ट व्यापार कहते हैं।

६ जूआ खेलना ७ मांस भक्षण करना ८ मद्य (शराब) पीना ९ वेश्या सेवन १० चोरी करना या चोर की सङ्गति करना ११ परस्त्री सेवन करना १२ फरसा, कृपाण, कुल्हाड़ी आदि हिंसा के साधनों को देना १३ शिकार खेलना १४ त्रसजीवों की हिंसा करना १५ झूंठ बोलना, दूसरों को पीड़ा कारक, अप्रिय तथा झूंठे वचन बोलना १६ बिना छना जल पीना १७ रात्रि भोजन करना ये मध्यम पाक्षिक को सर्वतः प्रथम छोड़ना चाहिये, तभी वह मध्यम पाक्षिक श्रावक कहला सकेगा।

मध्यम पाक्षिक श्रावक की पात्रता

जब तक लड़का ८ वर्ष का न हो जावे, उसके पहिले उस बच्चे को पहिले निरूपण किये हुए जघन्य पाक्षिक श्रावक के व्रत दिये जाते हैं। इसलिये उन व्रतों की रक्षा करने वाले उसके माता पिता हैं। और जब वह ८ वर्ष का होजाय, तब उसके माता पिता उस बच्चे को श्री जिन मन्दिर मे लेजावें। वहां पर उसे इस प्रकार समझावें कि "अब तुम ८ वष के होगये हो; इसलिये जैन सिद्धान्त के अनुसार अपने व्रतों की रक्षा स्वयं करो" उस समय वह बच्चा स्वयं अपने व्रतों को स्वीकार कर लेता है। वे व्रत ये हैं :—

आठ मूल गुणों को धारण करना, मिथ्यात्व को छोड़ कर सच्चे देव शास्त्र गुरु, और धर्म की भक्ति करना, एवं सप्त व्यसन का त्याग, तथा स्थूल हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग वह बालक इन व्रतों के सिवाय जो २ व्रत आगे बतलाये जावेंगे उन व्रतों को भी धारण कर मध्यम पाक्षिक श्रावक के श्रेयस्कर पद से विभूषित हो जाता है। मध्यम पाक्षिक के लिए समस्त व्यसनों का त्याग शास्त्रकारों ने निर्दिष्ट किया है।

श्रावक की तरेपन क्रियाएं

गुण वय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणत्थि मियं।
दंसण णाण चरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥ १ ॥ [लाटी संहिता]

इस गाथा में श्रावक के लिये करने योग्य तरेपन क्रियाओं का वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं :—मूल गुण ८, वय-व्रत १२, तप-१२ प्रकार, समता १, प्रतिमा ११, दान ४, जल गालन विधि १, रात्रि भोजन और दिवा मैथुन का त्याग १, दर्शन १, ज्ञान १, और चारित्र १, ये श्रावक की तरेपन क्रिया हैं।

गुण—अष्ट मूल गुण-मद्य, मांस, मधु, बड़ फल, पीपर फल, पाकर फल, उदुम्बर, कटूम्बर इनके त्याग रूप आठ मूल गुण हैं।

वय (व्रत)—५ अणुव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और परिग्रह प्रमाण) तीन गुणव्रत (दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थ दण्ड त्याग) चार शिक्षाव्रत-(सामायिक, भोगोपभोग परिमाण, प्रोषधोपवास-अतिथिसंविभाग) ये बारह व्रत हैं।

तव (तप)—१ अनशन २ उनोदर ३ व्रत परिसंख्यान ४ रस परित्याग ५ कायक्लेश ६ विविक्तशय्यासन ७ प्रायश्चित ८ विनय ९ वैयावृत्य १० स्वाध्याय ११ व्युत्सर्ग और १२ ध्यान ये बारह तप हैं।

समता—सामायिक करना (रागद्वेष छोड़ना) सब प्राणियों पर अर्थात् शत्रु और मित्र दोनों पर सामायिक के समय समान भाव रखना।

पडिमा—(प्रतिमा)—दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ प्रोषध ४ सचित्त त्याग ५ रात्रि भोजन त्याग तथा दिवा मैथुन त्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भ त्याग ८ परिग्रह त्याग ९ अनुमति त्याग १० और उद्दिष्ट त्याग ११ ये ग्यारह प्रतिमायें हैं।

दाण—औषधि दान १ आहार दान २ शास्त्र दान ३ और अभय दान ४

जल गालन—दुहेरे छन्ने से जल छान कर बिल छानी स्थान पर पहुंचाना।

अणत्थिमियं—रात्रि भोजन और दिवा मैथुन का त्याग।

दंसण—सच्चे देव-शास्त्र और गुरुओं का श्रद्धान करना।

णाणं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान का अभ्यास करना।

चरित—आत्मिक भावना भाते हुए अहिंसा रूप आचरण करना।

इस प्रकार तरेपन क्रिया का सामान्य स्वरूप नाम निर्देश द्वारा कहा। आगे सप्त व्यसन का वर्णन करते हैं—

सप्त व्यसन

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः, सामायिकं प्रोषध-
स्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवा भक्तं तथा ब्रह्म च ॥
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमति र्नोद्दिष्टमेकादश ।
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥ १४ ॥ [पद्मनंदि श्रावकाचार]

इस पद्य द्वारा आचार्य प्रवर श्री पद्मनन्दी ने श्रावकों के ११ स्थान (प्रतिमाओं) का नाम निर्देश करते हुए बतलाया है कि सात व्यसनों का त्याग करना पहली प्रतिमा है। यही बात आचार्य वसुनन्दी ने अपने उपासकाध्ययन में भी कही है कि—

पंचुंबर-सहियाइं, सत्तवि विसणाइं जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो, दंसण सावओ भणिओ ॥ ५७ ॥

जो शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक पुरुष, पंच उदुम्बरादि फलों सहित सात व्यसनों को त्यागता है, वह दर्शन प्रतिमा का धारक श्रावक कहा गया है।

यहां प्रथम ही व्यसन सामान्य की निरुक्ति बतलाते हैं।

"व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् श्रेयसः इति व्यसनम्"

जो मनुष्य को आत्म कल्याण से विमुख कर देवे उसको व्यसन कहते हैं। उसके सात प्रकार हैं उनका निर्देश नीचे करते हैं।

द्यूत-खेट-सुरा-वेश्याऽऽखेट-चौर्य-पराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तैते व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ ११३ ॥ [लाटी संहिता अ. २]

अर्थ—बुद्धिमान् को चाहिये कि वह १ द्यूत (जूआ),२ मांसभक्षण, ३ मदिरापान, ४ वेश्यागमन,५ शिकार खेलना,६ चौरी करना,

और ७ परस्त्री सेवन, इन सात महा पापों को त्याग दे।

आगे यह निर्दिष्ट करते हैं कि एक व्यसन के सेवन से भी लोग कैसी दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं :—

द्यूताद् धर्मसुतः पलादिह बको, मद्याद्यदोर्नन्दनाः,
चारुः कामुकया मृगान्तकतया, स ब्रह्मदत्तो नृपः ॥
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनिता-दोषाद्दशास्यो हठा-
देकैकव्यसनाद् हता इति जनाः, सर्वैर्न को नश्यति ॥ १ ॥ [पद्मनन्दि पंच विंशतिका]

अर्थ—जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठर, मांस भक्षण करने से वक नाम का राजा, मद्यपान से यदुवंशीय कुमार, वेश्या सेवन से चारुदत्त नाम का सेठ, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री की अभिलाषा से रावण जैसे पुरुष भी विनाश को प्राप्त हुए हैं। जब एक व्यसन के कारण ही उक्त पुरुषों ने आत्यन्तिक कष्ट प्राप्त किया तो जो पुरुष सातों को अथवा एक से अधिक व्यसन को सेवन करे तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, यह स्वयं विचार कर लेना चाहिये।

अब क्रम प्राप्त द्यूत का लक्षण कहते हैं :—

अक्षपाशादिभिर्वित्ताज्जयपराजयम् ।
क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥ [लाटी संहिता द्वितीयाध्याय]

अर्थ—जिस क्रिया में पासा आदि गेरने के द्वारा धन की हार जीत का सङ्कल्प किया जाता है वह द्यूत एवं जूआ खेलना कहलाता है।

विशेषार्थ—पुराने जमाने में तो पासा डाल कर केवल चौपड़ खेली जाती थी और इस खेल की हार जीत में रत्न, दीनार, (सोने का सिक्का) रुपया आदि द्रव्य, घर, दुकान, ग्राम, खेत, आदि तथा जायदाद एवं दासी दास हाथी घोड़ा आदि प्राणियों के लेन देन का दाव, होड़, शर्त या पण बांधा जाता था। और कुछ द्रव्यादि न रहने पर जुआरी अपनी स्त्री तक को दाव पर लगा देते थे। इसलिये इस जुए को अक्षरमण कहते थे। किन्तु आज कल पासे से चौपड़ का खेल ही नहीं, बल्कि अन्य भी अनेक प्रकार के खेल व व्यापार निकल गये हैं जिनमें द्रव्य की हार जीत की जाती है। जैसे कोड़ियों से चौपड़ खेलना, पासे के बिना ही शतरंज, तास आदि खेलना, चूड़ी फैंकना, फीचर व

खाटरी लगाना आदि २। रुई, अलसी, गेहूँ, आदि धान्य सोना, चांदी तथा शेयर, साटन आदि की भी तेजी मंदी लगा कर हार जीत करना एवं घुड दौड़ आदिक द्यूत बल पड़े हैं।

शास्त्रीय नियमानुसार सट्टा भी जुआ ही है, क्योंकि जैसे द्रव्य व भाव हिंसा पासे से चौपड़ खेलने में होती है वैसे ही इसमें भी होती है। परन्तु आजकल बहुत से धर्मात्मा कहलाने वाले जैन भी सट्टे को सट्टा व जूआ न समझ कर अन्य व्यापारों के समान ही व्यापार समझते हैं। किन्तु ऐसा समझना गलत है। द्यूत से कैसी दुर्दशा होती है उसका दिग्दर्शन कराते हैं।

द्यूतनाशितसमस्तभूतिको बम्भ्रमीति सकलां भुवं नरः।

जीर्णवस्त्रकृतदेहसंहतिर्मस्तकाहितकरः क्षुधातुरः॥ ६३६ ॥

याचते नटति याति दीनतां लज्जते न कुरुते विडम्बनां।

सेवते नमति याति दासतां द्यूतसेवनपरो नरोऽधमः॥ ६३७ ॥ [सुभाषित रत्नसंदोह]

अर्थ—जुए मे धन को नष्ट करने वाला पुरुष, फटे पुराने वस्त्रों को धारण किये हुए माथे पर हाथ रख कर, बुभुक्षित, सारी पृथ्वी पर चक्कर लगाता रहता है, भिक्षावृत्ति करने लग जाता है, नांचता है, दीनता को प्राप्त हो जाता है, लज्जा रहित होकर विडम्बित होने लगता है, सेवा वृति स्वीकार कर लेता है और दासता को प्राप्त होकर मस्तक झुका कर नमस्कार करने लगता है। मनुष्यों में नीच जुआरी क्या २ कृत्य नहीं करता ? और भी कहा है—

सत्यशौचशमशर्मवर्जिता धर्मकामधनतो बहिष्कृताः।

द्यूतदोषमलिना विचेतनाः कं न दोषमुपचिन्वते जनाः॥ ६२३ ॥ [सुभाषितरत्नसंदोह]

अर्थ—जुए के दोष से दूषित अपने आपे में न रहने वाले जुआरी सत्यता, पवित्रता, शान्ति, और सुख से भी रहित होकर धर्म; काम और धन से रहित किस २ दोष को नहीं करते ? अर्थात् अनेक दोषों को प्राप्त हो जाते हैं।

जूआ सातों व्यसनों में प्रधान है इसको किसी कवि ने निम्न निर्दिष्ट भिक्षुक दृष्टान्त से बड़े रोचक भाव से समझाया है।

"भिक्षो ? कंथा श्लथा ते नहि सफरवधे, जालमश्नासि मत्स्यान् ।
तेऽमी मद्योपदंशा, पिबसि मधुसमं, वैश्यया यासि वेश्यां ॥
दत्त्वाऽङ्घ्रिमूर्धन्यरीणां, तव किमु रिपवो, भित्तिभेत्ताऽस्मि येषां ।
चौरोऽस्मि द्यूतहेतोस्त्वयि सकलमिदं, नास्तिनष्टे विचारः ॥"

एक भिक्षुक के कंधे पर जाल को कंथा समझ कर कोई भक्त पूछता है कि हे-भिक्षो ? आपकी कंथा (गुदड़ी) ढीली दिखाई पड़ती है ? भिक्षुक इसका उत्तर देता है :—

हे भक्त ? यह कंथा नहीं है; यह तो सफरी (मछली) पकड़ने का जाल है ।

भक्त फिर प्रश्न करता है कि "क्या आप मछली खाते हैं ?" तो वह उत्तर देता है :—"हां मदिरा की घूंट के साथ २"। भक्त फिर पूछता है "तो क्या आप मद्य भी पीते हैं" तो साधु जी महाराज कहते हैं "भाई वेश्या सेवन के कारण मद्य पीना पड़ता है"। इसपर फिर भक्त पूछता है "क्या ? महाराज ? आप वेश्यागामी भी हैं" तो वे उत्तर देते हैं कि "हां शत्रुओं से जो द्रव्य मिलता है उससे मैं वेश्या सेवन भी कर लिया करता हूँ।" भक्त कहता है "भगवन् ? आप तो भिक्षुक हैं फिर शत्रुओं की प्रादुर्भाव कहां से होगया"? तब भिक्षुक महाराज कहते हैं :— "जिसके घर में सैंध लगा कर मैं चोरी करता हूँ वे मेरे शत्रु हैं और उनका मैं भी शत्रु हूँ।" फिर वह भक्त पूछता है महाराज ? आप चोरी क्यों करते हो ? तब साधु उत्तर देते हैं "हे भक्त ? जूए के लिये कभी २ चोरी भी करनी पड़ जाती है" तब उस भक्त पथिक ने कहा अहो ? विवेक (विचार) नष्ट होने पर सभी बुराइये आजाती हैं ।

भावार्थ—यह है कि जूए से सातों व्यसन लग जाते हैं और मनुष्य विवेक-शून्य हो जाता है। अर्थात द्यूत ही सातों व्यसनों का मूल है ।

जुआरी के यहां कभी भी धन नहीं होता है। यदि कदाचित् हो भी जाय तो वह उसके पास नहीं ठहरता। कहा भी है कि—"सर्वं लब्धं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनव" जूए से ही सब कुछ पाया और जूए से ही सब कुछ खोया। बड़े २ करोड़ पतियों का दिवाला इस सट्टे बाजी से निकलता हुआ देखा गया है। जुआरी अपने बाप दादों की संचित सारी संपदा खोकर लखपति से फकीर बनकर, फटे कपड़े पहने दर दर भीख मांगते देखे गये हैं। कहां तक कहा जाय, जुआरी लोग आपस में हारने वाले जीतने वाले को दुर्वचन—बुरी गाली सुनाते और अवसर मिलने पर नाक कान तक भी काट डालते हैं। सरकारी न्यायालयों—अदालतों में जूआरी के लेने बाकी रकम के दावे की सुनाई भी नहीं होती

है। जुआरी का कोई विश्वास भी नहीं करता है और न वह कहीं आदर सत्कार ही पाता है। जुआरी अपने हितैषी माता पिता गुरु मित्र आदि की शिक्षा नहीं मानता और सारे धर्म कर्म विवेक को भूल कर आत्मा का भारी बिगाड़ करता है, उसकी आत्मा पतित बन जाती है।

विषादः कलहो राटिः कोपो मानः श्रमो भ्रमः।

पैशून्यं मत्सरः शोकः सर्वे द्यूतस्य बान्धवाः॥ ५५ ॥ [अमितगति श्रावकाचार अ. १२]

अर्थ—विषाद (रंज) कलह, राड़–लड़ाई–झगड़ा, क्रोध, मान, श्रम (थकान) भ्रम (चित्त की विकलता) पैशुन्य (चुगली) मत्सर (ईर्षा भाव) और शोक ये सब द्यूत के बांधव हैं। अर्थात जूए के साथ ये सब दुर्गुण लगे हुए हैं। क्योंकि हार होने पर खेद होना, जीता हुआ धन हाथ न लगने पर कलह–और लड़ाई मारपीट होना, जीत होने पर घमंड होना, जूए के अड्डों की खोज मे डोलते रहने पर श्रम होना, धन के नाश मे बुद्धि का भ्रम, दूसरों को जीत पर चुगली और डाह तथा अनेक प्रकार की चिन्ताएँ होना स्वाभाविक है।

जुआरी का आत्मा इतना पतित हो जाता है कि वह देव शास्त्र गुरु धर्म की स्तुति वंदना और श्रद्धा छोड़ कर मिथ्यात्वी, ढोंगी, मायाचारी, सन्यासी, पाखंडी साधुओं को ढूंढता फिरता है। पीर, ज्योतिषी, रमल फैंकने वालों की सेवा सुश्रूषा करता और अपना धन लुटाता है। जो कहीं जूए से धन मिल भी गया तो उस मुफ्त मे हाथ लगे हुए धन को पाकर वेश्या–परस्त्री–सेवन, मदिरा पान आदि पापों में खरच देता है। चारित्रसार मे कहा भी है—

"कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवंचनानृतानि प्रजायन्तेऽर्थक्षयोऽपि भवति जनेष्वविश्वसनीयश्च, सप्तव्यसनेषु प्रधानं द्यूतं तस्मात् तत् परिहर्तव्यम्।"

अर्थ—जुआरी के परिणाम रागद्वेष और मोह रूप तथा वचन असत्य रूप होजाते है। धन का भी नाश हो जाता है जिससे जुआरी का मनुष्यो मे से विश्वास उठ जाता है। उसकी कोई पैंठ नहीं रहती। जूआ ही सातों व्यसनों मे प्रधान है। अतः छोड़ने योग्य है।

(२) मांस भक्षण

मांस भक्षण का त्याग आठ मूल गुणों में भी है और यहां पर भी है। दो दो जगह एक ही वस्तु के त्याग करने में जो शब्द भेद से विशेषता है उसका लाटी संहिता मे निम्नलिखित स्पष्टीकरण किया गया है :—

प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्ति र्व्यसनं महत् ।
त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वैकाकथासक्तिवर्जने ॥

अर्थ—मांस भक्षण करना तो प्रवृत्ति कहलाती है और मांस भक्षण मे अत्यन्त अनुरागता से उसका बारम्बार भक्षण करने रूप जो आसक्ति है वह व्यसन कहलाता है। मूल गुणो मे जब मांस भक्षण रूप प्रवृत्ति का ही त्याग कराया गया है तो उसमें आसक्ति रूप व्यसन का त्याग तो प्रवृत्ति के त्याग से भी पहले हो जाता है। क्योंकि मांस भक्षण से भी मांस भक्षण व्यसन में अधिक पाप का बन्ध होता है।

एक वस्तु का शब्द भेद से भी दुबारा त्याग न कराने के लिये वसुनन्दी उपासकाध्ययन तो पांच उदुम्बरादि फलों और सात व्यसनों के त्याग का ही दर्शन प्रतिमा मे विधान करता है। अर्थात् वसुनन्दी आचार्य ने तो मधु को मांस में और मांस को मांस भक्षण व्यसन में एवं मदिरा पान को मदिरा पान रूप व्यसन मे ही गर्भित कर लिया है। मांस की उत्पत्ति व निषिद्धता आदि के विषय में पहले लिखा जा चुका है। अतः यहां पुनरुक्त दोष से बचकर केवल इतना ही लिखा जाता है कि जैनेतर धर्म शास्त्रों में पापी पुरुषों को प्रसन्न करने के लिये कुछ लौकिक स्वार्थी विद्वानों ने लिखा है—

"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम"

देवान् पितृन् चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति। मनुः (मनुस्मृतिः) अध्याय ५।३२

असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥ [मनुस्मृति अ. ५]

'मंत्रों से प्रोक्षित मांस को खा लेवे' 'देवों और पितृ जनों की मांस से पूजा करके यदि मांस खा लिया जावे तो उसमें कोई दोष नहीं हैं।"

"ब्राह्मण को चाहिये कि मन्त्रों से बिना पवित्र किये पशुओं को कभी न खाय, सनातन विधि में आस्था रख कर मंत्रों से प्रोक्षण किये गए पशुओं को खाय।"

इत्यादि रूप से धर्म शास्त्रों में अमृत की जगह विष मिला दिया है।

और अनेक स्थलों पर भी इसी प्रकार के विधान इन जिह्वा के लोलुपी स्वार्थी प्राणियों ने लिख मारे हैं। जैसे मुसलमान कलमा

पढ़कर मारे हुए जीव को हलाल किया हुआ समझ कर उसके खाने में कोई पाप नहीं मानते, उसी प्रकार इतर धर्मानुयायी कहते हैं कि वेद मन्त्रों से पशु मारा जावे तो उसके खाने में पाप नहीं हैं। हमें तो शक है कि पीछे से स्वार्थियों ने ग्रन्थों में यह सब जोड़ दिया हो। क्योंकि अनेक ग्रन्थों में वैष्णव सम्प्रदाय में भी मांस भक्षण का निषेध देखा जाता है फिर परस्पर में विरोध क्यों भागवत में लिखा है कि—

स्वप्राणान्यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः।

तद्वधस्तस्यहि श्रेयो यद् दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥ ३७ ॥ [भागवत स्कन्ध १ प्र. अ. ७]

अर्थ—जो नीच दुर्जन दूसरे जीवों के प्राणों से अर्थात् पशु आदि जीवों को मार कर उनके मांस से अपने प्राणों (शरीरादि) को बलवान बनाना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अपने भले के लिये अपना ही वध करवा लेवे, क्योंकि अन्य जीवों की हिंसा करने से जो नरक में गमन होता है उससे तो वह बच जावेगा। तात्पर्य यह है कि मांस भक्षण से अपने शरीर का बल बढ़ाना नरक में ले जाने वाला है। अतः किसी भी जीव की भक्षण आदि के लिये हिंसा नहीं करनी चाहिये। कहा भी है—

तनूद्भवं मांसमदन्नमेध्यं कृम्यालयं साधुजनप्रनिन्द्यं।
निस्त्रिंशचित्तो विनिकृष्टगन्धं शुनीविशेषं लभते कथं न ॥ ५२४ ॥
येऽन्नाशिनः स्थावरजन्तुघातान् मांसाशिनो येऽत्र सजीवघातान्।
दोषस्तयोः स्यात् परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धिमतेति वेद्यम् ॥ ५३० ॥
अन्नाशने स्यात्परमाणुमात्रः प्रशक्यते शोधयितुं तपोभिः।
मांसाशने पर्वतराजमात्रो नोशक्यते शोधयितुं महत्वात् ॥ ५३१ ॥
करोति मांसं बलमिन्द्रियाणां ततोऽभिवृद्धिं मदनस्य तस्मात्।
करोत्ययुक्तिं प्रविचिन्त्य बुद्ध्या त्यजन्ति मांसं विविधेन सन्तः ॥ ५३५ ॥ [सुभाषितरत्न संदोह]

अर्थ—जो पुरुष प्राणियों के शरीरोत्पन्न, अपवित्र, कृमियों के स्थान भूत, साधुजनों से निन्दनीय, दुर्गन्धित, मांस को दया रहित होकर भक्षण करता है उसमे और कुत्ते मे कोई विशेषता नहीं है। ५२४।

अन्न भक्षण वालों को भी स्थावर जीवों के घात से उत्पन्न हुई हिंसा लगती है और मांस भक्षण करने वालों को भी त्रस पंचेन्द्रिय घात जन्य हिंसा लगती है,अतःहिंसा दोनों में ही लगती है। ऐसा कहकर जो अन्न तथा मांस भक्षण में समानता करते हैं उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि अन्नाशन में परमाणु के समान तो मांस भक्षण में सुमेरु पर्वत के समान पाप है इसकी हिंसा में और मांस भक्षण की हिंसा में बड़ा भारी अन्तर है। अन्न भक्षण करने में जो परमाणु के समान हिसा होती है। वह तपों द्वारा दूर हो सकती है किन्तु पर्वत के समान जो प्राणी वध में हिसा होती है वह तपस्याओं से भी एक साथ दूर नहीं हो सकती। अतः मांस भक्षण नहीं करना चाहिये। मांस भक्षण तथा अन्न भक्षण में महान अन्तर है। ५३०-५३१

"आगोपालादि यत् सिद्धं मांसं धान्यं पृथक् पृथक्" अर्थात् बच्चे से लेकर वृद्ध तक मांस और धान्य पृथक् २वस्तु हैं, यह जानते हैं। क्योंकि "धान्यमानय इत्युक्ते न कश्चिन्मांसमानयेत्" अर्थात् धान्य मंगाने पर कोई मांस नहीं लाकर देता। अतः धान्य और मांस में बड़ा अन्तर है।

मांस इन्द्रियों में बल देता है उससे काम वासना की वृद्धि होती है, उससे पुरुष अयोग्य कार्यों में प्रवृत्ति करने लग जाता है। अतः सज्जन तथा बुद्धिमान् पुरुष इस मांस को मन वचन और काय से छोड़ देते हैं। ५३५।

अन्य सम्प्रदाय में भी कहा है कि—

"तिलसर्षपमात्रं तु मांसं भक्षयन्ति ये द्विजाः।

नरकान्ननिवर्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

आकाशगामिनोविप्राः पतिता मांसभक्षणात्।

विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥"

अर्थ—तिल और सरसों के बराबर भी जो ब्राह्मण मांस भक्षण कर लेते हैं, उनको जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं तब तक नरक में रहना पड़ता है अर्थात् सदा के लिये नरक में वास करना पड़ता है।

जो विप्र विद्या के प्रभाव से आकाश मे गमन करते हैं वे मांस भक्षण के कारण पतित होगये अर्थात् उनकी विद्या नष्ट हो गई। अतः मांस भक्षण नहीं करना चाहिये।

"पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सततियमुववादी तज्जादाणं णिगोदाण। १८॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीमंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेग कोडीणं॥ १९" ॥ [क्षेपक युग्मम्]

अर्थ—मांस की पेशी अर्थात् डली में चाहे वह पक्व हो या अपक्व हो जिस जाति के जीव का वह मांस है उसी जाति के निगोदिया जीव पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार से घृणास्पद मांस को जो जीव भक्षण करते हैं या स्पर्श भी करते हैं वे जीव महान् हिंसा के भागी होते हैं। एवं अनन्त प्राणियों का घात करते है।

मद्य पान निषेध

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः, क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः।
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः, सावद्यमुद्यन्ति च॥
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं।
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन् मज्जति॥ ५॥ [सागार धर्मामृत द्वि. अ.]

अर्थ—जिस मद्य के पीने के बाद उस मद्य के रस में उत्पन्न हुए अनेक जीवों के समूह जो मद्य के अङ्ग भूत हैं मर जाते हैं, और जो काम, क्रोध, भय, तथा भ्रम को एवं अभिमानादिक को उत्पन्न कर देती है और पाप की वृद्धि करती है और जिसके त्याग से मनुष्य धूर्तिल चोर के समान विपत्तियों से मुक्त हो जाता है तथा पीने से *एक पाद संन्यासी के समान नष्ट हो जाता है। वह मदिरा सर्वथा त्याज्य है। और भी कहा है।

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाः चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेममपुंच लोकं यस्यन्ति तत् कश्यमवश्यमस्येत्॥ ४॥ [सागार धर्मामृत]

* एक पाद नाम का एक संन्यासी एक वन में गया वहा पर एक भीलों का समुदाय मिला उस समुदाय में जितने भील थे वे सब मद्य पीते थे और मांसाशी थे उन्होंने उस संन्यासी को पकड़ लिया और कहा कि या तो शराब पीयो या मांस भक्षण करो अन्यथा हम तुम को मार डालेंगे। लाचार मांस को दूषित समझ कर एवं मदिरा को विशेष दूषित न समझ कर उसने मद्य पीली। मद्य पीने से उसको बुभुक्षा लगी और बुभुक्षित तथा मदोन्मत्त उसने मांस भक्षण भी कर लिया। बाद में वह नग्न होगया और भीलनी से विषय करने लगा। ऐसा देख कर भीलों ने उसे मार डाला तथा मर कर नरक में गया।

अर्थ—मद्य में इतने जीव हैं कि उसकी एक बूंद मे उत्पन्न हुये जीव निकल कर यदि उड़ने लगें तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीनों ही लोक भर जांय। इसके सिवाय उसके पीने से मोहित हुये जीव इस भव और परभव दोनों लोकों का सुख नष्ट कर देते हैं एवं दोनों भवों को दुःख रूप बना लेते हैं। अपने आत्मा का हित चाहने वाले पुरुष को मद्य न पीने का दृढ नियम ले लेना चाहिये। और भी कहा है :—

भवति मद्यवशेन मनोभ्रमो भजति कर्ममनो भ्रमतो यतः।
व्रजति कर्मवशेन च दुर्गतिं त्यजत मद्यमतस्त्रिविधेन भो॥ ४६८॥
हसति नृत्यति गायति वल्गति भ्रमति धावति मूर्छति शोचति।
पतति रोदति जल्पति गद्गदं धमति धाम्यति मद्यमदातुरः॥ ४६६॥
स्वसृसुताजननीरपिमानवो व्रजति सेवितुमस्तगतिर्यतः।
सगुणलोकविनिन्दितमद्यतः किमपरं खलु कष्टतरं ततः॥ ५००॥ [सु. र. संदोह]

अर्थ—मद्य पीने से मन में भ्रम हो जाता है और जब मनोभ्रम (बुद्धि विनाश) हो जाता है तब कुबुद्धि से पाप का बन्धन होने लगता है और पाप बन्धन से उसे दुर्गति में जाना पड़ता है। इसलिये इस मद्य को मन, वचन एवं काय से सेवन करना छोड़दो। ४६८

मद्य पीने वाला पुरुष हंसता है, नाचने लगता है, कभी गाने लगता है, कभी चिल्लाने लगता है, और कभी घूमने लगता है, कभी दौड़ने लगता है, कभी मूर्छित हो जाता है, कभी शोक करने लगता है, कभी गिर पड़ता है, कभी रोने लगता है, कभी बकवाद करने लगता है, कभी चौंकने लगता है, एवं बुद्धि से भ्रष्ट होकर बहिन-पुत्री और माता से भी भोग करने के लिये तत्पर हो जाता है। यह मद्य सज्जन लोगों से विनिन्दिनीय है और अत्यन्त दुःख दायिनी है ४६६-५००।

निपतितो वदने धरणीतलं वमति सर्वजनेन विनिन्द्यते।
श्वशिशुभिर्वदने परिचुम्ब्यते वत सुरासुरस्तय मूत्र्यते॥ ५०६॥

अर्थ—मद्यपी पृथ्वी पर गिर पड़ता है और बकवाद करने लगता है, वमन कर देता है एवं जनों से निन्दनीय होता है, कुत्ते मुख को चूमते हैं एवं उसके मुख मे पेशाब कर देते हैं।

वेश्यागमननिषेध

प्रथम ही यह बताया जाता है कि वेश्यायें किस प्रकार पुरुषों को निर्धन बना कर दुर्दशा करती हैं।

"पत्नीव कुर्यादनुवृत्तिपूर्वं पूर्वं महार्थस्य वरोपचारम् ।
द्रव्यैस्त्वया मन्त्रजपादिभिर्वा वशीकृताऽस्मीति वदेच्च सर्वम् ॥ ७० ॥

तस्माच्च पुत्रार्थमनोरथा स्यात् प्राणात्ययं तद्विरहे वदेच्च ।
इत्यादिभिः स्वीकरणाद्युपायैर्निबद्धबुद्धेर्द्रविणं लभेत ॥ ७४ ॥

तावच्च तूर्णं धनमाहरेत यावत् स रागेण विनष्टसंज्ञः ।
प्रशान्तरागानलशीतलम्तु सलोह पिण्डीकठिनत्वमेति ॥ ७५ ॥

याचेत सर्वं सुरतार्तिकाले तमूरुबन्धेन निरुद्धकायम् ।
प्रायेण तृप्ताय न रोचते हि विनम्रशाखापरिपक्कमाम्रम् ॥ ७६ ॥

संधारयेत्त ं च विशेषवित्त ं यावन्न निःशेषधनत्वमेति ।
पुनः पुनः स्नेहलवार्द्रवक्त्रा दीपं यथा दीपकदीपवर्तिः ॥ ७७ ॥

निष्पीतसारं विरतोपकारं चूर्णेक्षुशल्कप्रतिमं त्यजेत्तम् ।
लब्धाधिवासच्चयकारिशुष्कं पुष्पं त्यजत्येव हि केशपाशः ॥ ७८ ॥
हेमन्तमार्जार इवातिलीनः सचेन्नानिर्याति निरस्यमानः ।
तदेष कार्यस्तनुमर्मभेदी प्रवर्धमानः परुषोपचारः ॥ ७९ ॥
शय्यावहारैर्वचनप्रहारैः कोपप्रकारैर्जननीविकारैः ।
कौटिल्यसारैर्विविधप्रसारैर्विपद्विचारैर्गणितापचारैः ॥ ८० ॥

मुहुः प्रत्रासैः कलहोपवासैः मायानिवासैः कटुकाधिवासैः।

सभ्रू विलासैर्व्यसनोपवासैर्निष्कासनीयः स पृथुप्रयासैः ॥ ८२ ॥"

अर्थ—जो पुरुष धनी है उसके लिये ये वेश्यायें प्रथम ही पत्नी के समान बर्ताव करती हैं और कहती हैं कि तुमने द्रव्यों के द्वारा अथवा मन्त्र जपादि के द्वारा मुझे ऐसा बना लिया है कि मैं सर्वथा तुम्हारे आधीन होगई हूँ। और मेरी यह अभिलाषा है कि तुम्हारे द्वारा एक पुत्र की प्राप्ति हो जावे। वह उसके विरह में प्राण विनाश को प्रकट करती है और भी ऐसे ही उपाय करती है जिससे वह अपनी तरफ आकर्षित होजावे और जिस प्रकार से भी हो धन का हरण हो सके। जब तक वह अनुराग में पागल रहे तब तक उससे सब धन का आहरण करलेती है अन्यथा जब उसकी राग रूपी आग शान्त होजावेगी तब वह लोह के पिण्ड के समान कठिन होजावेगा अर्थात् जब उसका राग विनष्ट होजायगा तब वह द्रव्य नहीं देगा। इस कारण जब तक वह राग के वशीभूत रहता है तब तक ही उससे धन लेलेती है। उससे सब कुछ रति के समय याचना कर लेती है। क्योंकि प्रायः तृप्त पुरुष के लिये झुकी हुई शाखा का पका हुआ आम भी अच्छा नहीं लगता है जिसके पास अधिक धन हो उस पुरुष को भी तब तक वेश्या अपने अधीन बनाये रखती है जब तक उसका धन निःशेष न हो जाता। उसके धन को इस प्रकार आकर्षण करती है जिस प्रकार स्नेह (तेल) एवं प्रेम के खण्ड से आर्द्र (गीले) मुख वाली दीप की बत्ती दीपक में रहने वाले तेल का आकर्षण कर लेती है। जब उसका सब सार भूत धन खिच आता है और कुछ काम नहीं निकलता है तब उसे पेले हुए गन्ने के छिलके के समान छोड़ देती है। क्योंकि केश पाश (मांग) अपने पास में रहने वाले शुष्क पुष्प को छोड़ ही देता है। और जब शीत पीड़ित बिलाव के समान अत्यन्त आसक्त वह अपने सामीप्य को न छोड़ता है तो उसको कष्ट देने वाले कटुक वचनों के प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देती है, सोने के लिये सेज नहीं देती, वचनों का प्रहार करती है, अनेक प्रकार के कोप दिखाती है, अपनी माता का रोष प्रकट करती है, अनेक प्रकार की कुटिलता करती है और विपत्तियों का आरोपण करती है, कलहों के द्वारा उपवास कराती है, अनेक माया पूर्ण कटुता दिखाती टेढ़ी भौं के द्वारा एवं व्यसन (आपत्ति) लगा कर उपवास करा २ के अनेक प्रयत्नों से उसे अपने घर से निकाल देती है। कहा भी है—

प्रक्षीण वित्त न निरुद्यमेन किं रूपयुक्तेन करोति वेश्या।

विच्छिन्नदुग्धा न पुनः सगर्भा साकस्य गौश्चारुतयोपयुक्ता ॥८६॥ [क्षेमेन्द्रकृत समयमातृका५ समय]

अर्थ—वेश्या, धन रहित, निरुद्यमी, रूप युक्त को भी नहीं चाहती है; जिस प्रकार दुग्ध रहित गर्भिणी गाय भी लोगों के उपयोग में नहीं आती है।

भावार्थ—तब तक वेश्या प्रेम करती है जब तक पुरुष के पास धन रहता है, वह पुरुष चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो किन्तु धन रहित होने पर उसके पास नहीं जाती, जिस प्रकार दुग्ध रहित गाय का कोई आदर नहीं करता। कहा भी है—

धन कारन पापनि प्रीति करै नहि तोरत नेह जथा तिन कौ।
लव चाखत नीचन के मुख की शुचिता सब जाय छियें जिनकौं॥
मद मांस व जारनि खाय सदा अंधले विसनी न करे घिनकौ।
गनिका संग जे शठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौ॥ [जैन शतक पद्य ५४]

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोः विश्वासयन्ति पुरुषं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्या श्मसानसुमना इव वर्जनीया॥ १४ ॥ [मृच्छ कटिक ४ अङ्क]

अर्थ—ये वेश्यायें जो कुछ रोदन या प्रमोद करती है वह सब द्रव्य के लिये ही करती हैं। पुरुष को ऐसा पिघला देती हैं जिससे वह इनका विश्वास करने लगता है, किन्तु स्वयं किसी का विश्वास नहीं करती। इस कारण वेश्याओं को कुल और शील से युक्त पुरुष श्मसान के पुष्प के समान छोड़ देवें। और भी कहा है—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभाः वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णाः न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः॥१७॥ (मृच्छकटिक चतुर्थाङ्क)

अर्थ—जिस प्रकार पर्वत पर कमलिनी नहीं उगती और जैसे गधे घोड़े के धुरे को नहीं वहन करते एवं जैसे जौ बोये जावे तो चावल उत्पन्न नहीं होते, इसी प्रकार वेश्यायें कभी पवित्र नहीं हो सकती। अन्यत्र भी कहा है—

यार्थसंग्रहपरातिनिघृष्टा सत्यशौचशमधर्मवहिष्ठा॥
सर्वदोषनिलयातिनिकृष्टा तां श्रयन्ति गणिकां किमु शिष्टाः॥६०५॥ (सुभाषित रत्न संदोह अ.)

अर्थ—जो वेश्या सदा धन के संग्रह में लगी हुई, अत्यन्त नीच, सत्य-शौच-शान्ति और धर्म से बाह्य है और सारे दोषों की

स्थानभूत है उस अत्यन्त निकृष्ट वेश्या का सज्जन लोग क्या सेवन करेंगे ?

वेश्या में आसक्त पुरुष की क्या दशा होती है इसे बतलाते हैं—

"मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यं ।
नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमना गतबुद्धिः" ॥ ६०६ ॥ [सुभाषित रत्नसंदोह अमितगति]

अर्थ—जिस पुरुष का मन वेश्या में आसक्त हो जाता है उस पुरुष की बुद्धि इतनी विनष्ट हो जाती है कि न तो वह धन के सुख के विनाश को विचारता है और न गुरु तथा सज्जनों के वाक्य को ही मानता है और न अपार संसार समुद्र को ही देखता है।

अतः वेश्या का संगम सर्वथा त्याज्य है, भद्र पुरुषों को कभी नहीं करना चाहिये ।

आखेट–शिकार

किसी शस्त्र अथवा अस्त्र के द्वारा दीन हरिण आदि पशुओं को या कबूतर जलमुर्गावी आदि पक्षियों को एवं मगर मछली आदि जल जन्तुओं (जलचर–स्थलचर या नभचर किसी प्रकार के) जीवों के मारने का नाम शिकार है। शिकार खेलने से यथा तथा इधर उधर घूम घाम कर उदर पूर्ति करने वाले निपट भोले निरपराध जीव मारे जाते हैं। उन दीन प्राणियों की व्यर्थ हत्या होती है। कोई स्त्री जाति का जीव यदि शस्त्रादि का लक्ष्य बन जाता है और उसके बच्चे छोटे २ होते हैं तो बड़े दुःखी होकर मा के बिना तड़फ २ कर मर जाते हैं उनका कितना करुणा जनक दृश्य होता है। बिचारे भोले भाले हरिण आदि जो तृणादि चर कर अपना पेट भरते हैं किसी को कोई कष्ट नहीं देते हैं, वन में छिपे रहते हैं, जो मनुष्य के आहट से ही भयभीत होकर भाग जाते हैं, उन दीन हीन निःसहाय निर्बल पशुओं को मारने के लिये बनों में भ्रमण करना पड़ता है। अपने प्राणों के भय से छिपे हुए को अस्त्रादि का लक्ष्य बनाया जाता है। हा ! यह आखेट भी क्या मानव का धर्म हो सकता है ? कदापि नहीं। निरपराधियों पर इतना अत्याचार करने के लिये किसी भी विचारशील मनुष्य का हृदय साक्षी नहीं दे सकता। इस घोर अत्याचार पर तो एक दफे अचेतन पत्थर के समान चाण्डाल प्रकृति मानव का मानस भी पिघल आता है। शिकार करने वाला इस जन्म में जनता मे निन्द्य–अत्याचारी दया विहीन कहलाता और परभव में नरकों के घोर दुःखों को भोगता है।

शिकार खेलने वाला शुभ गति का पात्र नहीं हो सकता है क्योंकि शुभ गति पुण्याश्रव से होती है, उसके पाप का बन्ध होता है जीव का परम कल्याण कारी सम्यग्दर्शन इससे विनष्ट हो जाता है। अतः नरकादि में जाकर घोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं। कहा भी है—

सम्मतस्स पहाणो अणुकंपा वण्णिऊजह्मा ॥
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहऊतह्मा ॥ ४० ॥ [वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ—सम्यक्त्व का प्रधान कारण दया है और शिकारी के दया नहीं रहती, अतः शिकारी के सम्यक्त्व नाश हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व के विनाश के कारण और पाप बन्ध के कारण उसे दुर्गतियों में जाकर घोर कष्ट चिरकाल तक भोगने पड़ते हैं। क्रिया कोष में भी कहा है—

त्यागी अहेरा दुष्ट जु कर्मा, ह्वै दयाल सेवौ जिनधर्मा ।
करे अहेरा तेजु अहेरी, लहै नर्क मे आपद ढेरी ॥ २६२ ॥ [क्रियाकोष]

तात्पर्य—शिकार का परित्याग कर दया पूर्ण जिन धर्म की सेवा करो अर्थात् जिन धर्म दया पूर्ण है। जो पुरुष शिकार करता है उसको नरक में घोर आपत्तियें उठानी पड़ती हैं। और भी कहा है—

जीवहिंसाकरं पापं दुःखदुर्गतिदायकं ।
बधबंधकरं दक्षः आखेटं दूरतः त्यजेत् ॥ ४२ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार १२वां परिच्छेद]

अर्थ—चतुर पुरुष को चाहिये कि वह शिकार खेलना सर्वथा त्याग देवे क्योंकि शिकार खेलने से अनेक जीवों की हिंसा होती है और हिंसा से पाप दुःख एवं दुर्गतियां प्राप्त होती हैं और फिर अनेक वार बध और बंधन आदिक के कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

कोई ऐसा कहते हैं कि शिकार खेलना क्षत्रियों का धर्म है। यह कहना उनकी भूल है। क्योंकि क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही दया करना एवं निर्बल प्राणियों की रक्षा करना है। कहा भी है—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ २५ ॥ [रघुवंश द्वि. स.]

अर्थ—निश्चय करके जो दुःखों से प्राणियों को बचावे उसको क्षत्रिय कहते हैं। जो क्षत्रिय दूसरों को दुःख से नहीं छुड़ा सकते हैं वह क्षत्रिय कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। जो क्षत्रिय धर्म से विपरीत वृत्ति से राज्य करता है उसका राज्य करना व्यर्थ है। तथा निन्दा से

मलीन प्राणों का धारण करना भी व्यर्थ है।

इससे स्पष्ट है कि राजाओं का एवं क्षत्रिय शब्द का अर्थ एवं कार्य रक्षा करना प्रधान है जो ऐसा नहीं करते उससे विपरीत शिकार आदि अत्याचार करते हैं वह क्षत्रिय कहलाने के पात्र नहीं हैं। और भी कहा है—

छत्री को इह होय न कर्मा, छत्री को है उत्तम धर्मा।
छत कहिये पीरा को नामा, परपीराहर जिन का कामा ॥ २६४ ॥

छत्री दुर्बल को किम मारै, छत्री तो परपीरा टारै।
मांस खाय सो छत्री कैसो, वह तो दुष्ट अहेरी जैसो ॥ २६५ ॥

अर जु अहेरी तजै अहेरा दया पाल ह्वै जिन मत हेरा।
तौ वह पावै उत्तम लोका सबकों जीवदया सुख थोका ॥ २६६ ॥ [क्रियाकोष]

इन पद्यों का तात्पर्य ऊपर वर्णित हो चुका है अतः अर्थ नहीं दिया है।

शिकारी ब्रह्मदत्त नृप की कथा

उज्जैन नगरी को शासन करने वाला एक ब्रह्मदत्त नाम का राजा था। उसको शिकार खेलने का ऐसा व्यसन था कि वह बिना शिकार के एक दिन भी नहीं रह सकता था। एक समय यह राजा शिकार के लिये एक वन में गया। वहां पर एक शिला पर मुनि महाराज तपस्या कर रहे थे, उनके प्रभाव से इसको तीन दिन तक लगातार शिकार नहीं मिली। राजा के मन में बड़ा दुःख हुआ और मुनीश्वर के ऊपर कुपित होकर उनके बैठने की शिला को अग्नि से खूब तपवादी। मुनि महाराज आहार के लिये नगर में गये थे। आकर उसी तप्त शिला पर तपस्या करने लगे और उपसर्ग समझ कर सब सहन किया। उस शिला से मुनि महाराज का शरीर जल कर भस्म होने लगा तथापि मुनि महाराज ध्यान से न चिगे। उनको केवल ज्ञान होगया तथा मुक्ति पद मिल गया।

इधर राजा सातवें दिन ही कोढ़ी होगया और शरीर से दुर्गन्ध आने लगी, प्रजा तथा कुटुम्बी उस दुर्गन्ध को सहन न करसके राजा को वन में रहना पड़ा। अन्त में कष्ट पूर्वक मर कर सप्तम नरक गया। और वहां घोर यातना भोग कर आयु की स्थिति पूर्ण होने पर धीवर

के यहां अतिशय दुर्गन्ध काय को धारण करने वाली कन्या पर्याय धारण की। माता पिताओं ने दुर्गन्ध के असह्य होने से उसको वन में छुड़वा दिया। वन में किसी आर्यिका के दर्शन हुए,आर्यिका ने उसे धर्म का स्वरूप समझा कर श्रावक व्रत देदिये। पूर्व पापोदय से उसे सिंह ने भक्षण कर लिया, फिर मर कर कुबेरदत्त सेठ के घर पुत्री हुई। किन्तु शरीर में दुर्गन्ध फिर भी आती थी। सेठ ने किसी मुनीश्वर से इसके शरीर से दुर्गन्ध आने का कारण पूछा, तब उन्होंने पूर्वभव सम्बन्धी शिकार तथा मुनि शरीर जलाने का वृतान्त कहा।

तात्पर्य यह है कि शिकार खेलने से ३३ सागर की लम्बी स्थिति वाले नरक के अवर्णनीय घोर दुःख भोगे और इसके बाद अनेक पर्यायों में भी घोर यातनायें उठानी पड़ी। इस कारण चाण्डालों से भी निन्द्य दया विहीन, आत्म धर्म विनाशक, सम्यक्त्व को नाश करने वाला अनेक पर्यायों में घोर दुःख देने वाला शिकार कभी नहीं खेलना चाहिये।

चौरी

संसार में धन-एवं सम्पत्ति को भी प्राणी प्राणों से अधिक प्यारी समझता है. जिस प्रकार प्राण त्याग में कष्ट समझता है वैसे ही अथवा उससे भी कुछ अधिक द्रव्य के विनाश में कष्ट मानता है। चौर दूसरों की पड़ी हुई, एकान्त में रखी हुई,बिना दी हुई वस्तु को उठा लेता है। एवं मकानो में सैंध लगा कर उसके प्राण से अधिक प्रिय धन को ले जाता है। जिसका धन जाता है वह प्राणी उस सम्पत्ति के वियोग में कितना संतप्त होता है-वह वचनातीत है। इत्यादि कारणों से चोरी के बराबर अन्य अन्याय एवं पातक दूसरा नहीं हो सकता। इस लोक में राज दण्ड तथा जनता मे निन्दा को प्राप्त करता है। और परलोक मे दुर्गति प्राप्त करता है।

चोरी करने से राज मान्य पुरुष भी तिरस्कृत और अविश्वसनीय तथा राज दण्ड का पात्र होता है। चौरी करने वाला सदा भयभीत बना रहता है। एवं चोरी का माल मोरी में अर्थात् अनर्थ वेश्यादिक में जाता है। अधिकतर जुवारी तथा वेश्या सेवी लोग अधिक चौर कर्म में प्रवृत्त होते हैं। चौर का हृदय सदा शङ्कित एवं भयभीत रहता है। मृच्छ कटिक में शर्विलक चौर अपनी दशा का वर्णन करता हुआ कहता है।

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां संभ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।

तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा स्वैर्दोषैर्भवतिशंकितो मनुष्यः॥ २॥ [चतुर्थाङ्क]

जो कोई भी जल्दी २ चल कर मुझ संभ्रान्त (भौंचक्के) को आकर देखता है अथवा मेरे पास से जाता है उसी को देख कर यह दूषित मेरा अन्तरात्मा शङ्कित हो जाता है। ठीक है संसार में मनुष्य अपने दोषों से ही शङ्कित होता है।

इस चोरी को इस लोक में अङ्ग-छेदादिक राजदण्ड की प्राप्ति तथा लोक निन्दा एवं परलोक में दुर्गति का कारण समझ कर सर्वथा छोड़ देना चाहिये। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा भी है—

वधाङ्गच्छेदबन्धादिदुःखदारिद्र्यकारणम् ।
परपीडाकरं वत्स चौर्याख्यं व्यसनं त्यजेत् ॥ ४३ ॥ [अ. १२]

अर्थ—हे वत्स ? वध, अङ्ग-छेद और बन्धादिक तथा दुःख एवं दारिद्र्य के कारण तथा दूसरे के लिए पीड़ा कारक चौर्य नाम के व्यसन को छोड़ दे।

परस्त्री-गमन-निषेध

कन्यादूषणगान्धर्व-विवाहादिं विवर्जयेत् ।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥ २३ ॥ [सागार धर्मामृत तृ. अ.]

अर्थ—परस्त्री त्यागी को कन्या के साथ विषय करना अथवा उसके दोष प्रकट करना, माता पिता की आज्ञा बिना कन्या तथा अपनी इच्छा से विवाह करना अथवा कन्या आहरण आदि करना वर्जनीय है। यह सब परस्त्री सेवन में ही माना है।

इस संसार में जो स्त्री अग्नि तथा मन्त्र आदि की साक्षी से अपनी धर्म पत्नी बन चुकी है उसको छोड़ कर अन्य स्त्रियों से रमण करना बड़ा भारी पाप है। परस्त्री सेवन से अनेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। कीर्ति का विनाश हो जाता है। अपमान पूर्वक द्रव्य का भी विनाश हो जाता है। लोकों से छिप कर परस्त्री रमण करना पड़ता है। किसी समय पाप का घड़ा फूट जाता है तो संसार में घोर निन्दा तथा तिरस्कार प्राप्त होता है एवं राज दण्ड भी प्राप्त करना पड़ता है। अपनी जाति के लोग भी दण्ड देते हैं। ये प्रत्यक्ष में इसके बुरे परिणाम इस लोक में ही देखे जाते हैं और भविष्य में परलोक में भी दुर्गति प्राप्त करनी पड़ती है। जो मनुष्य एक बार भी इसका सेवन करता है वह सदाचार भ्रष्ट होकर महान पाप का भागी होता है। जिस समय प्राणी अपने हृदय में परस्त्री का विचार करने लगता है उसी समय उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्मभाव एवं सदाचरण हृदय से कूंच कर जाता है। शरीर एवं हृदय व्याकुल हो उठता है। हृदय में विकार आने पर वचनों में कालिमा आजाती है। शरीर की चेष्टायें हार्दिक विकृति से विकारी हो जाती हैं। कहां तक लिखें अच्छे विचार भी हृदय से निकल जाते है। कहा भी है—

या रागद्वेषमोहाञ्जनयति हरते चारुचारित्ररत्नं ।
भिन्ते मानोचशैलं मलिनयति कुलं कीर्तिवल्लीं लुनीते ॥
तस्यां ते यान्ति नार्यामुपहतमनसा शक्तिमत्यन्तमूढा ।
देशः कन्दर्पतप्ता ददति तनुमतां ते कथं मोक्षलक्ष्मीम् ॥ ६५० ॥ [सुभाषित र. स.]

अर्थ—जो स्त्री रागद्वेष और मोह को उत्पन्न करने वाली है, तथा सुन्दर चारित्र रूपी रत्न को आहरण करने वाली है एवं सन्मान रूपी ऊंचे पर्वत को भेदन करने वाली तथा कुल को मलिन करने वाली और कीर्ति रूपी लता को छेदन करने वाली है; ऐसी स्त्री के समीप विचार शून्य काम से संतप्त होकर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्त्रियों के विषय सम्बन्धी विचार मात्र से पुरुषों का आत्मा इतना पतित हो जाता है कि वह आपे में नहीं रहता. फिर जो परस्त्री रमण करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्टता के साथ धन का विनाश, चारित्र का विनाश, शारीरिक स्वास्थ्य का विनाश, जो भी विनाश होजावे थोड़ा है। अपयश प्राप्ति के साथ राज दण्डादिक सभी दण्ड संभव हैं।

इस व्यसन के सेवी अनेक व्यक्ति अपने धन—यश और शारीरिक बल को भी नष्ट कर धन जन एवं परिवार से रहित होकर भिक्षुक होकर दर २ टुकड़े के लिये भटकने लगे हैं। अपनी घर की सम्पत्ति नष्ट कर घर २ भीख मांगते हैं।

जिन मनुष्यों ने इस व्यसन का सेवन किया है—उन्होंने अपने सुखों को लात मार कर अपने चारित्र को कुचल कर विपत्ति मात्र के पात्र बनने के लिये एक भयङ्कर विघ्न कोष प्राप्त किया है।

मनुष्य परस्त्री सेवन करने के लिये अनेक प्रकार के अन्याय अत्याचार करने पर उतारु हो जाता है।

इस परस्त्री के कारण "कीचक" सरीखे अनेक राजाओं ने प्राण तक गंवा दिये। रावण जैसे बलिष्ठ और सम्पत्ति शाली नरपतियों ने भी अपनी सम्पत्ति तथा राज्य पाट एवं प्राणों तक का इस अग्नि में हवन कर दिया।

महाभारत के समान अनेक युद्ध परस्त्री सेवन पर हुए। अगणित प्राणियों का विनाश परस्त्री के ग्रहण करने की इच्छा मात्र पर हो जाता है। सुलोचना—जब जय कुमार के गले में वरमाला डाल कर उसकी पत्नी बन चुकी थी तब अर्ककीर्ति की उसके ग्रहण करने की इच्छा मात्र से युक्त होने पर घोर युद्ध हुआ। अनेकों प्राणियों का संहार हुआ। अन्त में जयकुमार की विजय हुई। अर्ककीर्ति की पराजय और अपकीर्ति हुई। सदा सदाचारी की विजय होती है, परस्त्री गामी की विजय नहीं देखी गई है। कहा भी है—

कुगति वहन गुनगहन, दहन दावानलसो है ।
सुजस चन्द्र घनघटा, देह कृश करन खई है ॥
धनसर सोखन धूप, धरम दिनँ सांझ समानी ।
विपति भुजङ्गनि वास, बांबई वेद वखानी ॥
इह विधि अनेक औगुन भरी प्रान हरन फांसी प्रबल ।
मत करहु मित्र यह जान जिय, पर वनिता सो प्रीतिपल ॥ ५७ ॥ [जैन शतक]

और भी कहा है—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो, गोत्रे मषीकूर्चकः
चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ॥
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः ।
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं, त्रैलोक्यचिन्तामणिः ॥ ३९ ॥ [सूक्तिमुक्तावली]

अर्थ—जिस पुरुष ने तीन लोक में चिन्तामणि के समान शील रत्न को विनष्ट कर दिया उस पुरुष ने संसार में अपने अपकीर्ति के ढंढोरे को पिटवा दिया, अपने कुल में स्याही (काजल) की कूंची फेर दी, चारित्र को विदा कर दिया, गुणों के समूह के बाग को अग्नि से दग्ध कर दिया, सम्पूर्ण आपत्तियों को बुला लिया और शिवपुरी का द्वार बन्द कर दिया ।

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष परस्त्री गामी होता है उसका शील एवं सदाचार विनष्ट हो जाता है और फिर उसका संसार में कोई आदर नहीं रहता, अकीर्ति फैल जाती है, कुल भी कलङ्कित हो जाता है । उसका आचार विचार एवं शुद्ध चरित्र नहीं रहता, जो गुण भी होते हैं वे भी विनष्ट होते जाते हैं तथा गुणों से भी आदर प्राप्त न करके अनादरणीय हो जाता है । अनेक प्रकार की आपत्तियां आकर घेर लेती हैं और चारित्र के विनाश होने के कारण वह शिवपुरी के गमन का अधिकारी नहीं होता है । अतः शील रूपी रत्न को कभी विनष्ट नहीं होने देना चाहिये ।

कुलीन बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शील को सदा सुरक्षित रखे शील की रक्षा से जो दुःसाध्य कार्य हैं वह भी हो आते हैं । स्वयं तो कदाचित् परस्त्री की वांछा करनी ही नहीं चाहिये । यदि कोई स्त्री भी अपने को शील से डिगावे तो नहीं डिगना चाहिये ।

जो पुरुष या स्त्री शील से नहीं डिगते वे सदा अनेक विपत्तियों पर विजय प्राप्त करते हैं। एवं अन्त में कीर्ति सम्पत्ति तथा संयम रत्न की प्राप्ति से मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। प्रद्युम्नकुमार ने अनेक विपत्तियों के आने पर भी कनक माला से अपने शील को नहीं नष्ट होने दिया। एवं अनेक विपत्तियों को सहन कर अन्त में विजय प्राप्त की तथा अनेक विपुल सम्पत्तियों एवं कीर्ति का भाजन हुआ। इसी प्रकार सीता सती आदि ने अपने शील की रक्षा की तो अन्त में अमर कीर्ति प्राप्त की तथा देवों के द्वारा स्तुत्य हुई। संसार में शील से बढ़ कर कोई चीज नहीं हैं और शील से ही संयम की स्थिति रह सकती है। दशलाक्षणी पूजन में कहा है कि—

"संयम रतन संभाल विषय चोर बहु फिरत हैं"

तात्पर्य यह है मनुष्य की इन्द्रियां तथा मन बड़ा चञ्चल होता है। इन इन्द्रियों को विषय अपनी तरफ अत्यन्त शीघ्र आकर्षित कर लेते हैं। अतः ज्ञानी पुरुष को अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहिये जिससे ये विषय रूपी चौर इस पुरुष के संयम रूपी रत्न को अपहरण करके दीन और रङ्क न बना सकें। आत्मा के पास सबसे बड़ी भारी सम्पत्ति संयम रूपी रत्न ही है यदि यह नष्ट होगया तो फिर यह निर्धन एवं दीन के तरह हो जावेगा। आत्म बल संयम रक्षा पर ही निर्भर है-और संयम शील की रक्षा पर अवलम्बित है। कहा भी है

"शील बडा संसार में सब रत्नों की खानि।
तीन लोक को सम्पदा रही शील में आनि॥"

द्यूत व्यसन त्याग के अतिचार

होड़क्रीड़ा न कर्तव्या सट्टादिक्रीड़नं तथा।
चौसरं गुण्डगञ्जीफा क्रीड़नं मानभंगकृत्॥ १॥

अतितीव्रतरद्वेषरागोत्पादकक्रीड़नम्।
होड़ाचित्तविनोदार्थं क्रीड़नं वाथ तादृशम्॥ २॥

द्यूतक्रीड़नकं त्याज्यं रागद्वेषप्रवर्द्धकम्।
क्लेशदं दुःखदं सर्वं तत्क्रीड़ां होड़नं त्यजेत्॥ ३॥

अर्थ—जिन्होंने जुआ खेलने का त्याग कर दिया है उनको शर्त–तथा सट्टा चौसर (चोपड़) ताश शतरंज आदि खेल नहीं खेलने चाहिये। ये मान भङ्ग कराने वाले हैं तथा तीव्र रागद्वेष को पुष्ट करने वाले हैं। अतः इनको चित्त की प्रसन्नता के लिएभी नहीं खेलना चाहिये; क्योंकि क्लेश और दुःख देने वाले हैं। इसलिये द्यूत के त्यागियों को ये अतिचार त्याग देने चाहिये।

मांस त्याग के अतिचार

"गलितं पुष्पितं विद्धं त्रसजीवसमन्वितम्।
त्यक्तमर्यादकं चान्नं घुणकीटादिसंयुतम्॥ १॥
चर्मस्थं च पयो हिंगुतैलं सर्पिजलादिकम्।
आर्द्रं च वस्तुमात्रं वा मांसत्यागी सदा त्यजेत्॥ २॥"

अर्थ—मांस त्यागी पुरुषों को जो अन्न गल गया हो, सड़ कर फूल गया हो, घुन गया हो, या जिसमें त्रसजीव पैदा होगये हों, और जो मर्यादा रहित होगये हों, हींग, हींगड़ा चमड़े के पात्रों में रखा हुआ पदार्थ, तथा गीला पदार्थ, सड़ा पदार्थ, इनका सर्व प्रकार त्याग कर देना चाहिये।

मदिरा त्याग के अतिचारों

"तमालमहिफेनं वा कोकमं विजयादिकम्।
आसवं पुष्पितं कोद्रादिरसं काञ्जिकं तथा॥ १॥
प्रकृष्टोन्मादकर्तारं रसंवृक्षस्य तादृशम्।
बुद्धिभ्रष्टकरं सर्वं मद्यत्यागी त्यजेत्सदा॥ २॥

अर्थ—मद्य त्यागी सज्जनों को चाहिये कि वे इन पदार्थों को जैसे तमाखू, अफीम, कोकीन, गांजा, भांग, ऐसा आसव जिसमें फफूंदे आगये हों, कोदों का रस, कांजी, सड़ने के कारण जिन पर सफेदी आजाती है, तथा बुद्धि को भ्रष्ट कर देने वाला ताड़ी का रस व खजूर का रस आदि सर्व प्रकार से त्याग करदें। कारण इनसे पाप बंध के सिवाय और कुछ नहीं होता।

वेश्या त्याग के अतिचार

"रागभावेन वा तीव्रमदनासक्तचेतसा ।

नृत्यं गानं च वेश्यायास्तादृशाया न कारयेत् ॥ १ ॥

पश्येत्तासां न चाङ्गानि कामोद्रिक्तेन चेतसा ।

हर्षशोकौ न वेश्यायाः कास्येदवलोकने ॥ २ ॥"

अर्थ—वेश्या त्यागी पुरुषों को राग भाव से वा चित्त में तीव्र काम की लालसा होने पर वेश्या का या इसके समान अन्य स्त्री का नृत्य या गान नहीं कराना या देखना चाहिये । और इनके अङ्ग उपांगों को भी राग भाव से नहीं देखना चाहिए न । व्यभिचारी, लम्पट पुरुषों की सङ्गति करना चाहिये, तथा दुःख देने वाले व काम की तीव्रता को उत्पन्न करने वाले ऐसे शास्त्रों को भी नहीं पढना चाहिये । तथा ऐसे भंड वचन भी नहीं बोलना चाहिए जिनके सुनने से काम जागृत होजावे । न ऐसी शरीर चेष्टा करनी चाहिये, न हंसी मज़ाक करनी चाहिये जिससे व्रत भङ्ग होजावे ।

आखेट (शिकार) त्याग के अतिचार

"जीवहिंसाकुभावेन चित्रं लेपादिकं मृदम् ।

नरतिर्यक्समाकारं जीवं मृत्वा न घातयेत् ॥ १ ॥

आङ्गोपाङ्गो हि तेषां हि नैवच्छिन्द्यात्कुभावतः ।

मृगयाविरतो धीमान्हिंसापापनिवृत्तये ॥ २ ॥"

अर्थ—शिकार के त्यागी पुरुषों को जीवों की हिंसा के विचार से मिट्टी व रङ्ग के बने हुए मनुष्य व तिर्यचों के चित्रों का वध (नाश) नहीं करना चाहिये । तथा इन चित्रों के अङ्ग उपांगों का खण्डन भी नहीं करना चाहिये । किसी प्रकार से छेदन भेदन नहीं करना चाहिये ।

अचौर्य के अतिचार

"परद्रव्यादिकं वस्तु वञ्चनं ग्रहणं हठात् ।
चौर्यार्थग्रहणं चौर्यादिप्रयोगप्रदर्शनम् ॥ १ ॥

क्रयविक्रयके वापि न्यूनाधिकप्रवर्तनम् ।
अचौर्यव्रतिकोऽतीचारानन्यानपि संत्यजेत् ॥ २ ॥"

अर्थ—चोरी का त्याग करने वालों को दूसरे के धन को ठगना, बिना दिया अन्य के धन को लेना तथा चोरी के प्रयोग बताना, माल को लेने देने के लिये तौलने नापने के साधन बांट व गजादिक कम व अधिक रखना, आदि सबका त्याग करना चाहिए।

परस्त्री त्याग के अतिचार

"कुमारीरमणं रण्डायाश्च संयोजनादिकम् ।
गुदादिमैथुनं हस्तक्रीड़ां वा कामसेवनम् ॥ १ ॥

कामतीव्राभिलाषं वा इत्वरिकादिसेवनम् ।
परस्त्रीविरतो मुंचेद् गान्धर्वादिविवाहकम् ॥ २ ॥"

अर्थ—पर स्त्री त्यागी के लिए कुमारी से रमण करना, विधवा से सम्बन्ध करना, गुदा–मैथुन, हस्त–मैथुन, काम–तीव्राभिलाष, इत्वरिका–गमन, माता पिता की आज्ञा के बिना विवाह करना आदि सभी अतिचार कहलाते हैं। इसलिए मन वचन काय से इनका त्याग करे।

उत्तम पाक्षिक श्रावक का स्वरूप

व्यसनामचयरहिताः वसुमूलगुणैर्युताः ।
व्यपेतमूढताः जैनाः उत्तमाः पाक्षिकाः मताः ॥ १ ॥

जिसके पांच उदुम्बर, तीन मकार, सप्तव्यसन तथा कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र को मानने व पूजने का त्याग हो और जिन वचन रूपी अमृत को पीने वाला एवं धर्म का परिशीलन करने वाला हो, वह उत्तम पाक्षिक श्रावक होता है। व्यसनों का वर्णन कर चुके हैं अब अभक्ष्य का वर्णन करते हैं।

अभक्ष्य वर्णन

जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायों में ही अभक्ष्य माने गये हैं, किन्तु शैली पृथक् २ है। उन दोनों का यहां दिग्दर्शन कराते हैं—

अभक्ष्य के विषय में प्रथम ही दिगम्बर सम्प्रदाय का मन्तव्य बतलाते हैं—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥
यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥ ८६ ॥ [रत्न०]

अभक्ष्य को पांच निम्न लिखित श्रेणियों में विभक्त किया है—

(१) अल्पफलबहुविघात—जिसके सेवन से फल तो अल्प हो और जीवों का घात अधिक हो अर्थात् जो फलादि एवं पुष्पादि बहुत जीवों के योनि भूत स्थान हो जिनके थोड़े से भाग में अनेक एवं अनन्त जीव रहते हों, जैसे—अदरख—मूली, गीली हल्दी, निम्ब के फूल, एवं केतकी तथा अर्जुन वृक्ष के फूल आदि ये सब अल्प फल बहुविघात के कारण हैं। अतः जिन मार्गाश्रयी को ये सर्वथा त्याज्य हैं।

(२) प्रमाद—जिस वस्तु के सेवन करने से कार्य एवं अकार्य का विवेक न रहे। जो प्रमाद को पैदा करने वाली हो जैसे शराब वगैरह। ये प्रमाद के कारण होने से त्याज्य हैं।

(३) त्रसघात—जिनके सेवन करने से त्रस जीवों का घात होता हो उसको, अर्थात् मांस मधु आदि को छोड़ देना चाहिये।

(४) अनिष्ट—जितने पदार्थों की आवश्यकता हो उतने ही रखना, शेष से निवृत्ति करना अनिष्ट निवृत्ति है। जैसे जितनी सब्जी

अपने को इष्ट हैं एवं सवारी वाहन आदि जितने की अपने को आवश्यकता है उतने ही रखना शेष का परित्याग कर देना चाहिये।

(५) अनुपसेव्य—जो वस्तु बिल्कुल सेवन करने योग्य न हो उसे अनुपसेव्य कहते हैं। उसकी निवृत्ति कर देना अनुपसेव्य-निवृत्ति है।

उल्लिखित दोनों पद्य श्री समन्तभद्र स्वामी के हैं और रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भोगपरिसंख्यान प्रकरण में आये हैं। ये सभी चीजें अभक्ष्य हैं इसलिए इनका त्याग करना चाहिए।

अब आगे श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अभिमत २२ अभक्ष्य बताते हैं—

पंचुबरि चउविगई विस करगे असव्वमट्टी अ।
राई मोयणगंचिय, बहुवीअ अणंतसंघाणा ॥ १ ॥
घोलवडा वायंगण, अमुणि अनामाइं पुप्फफलाइं।
तुच्छफलं चलिअरसं वज्जे वज्जाणि वावीसं ॥ २ ॥

इन्हीं का अनुवाद निम्न लिखित हिन्दी कवित्त में इस प्रकार है।

कवित्त

ओरा, घोरबरा, निशभोजन, बहुवीजा, बैंगन, संधान।
पीपर, बर, ऊम्मर कठुम्मर, पाकर फल, जो होइ अजान ॥
कद मूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन और मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुसार, चलितरस, जिनमत ये बाईस बखान ॥

अर्थ—१ ओला २ द्विदल ३ रात्रि भोजन ४ बहुवीजा ५ बैंगन ६ अथाना–मुरब्बा ७ पीपल ८ बड़ फल ९ उमर १० कठूमर ११ पाकरफल १२ अजानफल १३ कंदमूल १४ मांटी १५ विष १६ मांस १७ शहद १८ मक्खन १९ शराब २० अति सूक्ष्म फल २१ बर्फ और

२२ चलितरस ये बाईस अभक्ष्य जिन मत में माने गये हैं।

(१) ओला—वर्षा में जो ओले बरसते हैं वे अभक्ष्य हैं, उन्हें खाने के काम में नहीं लेने चाहिए। वे अनन्त काय रूप जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं, उनके भक्षण से अनन्त जीवों की हिंसा होती है।

(२) घोरवड़ा—इसका कथन आगे भोजन मर्यादा में करेंगे।

(३) निशिभोजन—इसका कथन पहले कर आये हैं।

(४) बहुबीजा—जिन फलों में खड़ी धारी तो हो और आड़ी धारी न हो वे बहुबीजा कहलाते हैं। जैसे पोस्त, अरण्ड ककड़ी (हजार ककड़ी) बिलकुल छोटे केले तथा बहुत बड़े केले, जिनमें काली धारी होती है, कटहली (सत्यानाशी) इत्यादि फल बहुबीजा हैं। कहा भी है—

अंड पपीता केला पोस्त, इन सबको कर त्याग उद्योत।
जिन बहु बीजों के घर नाहिं ते सब बहु बीजा कहलाहिं ॥ १ ॥

अर्थ—अंड पपीता, कोकोई केला अफीम के दाने को बहुबीजा कहते हैं। जिनके दाने तो अनेक हों और घर एक हों वे बहु बीजे कहलाते हैं।

(५) बैंगन—इसको कहीं २ भट्टा, और बटाटे, बैंगन, एवं रींगने आदि नाम से कहते हैं। इनमें प्रत्यक्ष में दो इन्द्रिय जीव चलते फिरते देखे जाते हैं। इसलिये ये त्याज्य हैं। सारांश यह है कि इनके भक्षण से बहुत जीवों की हिंसा होती है।

(६) संधान—इसको आचार, अथाना और मुरब्बा कहते हैं। यह आम, निम्बू, मिरची, आंवला, करोंदा, कमरख आदि का नमक, मिरची, हल्दी, जीरा, कलोंजी, तेल आदि डाल कर बनाया जाता है। इसकी मर्यादा चार प्रहर की है। कोई २ आचार्य आठ प्रहर की मर्यादा बताते हैं। उसके उपरान्त अभक्ष्य हैं।

(७–११) पंच उदुम्बर—बड़, पीपल, उम्बर, कठूम्बर, और पाकर फल ये पांच उदुम्बर कहलाते हैं, इनका पहले अष्ट मूल गुणों में वर्णन कर आये हैं।

(१२) अजानफल—जिन फलों को स्वयं न जाने वे फल अभक्ष्य हैं।

(१३) कन्दमूल—ये जमीन के अन्दर रहते हैं इनके ऊपर सूर्य की घाम नहीं पड़ती, अतः इन पदार्थों की तामसी वृत्ति हो जाती है। दूसरे ये पदार्थ अनन्त काय हैं जैसे आलू, रतालू, अरबी, घुइयां, शकर कन्द, हल्दी, अदरख, गाजर, मूली आदि अनेक हैं। इनमें अदरख से बनी हुई सौंठ, कच्ची हल्दी से बनी हुई पक्की हल्दी, और मूंगफली ये तीनों चीजें काष्ठादिक बतलाई गई हैं। न कि जमीकन्द। इनके भक्षण करने से अनन्त काय का दूषण नहीं लगता है। कन्दमूल का भक्षण सर्वथा त्याज्य है, इसके भक्षण से बहुत से भयङ्कर रोग भी हो जाते हैं।

(१४) मिट्टी—यह पृथ्वी काय अनन्त काय रूप सचित्त अनन्त जीवों का पिण्ड है, इसको काम में लेने से अनन्त जीवों की हिंसा होती है, इसके सम्बन्ध से त्रस काय रूप जीवों की भी हिंसा हो जाती है। इस कारण इसे अभक्ष्य माना है।

(१५) विष—यह अपने नाम से ही प्रसिद्ध है। संखिया, विष हालाहल आदि इसही के प्रकार एवं नाम हैं। इसके भक्षण से प्राणी के आर्तरौद्र परिणाम होकर प्राण निकल जाते हैं और दुष्परिणाम के कारण उसको नरक में जाना पड़ता है। कदाचित् विष भक्षण करने वाला यदि जीवित भी रह जावे तो राज दण्ड पाता है। इससे इसको त्याग देना चाहिये।

(१६) आमिष—मांस, इसका कथन मूल गुणों में तथा सप्तव्यसन में कर चुके हैं।

(१७) मधु—शहद इसका वर्णन भी अष्ट मूल गुणों में किया जा चुका है।

(१८) मक्खन—इसका कथन आगे भोजन कथन प्रकरण में करेंगे।

(१९) मदिरा इसका कथन भी अष्ट मूल गुण तथा सप्तव्यसन प्रकरण से जान लेना चाहिये।

(२०) तुच्छ फल—तुच्छ फल उसको कहते हैं, जो फल अपक्व अवस्था में हो। जिसमें धारी, रेखा, कद, सिरि, संधि पैदा नहीं हुए हों उसको तुच्छ फल–तथा अनन्त कायिक भी कहते हैं। इसके तोड़ने पर इसमें तन्तु नहीं लगे रहते ज्यों ही चाकू से तोड़ते हैं त्यों ही टूट जाता है। जो अभी पूरा बढ़ नहीं पाया हो जैसे आम की अमियां (केरी) में जब तक जाली नहीं पड़ी हो तब तक वह तुच्छ फल है सामान्यतया सिद्धान्तों में इसका ऐसा ही स्वरूप कहा है।

(२१) तुषार—जब शीत काल (सरदी का समय) आता है एवं शीत अधिक पड़ता है, तब जल से भरी हुई तलैया भी

जम जाती हैं, बर्तन में भरा जल भी जम जाया करता है उसे ही तुषार कहते हैं। इसके अतिरिक्त शीत काल में रात्रि में ओस पड़ती है। और शीत काल में भी गर्मी के ओलों के समान अर्थात् छोटे २ बर्फ के कण रात्रि को बरसते हैं, उनको भी तुषार कहते हैं, गर्मी में बरसने वाले ओले कहलाते हैं, और सर्दी के कण तुषार कहलाते हैं। ये अभक्ष्य हैं इसमें अनन्त जीव राशि रहती है।

(२२) चलितरस—जो पदार्थ मर्यादा से एक समय भी उपरान्त है, वह चलित रस है, चाहे उसके स्वाद की विकृति का रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो या न हो। चलित रस मर्यादा उपरान्त होता है। जिस पदार्थ की जितनी मर्यादा है उतने समय से पहले वह चलित रस नहीं है। क्योंकि मर्यादा के उपरान्त ही जीवों की उत्पत्ति होती है। मर्यादा के उपरान्त उसमें जीव पैदा हो २ कर मरते हैं अतः वह चलित रस है। इस प्रकार के मर्यादा से बाहर के पदार्थों के भक्षण करने के लिये आयुर्वेदज्ञों ने भी निषेध किया है। तथा ऐसे मर्यादा बाह्य पदार्थों के भक्षण से असाध्य रोगों की उत्पत्ति मानी है। मर्यादा के बाहर चलित रस हुए पदार्थों के खाने से अनेक जीवों का घात होता है और उससे जो पाप बन्ध होता है उससे नरक निगोद में जाकर घोर दुःख उठाने पड़ते हैं। अतः चलित रस पदार्थ कदापि भक्षण नहीं करने चाहिये।

इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में २२ अभक्ष्य माने हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी ये बाईस अभक्ष्य माने गये हैं किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे २२ ही नहीं; इनके सदृश अन्य भी बहुत अभक्ष्य से माने हैं। विस्तार भय से उनका वर्णन यहां नहीं किया गया है। सो जानना।

जैसा कि पहले कहा गया है समन्तभद्र स्वामी ने जो भोग परिसंख्यान के पांच निम्न लिखित भेद बताये हैं वे अभक्ष्य पदार्थ के भी प्रकार हैं। वे ये हैं १ अल्प फल बहु विघात २ प्रमाद ३ त्रसघात ४ अनिष्ट ५ और अनुपसेव्य। इनका संक्षिप्त स्वरूप पहले दिया ही गया है।

पाक्षिक श्रावक के अन्य कर्त्तव्य

ऋतु मती स्त्री

अब पाक्षिक श्रावक के कुछ अन्य कर्तव्यों का भी यहां दिग्दर्शन कराते हैं। उनमें स्त्रियों के मासिक धर्म का विवेचन करते हैं।

ऋतु, रज, पुष्प ये ऋतु के ही वाचक शब्द हैं। स्त्रियों के यह ऋतु-रज स्राव दो तरह से होता है। एक स्वाभाविक दूसरा रोगादिक विकार से। स्त्रियों के स्वाभाविक ऋतु-रज (खून) का निकलना महीने २ पीछे हुआ करता है। और किसी गरम वस्तु के खा लेने से, अथवा किसी रोगादिक के हो जाने से जो महीने के भीतर ही रज स्राव होने लगे उसे विकृत या विकार जन्य कहते हैं। तरुण अवस्था के प्राप्त होने पर प्रतिमास गर्भाशय से रज स्राव होने का नाम मासिक धर्म-या रजोदर्शन है। ऐसी अवस्था में स्त्री की पुष्पवती संज्ञा होती है। यही गर्भ-धारण की योग्यता है। मासिक धर्म होने से स्त्री स्वस्थ और नीरोगी रहती है। जिन स्त्रियों के यथा समय मासिक धर्म

नहीं होता वे बीमार रहती हैं। उनकी आंखों आदि पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। ऋतु काल की तीन या चार रात्रियें सर्वथा त्यागने योग्य हैं। कहा भी है—

निशां षोड़शनारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमाः।
तिस्रः सर्वैरपि त्याज्याः प्रोक्तास्तुर्यापि केनचित् ॥ १ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की टिप्पणी]

अर्थ—स्त्रियों का पुष्पकाल, ऋतुकाल, सोलह दिन का माना गया है; अर्थात् १६ दिन तक गर्भाशय का मुख खुला रहता है। उनमें से प्रारंभ से तीन रात्रि अर्थात् (रजस्वला का समय) शास्त्रकारों ने त्याज्य बताया है अर्थात् उन दिनों में स्त्री से संसर्ग करने का निषेध कियागया है।

भावार्थ—जिस दिन से स्त्री को रजो दर्शन होता है। उस समय से लेकर सोलह रात्रितक गर्भ धारण हो सकता है। जिस में प्रारंभ की तीन रात्रियों में स्त्री से संसर्ग करने का निषेध है। शेष तेरह रात्रियों में गर्भ धारण होजावे तो होजाय अन्यथा फिर नहीं होता अर्थात् १६ सोलह रात्रि पश्चात् गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है। जीव उस गर्भ में यातो उसी समय आजाता है यदि उस समय न आवे तो गर्भ काल के मध्य मे या अन्त तक आसकता है। वह समय शास्त्र कारों ने दश दिन का माना है। इस अवधि में जीव गर्भ में न आवे तो दशदिन पश्चात् वह गर्भ ठहर नहीं सकता, पात हो जावेगा—ऐसानियम है।

मासिक धर्म के समय स्त्रियों का कर्त्तव्य

अब स्त्रियों को मासिक धर्म के समय के कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराते हैं—

स्त्रियों को मासिक धर्म के दिनों में तीन रात्रि तक एकान्त स्थान में रहना चाहिये। जहां पर किसी अन्य पुरुष का आगमन न होवे। किसी पुरुष या स्त्री से स्पर्श न करे। तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पालन करे मौन धारण करे। देव चर्चा तथा धर्मचर्चा भी उच्चस्वर से न करे। गोरस-दूध दही न खावे। अंजन न लगावे। उबटन न करे, गले में माला न पहिने। चन्दनादिक न लगावे। अलंकार न पहिने। देव, गुरु और राजा का दर्शन भी दूर से करे। अपना मुख दर्पण में न देखे। किसी कुदेव को न देखे। अपना मुख न दूसरे को दिखावे न अन्य काही स्वयं मुख देखे। सौने बैठने के कपड़े, बिछौना और उपकरण आदि तथा भोजन के पात्र वगैरह अलग होने चाहिये। भोजन के पात्र तांबे के या पीतल के होने चाहिये। अन्यथा पत्तल में जीमे या मृत्तिका के पात्र मे भोजन कर उन पात्रों को तुरत फेंक देवे। पीतल और तांबे के

पात्रों को पीछे अग्नि में संतप्तकर शुद्ध कर लेवे। अग्नि से इतने तपावे कि उन पात्रों का सुर्ख वर्ण हो जावे। इन दिनों में किसी स्त्री या पुरुष का मुख भी नहीं देखना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से दूषण लगता है। इस समय के लिये शास्त्रकारों ने कहा कि केमरे में जैसा अक्स पड़ता है, वैसा ही फोटो उतर जाता है उसी तरह मासिक धर्म में स्त्री जिस पुरुष या स्त्री का मुख देखेगी उसी प्रकार की उसके सन्तान पैदा होगी। अतः अन्य के मुख देखने का निषेध किया गया है। मासिक धर्म के समय तीन रात्रि तक अशोच पालना चाहिये। इन तीन दिनों में स्त्री का भोजन बनाना, झाड़ू बुहारी देना, लीपना, पोतना, बर्तन मांजना, कपड़े धोना, पीसना, कूटना, पानी भरना, आदि गृहस्थोचित कार्य नहीं करना चाहिये। चौथे दिन चौथा स्नान कर प्रथम ही अपने पति का मुख देखे। पीछे दूसरा कार्य करे। यदि पति घर पर न हो, तो दर्पण में अपनाही मुख देख लेवे। पांचवे दिन स्नान कर जिनेन्द्र दर्शन कर वा पूजन कर, फिर गृहस्थी के कार्य (भोजन बनाना आदि) करने चाहिये।

किन्हीं स्त्रियों के इन दिनों के सिवाय भी रज स्राव (खून का निकलना) होता रहता है वह बीमारी है। यदि इस प्रकार का विकृत रजस्राव १७ दिन के पहले किसी स्त्रीको होजाय तो १ दिन में शुद्धि होती है और १८ दिन के पश्चात् होवे तो अशौच पूरा पालना चाहिये। इस समय हृदय में पंचनमस्कार मन्त्र का ध्यान करना चाहिये। इन दिनों ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचर्य के भंग करने से नाना प्रकार की व्याधियां (रोग) हो जाती हैं। जिनसे दम्पती (स्त्री और पुरुष दोनों ही) कष्ट में पड जाते हैं। मासिक धर्म के समय, स्त्री के शरीर के परमाणु बिल्कुल अपवित्र दूषित हो जाते हैं। इस का दूसरे पदार्थों पर बड़ा भयङ्कर प्रभाव पड़ता है। जैसे पापड़ या बड़ी आदि चीजे. यदि रजस्वला स्त्री देखलेवे तो उनका रंग बदल जाता है और स्वाद भी बदल जाता है।

रजस्वला स्त्री के दृष्टि गोचर होने से प्रथम यदि आँखे कुछ खराब हों तो उसके देखने पर विशेष खराब हो जाती हैं। मोती झरे और शीतला के रोगी को रजस्वला स्त्री से दूर रखना चाहिये। अन्यथा उक्त रोग इस के सम्पर्क से बिगड़ जाते हैं। यह बात सर्वविदित है। जिस के ऊपर रजोदर्शन का प्रभाव पड़ चुका है वह मलिन होने के कारण व्रत और चारित्र में शिथिल हो जाती है। और व्रतों में शिथिलता आजाने से अनेक प्रकार के दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। उनसे महा पाप का बन्ध होता है। और उस पाप बन्ध से दुर्गति के भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

मासिक धर्म के समय तीन रात्रि पर्यन्त अशौच का पालन करे, उस समय शक्ति हो तो उपवास या एकाशन या रस का परित्याग करे। चौथे दिन स्नान करने पर शुद्ध हो जाती है। उस समय मन में जप करे।

इन दिनों में गाना नहीं गावे, रोदन नहीं करे, झाड़ना बुहारना आदि लौकिक कार्य भी नहीं करे। अपनी बुद्धि से धार्मिक कार्य में करने योग्य न करने योग्य विचार कर करे। अपनी जाति एवं पद के अनुकूल गुरु के पास जाकर, सरल परिणामों से युक्त होकर, प्रायश्चित्त लेवे

और गुरु बताये वैसा उसका साधन रूप कार्य करे भूले नहीं।

प्रश्न—मासिक धर्म के समय स्त्रियों के शारीरिक परमाणुओं में ऐसी कौन सी विकृति आजाती है जिससे उस काल में लौकिक एवं धार्मिक कार्य करने के लिये शास्त्रकारों ने हेय तथा उपादेय विचार पूर्वक कार्य करना कहा है जिससे लौकिक प्रवृति नहीं बिगड़े।

उत्तर—ऋषियों का कहना है कि निमित्त कारण के योग से परमाणुओं में विकृति आजाती है। जैसे सूर्य का निमित्त पाकर परमाणु तप जाते हैं और वे ही परमाणु चन्द्र का निमित्त पाकर शीतल हो जाते हैं। सांप की बामी के पास की औषधियां क्यों दवाई में नहीं ली जाती। क्योंकि उन में सर्प की बामी के कारण विषका प्रभाव पड़ चुका है। इसी प्रकार रजस्वला स्त्री के परमाणु भी काल आदि के निमित्त को पाकर ऐसे विकृत होते हैं, जिससे कि उस धार्मिक एवं लौकिक क्रियायें सिद्धान्तानुकूल करना कहा है। इसलिये स्त्रियों को चाहिये कि इन दिनों में अपना आचरण ठीक रखें। ताकि स्वस्थ नीरोगी रहकर ऐसी सन्तान को उत्पन्न करें जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ के पालने के योग्य हो।

रजस्वला स्त्री के लिये शास्त्रों के ज्ञाताओं ने निम्न प्रकार संज्ञायें देकर अशुचिता का निर्देश किया है—

"प्रथमेऽह्नि तु चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽह्नि हि शुद्ध्यति॥

अर्थ—स्त्री जिस दिन रजस्वला होती है उस दिन वह चाण्डालिनी के सदृश अपवित्र मानी गई है। दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी हत्यारी के समान कही है। पापी के समान अपवित्र है। और तीसरे दिन धोबिन के समान अस्पृश्य है। और चौथे दिन शुद्ध होती है। चौथे दिन की शुद्धि का कथन आर्यिका या व्रती श्राविकाओं के लिये है, गृहस्थ स्त्रियों को चाहिये कि वे अपने गृह का कार्य पांचवे दिन ही करें। जो इस का पालन नहीं करते वे हीन कुली हैं। अतः इसका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य है।

निर्बल और बलवान भेद से निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। निर्बल कारण के संयोग होने पर कार्य होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु बलवान कारण के होने पर तो कार्य हो ही जाता है। उदाहरणार्थ आयु कर्म बलवान् निमित्त कारण तथा गतिनाम कर्म दुर्बल कारण है। जैसे किसी मनुष्य ने बध्यमान (भविष्य की) देवायु का बन्ध कर लिया है तो वह देव पर्याय में उत्पन्न होकर देवगति नामा नाम कर्म का अनुभव करेगा। आयु कर्म टल नहीं सकता। अगर उसने पहले देवायु कर्म का बन्ध नहीं किया तो वह कदापि देवायु के बिना देव पर्याय में उत्पन्न नहीं हो सकता। चाहे उसने देवगति का बंध ही क्यों न कर लिया हो क्योंकि गति नाम कर्म की प्रकृति बलवान कारण

नहीं है। आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों का बन्ध हर समय होता है। और गति यह नाम कर्म का भेद है। इसलिये चारों गतियों का बन्ध सदा होता ही रहता है। किन्तु भविष्य की आयु का त्रिभाग में जो बन्ध किया होगा, आयु के साथ वही गति रह जायगी। बाकी गतियां छूट जायगी। इसलिये गति बलवान कारण नहीं है।

उसी प्रकार रजस्वला स्त्री रूप बलवान कारण के निमित्त से विकृत भाव तो हो ही जाते हैं। इसलिये रजस्वला स्त्री बहुत सावधानी से रहे। वह लौकिक एवं धार्मिक कार्य करने के लिये विवेक पूर्वक शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चले, रजोदर्शन काल में कोई भी लौकिक (रसोई बनाना आदि) एवं धार्मिक कार्य पूजनादिक न करे ऐसी शास्त्र आज्ञा है।

शुभा-शुभ कर्म बंध हमारे भावों से होता है। उसका कारण उपादान निमित्त है इसीलिए यहां निमित पर जोर दिया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा हैः—

"जो खलुसंसारत्थो जीवो त्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदि सुगदि ॥ १२८॥
गदिमधिगदस्सदेहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
ते हिं दु विसयगहणं तत्तारागोय दोसो वा ॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेव भावो संसारचक्क कालमि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥ १३० ॥ [पंचास्तिकाय]

अर्थ—निश्चय कर संसारी जीवों के परिणाम कारण के मिलने पर उसी रूप परिणमन को प्राप्त हो जाते हैं। और शुभ और अशुभ परिणामों के कारण से अच्छे और बुरे कर्मो का आस्रव करता है। तदनुसार सुगति अच्छी गति, दुर्गति-खोटी गतिका बन्ध करता है

उस गति से इसके शरीर उत्पन्न होता है। शरीर से इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियां अपने स्वभाव के अनुसार विषयों को ग्रहण करती है। इससे आत्मा में राग द्वेष उत्पन्न होते हैं। जब तक यह जीव रागद्वेष से युक्त रहता है, तब तक चतुर्गति रूप संसार में कष्ट उठाता है इसलिये निमित्त कारणों को जिन के द्वारा यह प्राणी सांसारिक दुःख उठाता है हटाना चाहिये—१२८-१३०

क्योंकि निकृष्ट पंचम काल में उत्तम कुल, उत्तम शरीर, उत्तम धर्म, निरोगी शरीर, आदि साधनों की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अतः स्त्रियों को मासिक धर्म के समय अशौच का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

सौर, सूतक पातक का विवेचन

जन्म सम्बन्धी अशौच को सौर कहते हैं, वह तीन प्रकार का है। स्राव सम्बन्धी, पात सम्बन्धी और जन्म सम्बन्धी।

तीसरे और चौथे महिने तक के गर्भ गिरजाने को स्राव कहते हैं।

और पाचवे या छठे महीने तक गर्भ गिर जाने को 'पात' कहते हैं।

सातवें, आठवें, नौवें, या दशवें महीने में जो प्रसूति होती है, उसे जन्म संबन्धी अशौच कहते हैं।

गर्भस्राव सम्बन्धी अशौच (सूतक) यदि स्राव ३ रे महीने में हो तो माता को तीन दिन का, यदि चौथे महीने में हो तो चार दिन का मानना चाहिये। पिता और कुटुम्बी जन केवल स्नान कर लेने से ही शुद्ध हो जाते हैं,उन्हें ३ या ४ दिन का अशौच-सूतक नहीं होता।

गर्भ पात का सूतक माता को, यदि पात पांचवें महीने में हो तो पांच दिन का, यदि छठे महीने में पात हो तो ६ दिन का अशौच सूतक माना है। पिता और कुटुम्बी जनों को एक दिन का सूतक मानना कहा है।

यदि प्रसूति हो, तो माता पिता और कुटुम्बी जनों को दश दिन का सूतक होता है। यही सूतक क्षत्रियों को बारह दिन का और शूद्र को १५ दिन का मानना चाहिये।

यदि पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो माता को दश दिन का तो ऐसा सूतक लगता है जिससे दश दिन तक उसका कोई मुख न देख सके। इसके सिवाय ३५ दिन का अनधिकार सूतक उसे लगा करता है। अनधिकार सूतक में भी उसे देव पूजा, शास्त्र स्वाध्याय, कुटुम्ब के वास्ते भोजन आदि बनाने का अधिकार नहीं है, यदि कन्या हुई हो तो भी उक्त प्रकार जन्म सम्बन्धी अशौच डेढ माह तक मानना चाहिये।

प्रश्न—सौर-सूतक-पातक के समय पर गृहस्थों को भगवान की पूजन प्रक्षाल करने का अधिकार है या नहीं?

उत्तर—यह बात परम्परा पर आश्रित है। जहां जैसी परम्परा हो वहां उसका वैसा ही पालन करना चाहिए। इन परम्पराओं को

तोड़ने से कोई लाभ भी नहीं है। फिर भी यह बात जरूर है कि द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा इन में परिवर्तन होता रहता है। इस विषय में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देखिए।

जिस समय राजा भरत राज सभा में बैठे थे, उस समय एक द्वारपाल ने आकर कहा कि महाराज के पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है।

दूसरे द्वार पाल ने आकर कहा कि आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।

तीसरे आदमी ने आकर कहा कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभ देवको त्रैलोक्यवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है ऐसा केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है।

ये तीनों खबरें भरतजी के पास राज सभा में बैठे ही बैठे आगई। अत: उन्होंने प्रथम ही समव सरण में आकर भगवान् आदिनाथ तीर्थङ्करके केवल ज्ञान कल्याणक की पूजन की। पश्चात आकर चक्र रत्न की पूजन की (सो भी अरहन्त भगवान् की) तत्पश्चात् पुत्र रत्न का उत्सव किया।

कहने का तात्पर्य यह निकला कि राजाओं को सूतक पातक आदि नहीं होते हैं। यदि होते तो समवसरण में जाकर भगवान की पूजा कैसे करते ? यदि अनुचित होता, तो दिव्यध्वनि से या गणधरों के द्वारा उसका उसी समय निषेध हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। ऐसा कथन प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में कई जगह है। ऐसा भी लिखा है कि जिनदत्त राज सेठ के यहां जब पुत्र–रत्न की प्राप्ति हुई तब उन्होने चैत्यालय में शोभा कराई, देवाधिदेव का अभिषेक तथा पूजन कराया। ऐसा कथन आदिपुराण में भी है।

सौर तथा सूतक के अन्य उदाहरण

अवंति देश में उज्जैनी नगरी में राजा वृषभांक के राज में सुरेन्द्रदत्त नामा सेठ ताके यशोभद्रा सेठानी थी। जब इस सेठानी के पुत्र उत्पत्ति भई तब इस सेठानी ने जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर विषै पूजन प्रभावना खूब कराई।

उल्लिखित कथन सुकुमाल चरित्र के सप्तमाध्याय का है। पद्म पुराण, विमल पुराण, संभव पुराण, और मुनिसुव्रत पुराण तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे लेख हैं। जैसे सेठ अरहदास के पुत्रोत्पत्ति के समय भगवान जिनेन्द्र के मन्दिरजी में पूजन कराई और उत्सव कराया।

आज कल भी देखा जाता है कि जब किसी गृहस्थ के घर में कोई पुरुष या स्त्री मर जाती है तब लोग तीसरे दिन श्री

मन्दिरजी में उठावना लेकर जाते हैं। और पंचों की साक्षी से गृहस्थ अपने घर से कोई द्रव्य लेजा कर श्री मन्दिरजी में चढाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जन्म के सौर में भगवान की पूजा करना लिखा ही है और मरण के सूतक में द्रव्य चढ़ाना प्रत्यक्ष में है ही।

प्रश्न—तो आज कल द्रव्य चढ़ाने को क्यो रोका जाता है ?

उत्तर—इस दिगम्बर सम्प्रदाय में भी ऐसा हुआ कि विक्रम की १३वीं शताब्दी से भट्टारक मार्ग चला। तब इनको पण्डित रखने की तथा शिष्य बनाने की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए तब इनको किसी ब्राह्मण का लड़का मिला उसको इन्होंने पण्डित या भट्टारक बना लिया। पश्चात् उसके जो भाव थे उसके अनुकूल ग्रन्थ बनाकर या बनवाकर ऐसा कथन कर दिया और जनता में इस बात की भावना उपदेश देदेकर भरदी कि सौर सूतक मे द्रव्य मत चढ़ाओ आर भगवान की आरती गोमय सरसों, आदि द्रव्यों से करो तथा प्रतिमा की शुद्धि में गो मूत्र डालो, श्राद्ध करो, तर्पण करो, आचमन करो, केशर पुष्प चढ़ाओ, भगवान के गले में माला तथा सिर पर पुष्पों का मुकुट लगाओ। दुग्ध के कुण्ड में भगवान को रात भर रखो। भगवान को भी आचमन कराओ। क्षेत्रपाल, पद्मावती, चंडी मुंडी यक्ष, राक्षस आदि की पाक्षिक श्रावक आराधना कर सकता है। ग्रहण, सोमवती, अमावस्या, व्यतिपात में ब्राह्मणों को दान करो। कहां तक कहा जावे जो कुछ इन्होंने करना चाहा वह,कथा जैन धर्म के कुल में या ग्रन्थों में सब बातें भरदी। इनको कोई रोकने वाला नहीं मिला, क्योंकि यह जादू मंत्र तन्त्र यंत्र करते थे सो लोगों को इनका डर लगता था। इस वास्ते जैनियों के यहां भी ये सब बातें चल पड़ी। वास्तव में यह जैन धर्म के अनुकूल नहीं हैं।

अब इस समय की मान्यता के अनुसार सौर का वर्णन करते हैं—

"सूतकं वृद्धिहानिभ्यां दिनानि दश द्वादश ।

प्रसूतिस्थानमासैकं स्नानमात्रं च गोत्रिणाम् ॥ १ ॥"

अर्थ—सौरि सूतक वृद्धि हानि युक्त होता है। वह दस दिन तथा बारह दिन का होता है। अर्थात् सौर तो दश दिन का तथा मरण बारह दिन का होता हैं। प्रसूति स्थान की पवित्रता एक मास से होती है, गोत्री जनों की शुद्धि एक दिन के बाद हो जाती है। अन्य स्थानों में जो गोत्री लोगों को पांच दिन का सूतक कहा है सो सिद्धान्तों से बनता ही नहीं है। अतः एक दिन का समझना चाहिये। क्योंकि गोत्र तो बड़ा होता है। अतः यह कथन योग्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पीढ़ियों में तो दश पीढ़ी तक ही सौर सूतक बतलाया गया है।

प्रसूता स्त्री डेढ माह के बाद जिनेन्द्र देव का पूजन, दर्शन, स्वाध्याय, पात्र दान आदि के योग्य होती है। सौरि का दोष ११वें

दिन तथा मरण का १२वें दिन शुद्ध होता है। कहा भी है—

"यदिगर्भविपत्तिः स्यात् स्रवणं चापि योषिताम् ।
यावन्मासास्थितो गर्भस्तावद्दिनानि सूतकम् ॥ २ ॥"

अर्थ—जितने माह का गर्भ पात हुआ हो, उतने ही दिन का सौर मानना चाहिये। यदि गर्भ एक माह के पूर्व गिर जावे तो भी सौर एक दिन का मानना चाहिये। पूर्ण सौर दश दिन का होता है। और भी कहा है—

"अश्वी च महिषी चेटी गौः प्रसूता गृहाङ्गणे ।
सूतकं दिनमेकं स्यात् गृहबाह्ये न सूतकम् ॥
दासीदासस्तथा कन्या जायते म्रियते यदि ।
त्रिरात्रं सूतकं ज्ञेयं गृहमध्ये तु दूषणम् ॥ ४ ॥"

अर्थ—घोड़ी, भैंस, दासी और गाय, जो घर के आंगन में ब्यावे तो एक दिन का सौर मानो और घर के बाहर ब्याहने में सौर नहीं होता।

जो घर दासी दास (जैसे राजा लोगों को दहेज में दासी दास दिये जाते हैं) तथा कन्या की प्रसूति होवे या मरण हो, तो तीन रात्रि का सूतक होता है। सो भी घर हो तो मानना चाहिये अन्यथा नहीं। और भी कहा है—

कुटुम्बिनां सूतके जाते गते द्वादशके दिने ।
जिनाभिषेकपूजाभ्यां पात्रदानेन शुद्धयति ॥ १ ॥

अर्थ—कुटुम्बी जनों के सूतक की शुद्धि बारह दिन बाद होती है। उसके बाद भगवान का अभिषेक पूजन तथा पात्र दान कर सकता है।

भावार्थ—तीनपीढ़ी तक जन्म का तथा मरण का सौरि सूतक दश दिन तथा बारह दिन का होता है। अतः इन दिनों के बाद जिन बिम्ब का अभिषेक पूजन तथा पात्र दान कर सकता है। और भी कहा है—

चतुर्थे दशरात्रिः स्यात् षट् रात्रिः पुंसि पंचमे ।
षष्ठे चतुरहः शुद्धिः सप्तमे च दिनत्रयम् ॥ १ ॥
अष्टमे पुंस्यहो रात्रं नवमे प्रहरद्वयम् ।
दशमे स्नानमात्रं स्यादेतत् गोत्रस्य सूतकम् ॥ २ ॥

अर्थ—सौर सूतक तीन पीढ़ी तक तो ऊपर कह दिया । अब रहा मरण का सूतक सो चौथी पीढ़ी में १० दिन, पांचवीं में ६ दिन छठी पीढ़ी में ४ दिन सातवीं में ३ दिन, आठवीं में एक दिन रात, नवमी में दो प्रहर, और दशमी पीढ़ी में स्नान मात्र से शुद्धि होती है ।

तीन दिन के बच्चे की मृत्यु का सूतक १ दिन, चौथे दिन से लगा कर ८ वर्ष पर्यन्त मृत्यु का सूतक ३ दिन का होता है । उसके बाद का सूतक पूरा १२ दिन का होता है ।

सूतक की विशेषता

प्रव्रजिते मृते बाले देशान्तरमृते रखे ।
सन्यासे मरणे चैव दिनैकं सूतकं भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—अपने कुल में से जिसने मुनिव्रत, या उत्कृष्ट श्रावक व्रत, त्यागी का व्रत लिया हो, जिसका देशान्तर में मरण हुआ हो, युद्ध में तथा सन्यास में जिसका मरण हो, तथा तीन दिन के बालक का मरण हो गया हो तो उनका सूतक एक दिन का माना गया है ।

विशेषार्थ—जो अपने घर की स्त्री या पुरुष विदेश में रहते हों उनका मरण हो जाय तो १२ दिन का सूतक, अगर बारह दिन के पहले खबर मिले तो जितने दिन बाकी होवें, उतने दिन का सूतक मानना चाहिये । अगर १२ दिन पूर्ण हो गये हों तो एक दिन का सूतक, अगर चौथी पीढ़ी से लगा कर दशमी पीढ़ी तक का होवे, तो स्नान मात्र से सूतक की शुद्धि होती है ।

पातक का वर्णन

"सतीनां सूतकं हत्या पापं षाण्मासिकं भवेत् ।
अन्यासामात्महत्यानां यथापापं प्रकाशयेत् ॥ १ ॥"

अर्थ—अपघात मरण को ही पातक कहते हैं। जैसे सती का होना, क्रोध के वश से कुए में गिर कर मर जाना, नदी में डूब कर मर जाना, छत पर से गिरना, विष खाना, फांसी लगाना, या शरीर में तेल डाल कर आग लगाना, गर्भपात करना आदि को अपघात कहते हैं। इन कार्यों के करने वाले उपदेशकों को या मदद गारों को६माह तक जिनेन्द्र देव का अभिषेक नहीं करना चाहिए। सभा में बैठ कर शास्त्र बांचना, एवं पठन पाठन करने का व स्वाध्याय करने का निषेध नहीं है। यही बात पूजन के सम्बन्ध में है,दूर से पूजन तो जिनेन्द्र देव की सब कर सकते हैं; चाण्डाल को भी रोक टोक नहीं है। फिर इसके लिये रोक टोक कैसे हो सकती है? शास्त्र में या उपदेश में धर्म कार्यों में इसको रोक टोक नहीं है। *शास्त्रानुकूल प्रायश्चित से ऐसे पापों की शुद्धि होती है।*

भोजन के पदार्थों की मर्यादा

जैन धर्म में आचार शास्त्र के प्रकरण में तीन ऋतुएँ मानी हैं। प्रत्येक ऋतु का प्रारम्भ अष्टाह्निका की पूर्णिमा से होता है। सो चार मास तक रहता है। ये ही पूर्वाचार्यों का सिद्धान्त है।

(१) शीत ऋतु—अगहन (मार्गशीर्ष) बदि १ से फाल्गुण सुदि १५ पूर्णिमा तक होती है।

(२) ग्रीष्म ऋतु—चैत्र कृष्ण १ से आषाढ शुक्ला १५ तक रहती है।

(३) वर्षा ऋतु—श्रावण वदि १ से कार्तिक शुक्ला १५ तक रहती है। इन ऋतुओं के अनुसार आटे वगरह की भिन्न २ मर्यादा होती है।

दूध की मर्यादा

"महिष्याः पाक्षिकं क्षीरं, गोक्षीरं च दशाहितम्।
अष्टमे दिवसेऽजायाः क्षीरं शुद्धं न चान्यथा ॥ १ ॥"

अर्थ—प्रसव के बाद भैंस का दूध १५ दिन, गाय का १० दिन, बकरी का ८ दिन के बाद शुद्ध होता है। इसके पहले अशुद्ध होने के कारण पीने के योग्य नहीं है। इसमें ऋतु के अनुसार मर्यादा की आवश्यकता नहीं है किन्तु गाय, भैंस, और बकरी के थनों को प्रासुक जल से धोकर दूध दुहाना चाहिये। क्योंकि गाय या बकरी अथवा भैंस का बच्चा अपनी माता के थनों को चुंसता है तो उसके थन झूंठे हो जाते हैं। इसलिये उनको प्रासुक जल से धोना आचार शास्त्र की आज्ञा है। दूध दुहने के बाद २ घड़ी ४८ मिनट के भीतर उसे छान कर गर्म कर

लेना चाहिये। अन्यथा वह दूध अभक्ष्य हो जाता है। क्योंकि दो घड़ी के बाद उसमें जिसका वह दूध है उसके आकार के सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय सैनी जीव पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार दूध को खूब गरम करने पर; यहां तक कि उसमें ऊपर थर (सड़ी–मलाई) आजावे; उस दूध की मर्यादा ८ प्रहर की है। तथा कम गरम किये हुए दूध की मर्यादा चार प्रहर की है। कभी२ आठ प्रहर की मर्यादा का दूध भी चार प्रहर में बिगड़ जाता है। अतः यत्न पूर्वक कार्य करना चाहिये। ऐसे अवसर पर चलित हो जाने के पूर्व उसे उपयोग में ले लेना चाहिये। सब काम अपनी देख रेख में करना चाहिये। कहा भी है—

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥ १ ॥ [यशस्तिलक ७ आश्वास]

अर्थ—घर के कार्य, चक्की पीसना, झाड़ू लगाना, जल भरना, आदि देख भाल कर करने चाहिये। जल दूध और तेल आदि जितने भी द्रव पदार्थ हैं, उनको वस्त्र से छान कर काम में लेना चाहिये।

एक अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी) की मर्यादा

नमक की मर्यादा

नमक कई प्रकार का होता है। जैसे सांभरा नमक, सैंधा नमक आदि। सांभर का नमक अभक्ष्य है। क्योंकि यह बिना छने जल का उपयोग कर जमाया जाता है। इस कारण इसमें त्रस राशि का कलेवर रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें और भी अनेक दोष हैं। जो वस्तु जीव या अजीव, पवित्र या अपवित्र, हड्डी आदि इसमें गिर जाती है वह सब नमक रूप परिणत हो जाती हैं। दूसरे जब तालाब में खांचि बनाते हैं तब उसमें हड्डी गाढते हैं। जिससे खारा पन अधिक होता है। कहां तक कहें यह सांभर का बिना छने जल से बनाया गया नमक तो श्रावक के खाने योग्य नहीं ही है। श्रावकों के खाने योग्य नमक सैंधा लाहौरी है। क्योंकि यह पत्थर की तरह पहाड़ से निकाला जाता है। अर्थात् इसको खोद कर निकालते हैं। इसमें त्रस राशि का कलेवर मिश्रित नहीं है। इसी कारण श्रावकों के खाने योग्य सैंधा नमक ही है।

पीसने के बाद एक मुहूर्त ४८ मिनट तक नमक की मर्यादा है। इसके बाद अपने हाथ का पिसा हुआ भी अभक्ष्य है। क्योंकि मर्यादा के बाद उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होना शुरू हो जाता है। यह भगवान तीर्थंकर प्रभु ने अपने केवल ज्ञान चक्षु से स्पष्ट देखा है, जो कि ध्रुव सत्य है। इसमें सन्देह को जरा भी स्थान नहीं है।

यदि नमक लाल मिर्च तथा काली मिर्च के साथ पीस लिया जावे तो उसकी मर्यादा ६ घंटे की हो जाती है। इससे आगे नहीं रख सकते, न मर्यादा उपरान्त खा सकते हैं। जल के समान ही इस नमक की मर्यादा है किन्तु जल तो दो घड़ी के बाद अनछना हो जाता है। तथापि उसे फिर छान कर पी सकते हैं या काम में ला सकते हैं; किन्तु नमक की मर्यादा बीत जाने पर उसके उपरान्त उसे पुनः २ काम में नहीं ला सकते।

नमक छहों रसों में शामिल है। तथापि इसको रात्रि में खाने का निषेध किया है। नमक अप्रासुक भी है। कहा भी है—

हरितांकुरबीजांबुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥ ८ ॥ [सागार धर्मामृत सप्तमाध्याय]

इसमें पं आशाधरजी ने नमक को अप्रासुक बतलाया है और पांचवी प्रतिमा धारी के लिए उसे त्याज्य बतलाया है।

नवनीत की अभक्ष्यता

दही को बिलो कर जो छाछ में से घी निकाला जाता है वह जब तक अग्नि से तपाया नहीं जावे तब तक लूणिया कहलाता है। यह लूणिया उत्पति में अभक्ष्य नहीं है। क्योंकि यदि अभक्ष्य ही होता तो आठ मूल गुणों में अन्य मद्यादि के एवं उदुम्बरादि के त्याग के साथ इसको भी शामिल किया जाता और अभक्ष्य लूणियां से निकाला हुआ घी भी अभक्ष्य समझा जाता ? कहा भी है—

अन्तर्मुहूर्तात् परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
यत्र मूर्छन्ति नाद्यं तत् नवनीतं विवेकिभिः ॥ १३ ॥ [टिप्पणी सागार धर्मामृत अ. २]

सागार धर्मामृत की टिप्पणी में दिये हुए श्लोक से सिद्ध होता है कि अन्तर्मुहूर्त के पीछे अत्यन्त सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पति हो जाने से वह मर्यादा के बाहर का नवनीत ज्ञानी पुरुषों के खाने योग्य नहीं है। और भी कहा है—

अन्तर्मुहूर्ततो यत्र विचित्राः सत्वसन्ततिः ।
सम्पद्यते न तद्भक्ष्यं नवनीतं विचक्षणैः ॥ २९७ ॥ [उमास्वामि श्रावकाचार]

अर्थ—जिसमें अन्तर्मुहूर्त्त से परे नाना प्रकार के त्रस जीव पैदा हो जाते हैं वह नवनीत धर्मज्ञ पुरुषों को नहीं खाना चाहिये।

जिस तरह छाछ, मट्ठा या दही को बिलोकर उसमें से नवनीत निकाला जाता है, उसी प्रकार कहीं २ पर कच्चे दूध को बिलोकर उसमें से घी निकाला जाता है। परन्तु लोग इसको लूणियां न कहकर मक्खन या माखन कहते हैं। यह भी नवनीत के समान अभक्ष्य ही है। और भी कहा है—

"लूण्यो निकसे तत्काल अवटावे सोदरहाल" ॥ ८१ ॥ [किशनसिंह क्रियाकोष पृष्ठ ७०]

अर्थ—लूणियां को छाछ या दूध में से निकालते ही अग्नि पर धर कर खूब गरम कर लेना (अर्थात् औटा लेना) चाहिये, और घी बना लेना चाहिये। और भी कहा है—

"काचौ माखन अति ही सदोष, भखिया करै सबै शुभ मोख ॥ ४२२ ॥ [पं. दौलतरामजी कृत क्रियाकोष पृ. ६]

अर्थ—कच्चा लूणिया व मक्खन अत्यन्त अभक्ष्य है इसलिये खाने से पुण्य का नाश अर्थात् पाप बन्ध होता है।

यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब लूणिया में अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् जीवोत्पत्ति होती है तो फिर मर्यादा के भीतर लूणिया या मक्खन को खाने का निषेध क्यों किया जाता है ?

इसका उत्तर—यद्यपि मर्यादा के भीतर नवनीत भक्षण में असंख्य त्रस जीवों के घात रूप द्रव्य हिंसा तो बच जाती है परन्तु नवनीत के खाने से विषय सेवन की तीव्र इच्छा होती है। उससे यह भाव हिंसा का प्रबल कारण माना गया है और मन में काम विकारादि उत्पन्न करने के कारण ही इसको मद्यादि के समान चार महा विकृतियों में शामिल किया गया है।

चत्तारि महा विपडि य होंति णवणीदमज्जमंसमधू।

कंखा पसंगदप्पा संजमकारी ओ एदा ओ ॥ १५५ ॥ [मूलाचार वट्टकेर स्वामी]

अर्थ—नोनी घी, मदिरा, मांस, और शहद ये चार महा विकृतियां हैं। ये काम, मद (अभिमान) और हिंसा को उपार्जन कराती हैं। अतः ये श्रावक के त्यागने योग्य ही हैं।

अतः इसको मर्यादा के भीतर ही तपा छान कर ताजे घी के रूप में ही खाना योग्य है। कचा खाना शास्त्राज्ञा के विरुद्ध है। इसकी अन्तर्मुहूर्त की जो मर्यादा है वह घी बनाने के लिये है। खाने के लिये नहीं है।

बहुत से लोग आठ २ दिन तक काचा लूणियां इकट्ठा करते रहते हैं और इकट्ठा तपा कर फिर उस घी को खाते हैं। बाजार में जो घी बिकने के लिये आता है वह तो प्रायः ऐसा ही होता है। मर्यादा के बाहर के लूणियां को तपा कर जो घी निकाला जाता है, वह अभक्ष्य है, और त्यागी श्रावक के खाने योग्य नहीं है। क्योंकि इसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति व मरण होने से सदोष है। अतः त्यागी धर्मात्माओं को ऐसा घी ही खाना चाहिये कि जो मर्यादा के भीतर तपाये हुए लूणिया का हो।

शीत ऋतु में मर्यादा

आटा, बेसन, मसाला, तथा पिसी हुई चीजों की मर्यादा शीत ऋतु में ७ दिन की है। वैसे ही आटा या बेसन में घी तथा खांड डाल कर मगद बना लेने पर उसकी मर्यादा ७ दिन की ही है। बूरा की मर्यादा १ माह की है। इसके बाद वस्तु चलित रस हो जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में

आटा, बेसन, मसाला, तथा पिसी चीजों की मर्यादा ५ दिन, बूरे की १५ दिन, और मगद की ५ दिन की है।

वर्षा ऋतु में

आटा, बेसन, मसाला, आदि पिसी चीजों की मर्यादा ३ दिन तथा बूरे की ७ दिन की है।

दही की मर्यादा

अत्यन्त गर्म किये हुए ८ प्रहर की मर्यादा वाले दूध में, जब से जामन दिया गया है तभी से दही की ८ प्रहर की मर्यादा समझनी चाहिये।

प्रासुक दूध में ही गर्म चांदी का रुपया, नीबू, अमचूर, इमली, छेवले का पत्ता, या दही की मंगोड़ी का जामन देकर दही जमाना चाहिये। मंगोड़ी मर्यादित दही की सुखा कर बनानी चाहिये। उसकी मर्यादा ऋतु के अनुसार ही है। दही की जो ८ प्रहर की

मर्यादा बताई गई है उसी के भीतर दही को बिलो कर घी निकाल लेना चाहिये। या दही को उपयोग में ले लेना चाहिये। अन्यथा अभक्ष्य हो जावेगा। उस लूनी से १ मुहूर्त पहिले घी बना लेना चाहिये। इसे ही मर्यादा का घी कहते हैं।

छाछ की मर्यादा

दही की मर्यादा आठ प्रहर की है, उस मर्यादा के भीतर ही छाछ बना लेनी चाहिये। क्योंकि मर्यादा उपरान्त दही जब अभक्ष्य है तो उसकी बनी हुई छाछ भी अभक्ष्य है। इसलिये मर्यादा वाले दही में भात उकाला जैसा अत्यन्त गर्म जल डाल कर छाछ बनानी चाहिये। फिर उसमें अन्य ठंडे जल का सम्बन्ध यदि न मिलाया जावे, तो उस छाछ की मर्यादा ८ प्रहर की है। और थोड़े गरम किये हुए जल से बनी हुई छाछ की मर्यादा चार पहर की है और यदि उसमें ऊपर से कच्चा जल मिल जावे तो उस छाछ की मर्यादा दो पहर की होती है। और कच्चे छने हुए जल से बनी हुई छाछ की मर्यादा दो पहर की है इसके उपरान्त अभक्ष्य है।

घी की मर्यादा

मर्यादा वाले प्रासुक दूध में मर्यादा का जामन डाल दही जमाया हो उसे मर्यादा के भीतर बिलो कर नैनू (लूनी) निकाल अन्तमुहूर्त में तपा कर घी बना लिया जावे, तो वह घी भक्षण योग्य है। ऐसा घी जब तक चलित रस न हो, तब तक कार्य में लेना चाहिये, अर्थात् उक्त घी जब तक गन्ध न बदले, तब तक कार्य में लेना चाहिये, गन्ध बदलने पर या चलित रस हो जाने पर अभक्ष्य हो जाता है।

तेल की मर्यादा

तिल्ली, रमेली, सरसों, खोपड़ा, मूंगफली, इनको अच्छी तरह से देख भाल-शोध करके, हिन्दू तेली की घानी को प्रासुक जल से धोकर तेल पिलाना चाहिये। यह कार्य सब दिन में होना चाहिये; ताकि जीवों की विराधना न हो। पेलने वाला मनुष्य विश्वस्त होना चाहिये। इस तेल की मर्यादा गन्ध बदलने तक की है। चलित रस या गन्ध बदल जाने पर अभक्ष्य है। होली पीछे तिल्ली नहीं पिलवानी चाहिये। होली पीछे तिल्ली में असंख्याते जीव पैदा हो जाते हैं। अतः वर्जनीय है।

सिंघाड़े की मर्यादा

गीले और सूखे दोनों प्रकार के सिंघाड़ों की मर्यादा फाल्गुण सुदि १५ तक की है, बाद को अभक्ष्य हैं।

साबू दाने की मर्यादा

यह वृक्ष के रस को सुखा कर बनाया जाता है। पर यह ज्ञात नहीं कि यह किस वृक्ष से कैसे बनाया जाता है। अतएव अभक्ष्य जान त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार गोंद भी अभक्ष्य है।

दही में मेवा मिष्टान्न मिलाने की मर्यादा

दही में गुड़ शक्कर मिला कर रखे तो उसकी मर्यादा एक मुहूर्त की है। इसके उपरान्त चलित रस हो जाता है। और चलित रस होने पर भी भक्षण करने से मदिरा (शराब) सेवन का दूषण लगता है।

विशेष रखने से इसमें सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये मर्यादा के उपरान्त इसका भक्षण करने से तीव्र हिंसा का पाप लगता है। कहा भी है—

इक्खुद हिसं जुत्तं भवयंती संमूच्छिमा जीवा।

अंतर मुहुत्त मज्झे तम्हा भखंति जिणणाहो ॥ १ ॥

इसका भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है।

जल की मर्यादा एवं छानने की विधि

शास्त्रकारों ने कुआ, बावड़ी, तालाब, नदी आदि के जल को छान कर उपयोग में लाने के लिये २ घड़ी की मर्यादा बताई है। इसके बाद उसमें त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये उसे फिर से छान कर उपयोग में लाना चाहिये। छना हुआ जल अचित्त नहीं है।

पांचवी प्रतिमा का धारी अचित्त बना कर ही उसका उपयोग कर सकता है। छने हुए जल को गरम न करे तो उसकी दो घड़ी तक की मर्यादा है। सामान्य गर्म जल की मर्यादा चार प्रहर अर्थात् १२ घंटे की है। खूब गर्म भात उकाले जल की मर्यादा आठ प्रहर की है।

जल दूसरे प्रकार से भी प्रासुक होता है। जल के अन्दर तीक्ष्ण द्रव्य हर्र, लौंग, आंवला, इमली, अमचूर आदि को डाल कर छने हुए जल को प्रासुक किया जाता है। परन्तु उक्त द्रव्यों का चूर्ण इतनी मात्रा में डालना चाहिये, ताकि जल का रूप रस गन्ध आदि बदल

जावें। इस प्रकार के प्रासुक जल की मर्यादा ६ घंटे की है। छने हुए जल को प्रासुक मानलेना उचित नहीं है। प्रासुक तो गर्म करने या तिक्त द्रव्यों के मिलाने से ही होता है।

छने हुए जल को प्रासुक मानना बड़ी भारी गलती है। भगवती आराधना में जल के चार भेद बतलाये हैं जैसे—

(१) जल—साधारण अर्थात् सामान्य जो आगे के तीनों भेदों का कारण है अर्थात् आगे के सभी भेदों में पाया जाता हो और जो सूक्ष्म और बादर दोनों रूप हो।

(२) जल जीव—विग्रह गति में जो अन्य गति से चयकर जल शरीर को धारण करने वाले हो, ठहरा हुआ हो।

(३) जल कायिक—जो जल कायिक जीव सहित हो, जैसे कुए का जल, नदी का जल, बावड़ी का जल, तालाब का जल, वर्षा का जल, बर्फ का जल यह सब जल कायिक कहलाता है।

(४) जल काय—जिसे जल कायिक जीव छोड़ चुका हो अर्थात् जल कायिक का शरीर। जैसे प्रासुक किया हुआ जल, गर्म किया हुआ जल, यन्त्र से पेला हुआ जल, यह सब जल काय है।

इस प्रकार के जल के चार भेद माने गये हैं। जैसे सूखे हुए अनाज में योनिभूतपना है। वैसे ही जल में भी योनिभूतपना है। परन्तु जल योनि भूत और सचित्त दोनों प्रकार का है। अतएव जल छान लेने पर भी उसका योनिभूतपना और सचित्तपना नहीं मिटता। सिर्फ छान लेने पर बादर और त्रसजीव निकल जाते हैं।

भगवती आराधना की बड़ी टीका गाथा ४८७ पृष्ठ ७०६ पर लिखा है कि जब तप योग में वर्षा ऋतु में साधु लोग वृक्ष मूल में योग धारण करते हैं, तब वर्षा के जल कण (बिन्दु) साधुओं के शरीर पर पड़ते हैं, तब वे उन्हें पिच्छिका से पौंछ नहीं सकते, क्योंकि उनमें जीव हैं। यदि कदाचित् पौंछ लेवें तो उनके चारित्र में अतिचार लगता है। अतः जल को योनि भूत और सचित्त मानना शास्त्र विहित मार्ग है। फिर भी गृहस्थ सचित्त किये बिना छने हुए जल का उपयोग कर सकता है और यह उसकी पद मर्यादा है। कहा भी है—

"जितनी उपशमत कषाया, उतना व्रत त्यम बताया"

छन्ना (नातना) का प्रमाण

"षट् त्रिंशदंगुलं वस्त्रं तावदेव च विस्तृतं ।
निश्छिद्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥ १ ॥"

अर्थ—जल के छानने का छन्ना-नातना, ३६ अंगुल लम्बा, और उतना ही चौड़ा हो, छिद्र रहित हो, मोटा हो, जिसे दोहड़ा करने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नजर न आवे, फटा न हो, पुराना न हो, रङ्गीन न हो, ऐसे वस्त्र को दो परता (दोहरा) करके यत्नाचार पूर्वक जल छानना चाहिये। पश्चात् जीवानी को कड़ी दार बाल्टी से जल के स्थान पर पहुंचा देना चाहिये। ऐसे जल को छना हुआ जल कहते हैं। जीवानी को कुए के भीतर, ऊपर से नहीं डालना चाहिये, क्योंकि ऊपर से डालने से जीव मर जाते हैं। जिससे हिंसा का पाप लगता है। ऊपर से विल छानी डालने से हवा से उसके जीव मर जाते हैं। दूसरे यह जल जब ऊपर से कुए में गिरता है तब इसकी टक्कर से वहां के जल कायिक जीव भी नष्ट हो जाते हैं। अतः जिवानी को जिस स्थान से जल आया होवे, वहां पर भिजा देना चाहिये। यह जैनियों का प्रथम कर्तव्य है।

"मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् ।
कोष्णं चतुष्कयामं च विशेषोष्णं तथाऽष्टकम् ॥ १ ॥"

अर्थ—वस्त्र से छना हुआ जल, एक मुहूर्त मात्र, चतुर्थ प्रतिमाधारी पर्यन्त पीने योग्य है। अन्य के नहीं।

अगर हरड़ों आदि के चूर्ण से जिसका रूप रस गन्ध बदल गया हो तो वह जल दो प्रहर तक प्रासुक रहता है। कुछ गरम किया हुआ जल चार पहर, और खूब गरम किया हुआ जल आठ पहर तक प्रासुक रहता है। इनमें छने हुए जल को छोड़ कर बाकी तीनों प्रकार के प्रासुक जल को मर्यादा के अन्दर ही समाप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि मर्यादा के बाद उसमें अनन्त सम्मूर्छन निगोदिया जीव पैदा हो जाते हैं। इससे वह जल जमीन पर भी ढोलने योग्य नहीं है। और रखने योग्य भी नहीं है। क्योंकि ढोलने से अनन्त जीवों की हिंसा और रखने से अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है। अतएव उसे मर्यादा से पहले ही खर्च कर लेना चाहिये। यह तीन प्रकार का जल गृहस्थों एवं मुनियों के ग्रहण करने योग्य होता है। यहां पर इतना और जानना आवश्यक है कि वस्त्र से छना हुआ जल, सचित्त त्यागी श्रावकों एवं महाव्रती मुनियों के उपयोग लायक नहीं है। इसे दो घड़ी प्रथम ही तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण मिला कर, या गर्म किया जाने पर ५मी प्रतिमाधारी श्रावक या मुनिराज के लेने योग्य हो सकता है।

छना हुआ जल सचित्त है न कि प्रासुक। जो लोग "मुहूर्तात् गालितं तोयम् प्रासुकम्" इसके आधार से प्रासुक बताते हैं वे गलती पर हैं—आगम में यह श्लोक निम्न प्रकार से है—

मुहूर्तात् गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्।

उष्णोदकमहोरात्रं ततः संमूर्छितं भवेत्॥ १॥

अर्थ—इसका अर्थ यह है कि छने हुए जल की मर्यादा एक मुहूर्त तक की है और प्रासुक जल लवङ्गादिक से जलकायिक एकेन्द्रिय जीव रहित हो चुका है वह दो पहर तक त्रसजीव से रहित है। तथा गरम जल रात दिन अर्थात् ८ पहर तक त्रस तथा स्थावर जीवों से रहित है। इसके बाद उसमें त्रसजीव हो जावेंगे।

आगे छने हुए जल को निम्न लिखित प्रमाणों से सचित्त सिद्ध करते हैं—

अनग्निपक्वमन्यद्वा चेतनादि गुणान्वितं।

सचित्तविरतैर्धीरैर्नादेयं प्रतिमाप्तये॥ १॥

अत्यक्तात्मीयमद्वर्णसंस्पर्शादिकमञ्जला।

अप्रासुकमथातप्तं नीरं त्याज्यं व्रतान्वितैः॥ २॥

अर्थ—जो छना हुआ जल चेतनादि गुणों से युक्त है तथा जो अपने रूप रस गन्ध और स्पर्श को नहीं छोड़ने से एवं नहीं तपाया जाने से, अप्रासुक है, एकेन्द्रिय जीव युक्त है उसे व्रती पुरुषों को नहीं पीना चाहिये।

आगे कैसा जल व्रती श्रावक के पीने योग्य है इस बात को निम्न प्रमाण द्वारा बतलाते हैं—

नीरमात्मीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगतः।

तप्तं चाग्निनाऽदेयं नयनाभ्यां परीक्ष्य भोः॥ १॥

अर्थ—जिस जल का लवंगादि द्रव्य के योग से अथवा अग्नि द्वारा कर्म करने से, रूप रस, वर्ण स्पर्शादि बदल गया हो, उस जल को आँखों से भली भांति देख कर पीना चाहिये। तभी जीव दया पलेगी। शास्त्रकारों ने कहा भी है—

"सचित्तं नात्ति यो धीमान् सर्वप्राणिसमायुतं।
दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफलं जीवितं भुवि ॥ १ ॥"

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों से युक्त सचित्त को जो बुद्धिमान् नहीं खाता है उस दया मूर्ति का जीवन संसार में सफल है। और भी कहा है—

"अणछाण्यो काचो नीर, एकेन्द्रिय जानिये" [दौलतरामजी क्रियाकोष]

इससे सिद्ध है; कि कच्चा छना हुआ जल एकेन्द्रिय जीव युक्त है राजवार्तिककार अकलङ्क स्वामी ने भी जो जल के चार भेद निम्न लिखित निर्दिष्ट किये हैं (१) जल (२) जल काय (३) जल कायिक और (४) जल जीव, उनमें पुद्गल परमाणुओं के स्वाभाविक परिणमन से उत्पन्न हुआ जल रूप प्रथम भेद अचेतन बतलाया है। फिर अथवा शब्द से यह भी सूचित किया है; कि जल काय, जल कायिक और जल जीव इन तीनों विशेषणों में रहने के कारण यहां जल रूप प्रथम भेद सामान्य है। कहा भी है—

पुढवी आऊ तेऊ वाऊ कम्मोदयेण तत्थेय।
णियवण्ण च उक्कस्स जुदाताणं देहो हवे णियमा ॥ १८१ ॥ [गोम्मटसार जीव काण्ड]

उक्त गाथा की संस्कृत टीका में कहा गया है कि जल कायिक रूप पर्याय धारण करने के लिये विग्रह गति में आता हुआ जीव तो जल जीव है और जो जल रूप शरीर को जल कायिक जीव छोड़ चुका है वह जल काय है। इस प्रकार जल के तीन भेद ही किये हैं। राजवार्तिक में कहा हुआ जल रूप प्रथम भेद गोमटसार में छोड दिया गया है; परन्तु इस गाथा की भाषा वचनिका में श्री टोडरमलजी ने बहुरि अन्य ग्रन्थनि में चार भेदक हैं, तहां ये तीनों भेद जिस विषैं गर्भित होय सो सामान्य जल ऐसा एक भेद जानना, जातैं पूर्वोक्त तीन भेद जल के ही हैं ऐसा लिख कर राजवार्तिक में अथवा शब्द से जो कुछ कहा गया है; उसे भी स्पष्ट किया है। श्री मूलाचार में जल के जल, जल काय, जल कायिक, और जल जीव ये ४ भेद बतला कर, जल और जल काय को अचेतन माना है। श्री सर्वार्थसिद्धि वा श्लोकवार्तिक में भी राजवार्तिक के अनुसार चार भेद माने हैं। कहा भी है—

ओसाय हिमगमहिगाहरदणु सुद्धोदगे भणुदगे य।
तेजाव आउ जीवा जाणित्ता परिहरे दव्वा ॥ १ ॥
इंगाल जाल अच्ची मुम्मुरसुद भागणीय अगणीय।
तेजाव तेउ जीवा जाणित्ता परिहरे दव्वा ॥ २ ॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

इन गाथाओं की श्री वसुनन्दी सिद्धान्ती विरचित संस्कृत टीका में ओस, पाला, वा बरफ, कुहरे का धूमाकार, जल, मोटी वा सूक्ष्म बिन्दु का जल, चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न शुद्ध जल, निर्भरणे आदि से उत्पन्न सामान्य जल, समुद्र, हृद, घनवात आदि से उत्पन्न घनाकार शुद्ध जल इत्यादि सब प्रकार के जल,-जल कायिक, और अङ्गार (जलता हुआ निर्धूम कोयला) आदिक, अग्नि की ज्वाला, अर्चि (दीपक आदि की लौ), मुर्मुर (छाणे की आग), बिजली, सूर्यकान्त मणि आदि से उत्पन्न शुद्धाग्नि तथा धूम सहित, सामान्य आग, इत्यादि सब अग्नियां अग्नि-कायिक हैं, ऐसा बतलाया गया है। अतः यह निश्चित होता है कि जैसे दियासलाई से दीपक जलते ही उसकी लौ अग्नि काय के धारक जीवों से सहित बनकर सचित्त ही व्यवहार में आती है; वैसे ही पुद्गल परमाणुओं से निष्पन्न जल भी अपनी उत्पत्ति के साथ ही जल काय के जीवों का आधार बनकर जल कायिक रूप से सचित्त होकर ही व्यवहार में आता है। कहा भी है—

मार्गोपमर्दिता धूलिः पृथ्वी प्रोच्यते बुधैः।
निर्जीवइष्टकादिश्च पृथ्वीकायो मतः श्रुते ॥ १ ॥
जलमान्दोलितं लोके सकर्दमं तथा भवेत्।
उष्णोदकञ्च निर्जीवमन्यद्वाप्काय उच्यते ॥ २ ॥
भस्मनाऽऽच्छादितं तेजो मात्रं तेजः प्ररूप्यते।
जीवोज्झितं च भस्मादि तेजकाय इहोच्यते ॥ ३ ॥
रजः पुञ्जमयो वायुर्भ्रमन् वायुः जिनैः स्मृतः।
जीवातीतो मरुत्पुद्गलो वायुकाय इतीरितः ॥ ४ ॥

छिन्नं भिन्नं तृणादिश्च वनस्पतिरिहोच्यते ।
जीवमुक्तवृक्षादिश्च वनस्पतिवपुः स्मृतः ॥ ५ ॥ [सकलकीर्त्ति कृत सिद्धान्तसार]

अर्थ—मनुष्यादि से खूंदी हुई धूलि, पृथ्वी, और जीव रहित एवं अग्नि में पकी हुई ईंटें आदि पृथ्वीकाय हैं। मनुष्यादिक से इधर उधर हिलाया हुआ कर्दम सहित जल आप् (जल) और गर्म किया हुआ वा प्रासुक करने योग्य द्रव्यों के संयोग से निर्जीव किया हुआ जल अप्काय है। भस्म से ढकी हुई आग तेज (अग्नि), और जीव रहित भस्म आदि अग्निकाय हैं। धूलि पुञ्ज सहित भ्रमण करता हुआ पवन वायु है और जीव रहित वायु पुद्गल स्वरूप वायुकाय है। छेदे हुए या काटे हुए घासादि वनस्पति और जीव रहित तृणादि वनस्पतिकाय हैं। इस प्रकार प्रथम वा द्वितीय भेद के उदाहरण दिये गये हैं।

एतेषां प्राक्तनो भेदः किंचित्प्राणाश्रितो मतः ।
पृथिव्यादीनां द्वितीयस्तु केवलं जीव दूरगः ॥ १ ॥ [सकलकीर्त्ति कृत सिद्धान्तसार]

अर्थ—इन पृथ्वी आदि प्रथम पृथ्वी आदि रूप भेद कुछ जीव सहित हैं और दूसरा भेद सर्वथा जीव रहित है। इस श्लोक से प्रथम भेद को सचित्ताचित्त मिश्र, और द्वितीय भेद को अचित्त बतलाया है।

पुढवी पुढवीकायो पुढवी काओ य पुढवीजीवो य ।
साहारणोय मुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥ १ ॥ [सर्वार्थसिद्धि पूज्यपादस्वामी]

अर्थ—साधारण पृथिवी-पृथ्वी; जीव रहित पृथ्वी-पृथ्वी काय; जीव सहित पृथ्वी-पृथ्वी कायिक, और पृथ्वी रूप शरीर धारण करने के लिये विग्रह गति से आता हुआ जीव पृथ्वीजीव है। इस गाथा में प्रथम भेद को साधारण बतलाया है। साधारण उसे कहते हैं जो भिन्न भिन्न दो पदार्थों में सामान रूप से है। अतः यही सिद्ध होता है। जल के छानने से मोटे त्रसजीवों की ही रक्षा होती है, न कि जल कायिकों की और उनकी रक्षा के लिये ही मुनि प्रासुक जल पान करते हैं।

'मुहूर्तं गालितं तोयं' इत्यादि श्लोक में छने हुए जल में एक मुहूर्त तक, प्रासुक में दो पहर तक, और उष्ण जल में आठ पहर तक जीव नहीं होते, ऐसा विधान है, सो भी त्रस जीवों की अपेक्षा से है। हरीतक्यादि योग से प्रासुक वा उष्ण जल में तो वर्ण रसादि द्वारा जल

स्वभाव में परिवर्तन होने के कारण से जल कायिक जीव नहीं पड़ते, गालित जल में तो होते भी रहते हैं। मुनिराज वर्षा के पानी वा उस पानी से गीली जमीन में गमन नहीं करते हैं। क्योंकि वह पृथ्वी जलके कारण सचित्त है। कहा भी है—

"सार्द्रां कर्दमशैवालजलपुष्पफलाविलाम्।
इलां त्यक्त्वा कुगनीकप्राणीबीजत्रसाकुलाम् ॥ ७३ ॥ [आचारसार पंचमाध्याय]

अर्थ—मुनिराज गीली भूमि, कर्दम, शैवाल, जल पुष्प और फलों से तथा अंकुरों के समूह त्रसजीव तथा बीजों के समूह से व्याप्त हुई पृथ्वी को छोड़कर गमन करे।

भगवती आराधना के ईर्या समिति के प्रकरण में ११६१ की टीका मे निम्न लिखित पंक्ति है।

"परिहृतवुसतुषमसीभस्मार्द्र गोमयतृणनिचयजलोपलफलकं वीजांकुरतृणरहितपत्र त्रलकर्दमादिरहितत्त्वम्"

तथा एषणा समिति के प्रकरण में १२०६ की गाथा की टीका मे निम्न पंक्ति है —"अकर्दमेन अनुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना"

जो वाक्यदिये हैं उनसे भी कर्दम वा जल सहित भूमि म गमन का निषेध किया गया है।

यहां पर शास्त्राधार से यही निश्चय होता है कि इस योनिभूत दोष का सम्बन्ध, वनस्पति के और उसमें भी केवल उगने की शक्ति के धारक बीज से ही है, न कि जलसे। मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १३ की टीका में यह स्पष्ट किया है, कि "सरित्सागरह्रदकूप-निर्झरघनोद्भवाकाशजहिमरूपधूमरूपभूम्युद्भवचन्द्रकान्तजघनवातादयपकायिका अत्रैवान्तर्भवतीति" अर्थात् इन वाक्यों से नदी समुद्र, तालाब कुआ, निर्झरना, आदि के सब जलों को जल जीव बतलाकर उनकी रक्षा का उपदेश दिया गया है। इन सब प्रमाणों से यह भली भांति सिद्ध है कि जलको छानने से भी वह सचित्त ही रहता है। गृहस्थ अपने पदके अनुसार उसको उपयोग में लाते हैं। किन्तु यह उक्त शास्त्रीय प्रमाणों से निश्चित है कि छनाहुआ पानी कदापि अचित्त नहीं है; किन्तु सचित्त ही है। उसमें योनिभूतपना भी नहीं है। क्योंकि योनिभूतपना का सम्बन्ध वनस्पति के तथा उसमें भी केवल उगने की शक्ति के धारक बीज से ही है, जल से नहीं। कहा भी है—

"बीजे जोणीभूदे जीवो चकमदि सो व अण्णो वा।
जे विय मूलादीया ते पत्तेया पढमपाए" ॥ १८९ ॥ [गोम्मटसार जीवकांड]

अर्थ—जिस योनि भूत बीज में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो, वह और मूलादिक प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं।

भावार्थ—वे बीज जिनकी कि अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है और जिनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो, जो पहिले उसमें था, या कोई दूसरा जीव कहीं अन्यत्र से मर कर आकर उत्पन्न हो और इसी प्रकार मूलकन्द आदि जिनको कि पहिले सप्रतिष्ठित कहा है वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं। उक्त कथन से स्पष्ट है कि योनिभूत पने का सम्बन्ध वनस्पति से है न कि जल से। अतएव छना हुआ जल भी सचित्त ही है।

वनस्पतिकाय का वर्णन

जिस जीव के वनस्पति नामक कर्म का उदय होता है वही जीव वनस्पति शरीर में जाकर जन्म लेता है। इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। संस्थान नाम कर्म के उदय से संस्थान होता है। परन्तु इसके संहनन नाम कर्म का उदय नहीं होने के कारण संहनन नहीं होता।

शङ्का—वनस्पति कायिक जीव के संहनन क्यों नहीं होता ?

उत्तर—जिस जीव के स्थावर नाम कर्म के भेद वनस्पति नाम कर्म का उदय रहता है उसके संहनन नाम कर्म का उदय नहीं रहता। क्योंकि स्थावर नाम कर्म और संहनन नाम कर्म के परस्पर शीतोष्ण की तरह विरोध है। संहनन नाम कर्म के उदय से हड्डी खून कफ मज्जा मांस आदि हुआ करते हैं। अतएव संहनन नाम कर्म का उदय त्रस जीवों के होता है न कि स्थावर जीवों के। त्रस जाति के जीवों के शरीर भक्षण करने योग्य इस लिये नहीं हैं कि उनके शरीर में मांस होता है। इसका विशेष कथन गोम्मटसार से जानना चाहिये। स्थावर जीवों का शरीर जब प्रासुक हो जाता है तब भक्षण करने योग्य है। क्योंकि उसकी मांस संज्ञा नहीं होती। फिर भी जो श्रावक कुल में उत्पन्न हुए हैं एवं जिन्हें धर्म में रुचि है जो परलोक के दुःखों से भय भीत हैं वे वनस्पति कायिक जीवों की रक्षा का विचार जरूर करते हैं। और जिस वनस्पति काय में जीवों की हिंसा कम हो उसी को काम में लाते हैं। वे विशेष हिंसावाली नित्य साधारण प्रतिष्ठित वनस्पति को त्याग देते हैं। इस का त्याग क्यों किया जाता है यह कथन श्री आदि पुराण के पर्व ३८ में निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया है।

"प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणं।

न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहां ॥ १७ ॥
सन्त्येवानन्तशो जीवाः हरितेष्वंकुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥ १८ ॥
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वेत्वद् गृहाङ्गणं ।
कृतोपहारमाद्रार्द्रैः फल पुष्पाङ्कुरादिभिः ॥ १९ ॥
इतितद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढ़व्रतान् ।
पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतैः ॥ २० ॥

अर्थ—आज पर्व के दिन नये कोंपल पत्ते तथा पुष्पादिकों का घात हम लोग नहीं कर सकते और अपना कुछ बिगाड़ न करने वाले ऐसे उन पत्तों तथा फूलों में उत्पन्न हुए जीवों का घात भी नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

हे देव ! अंकुरे आदि हरित काय में निगोदराशि के अनन्त जीव रहते हैं। इस प्रकार भगवान सर्वज्ञ देव के वचन हमने सुने हैं। ॥ १८ ॥

इसलिये अत्यन्त गीले ऐसे फल पुष्प और अंकुरे आदि से सुशोभित ऐसा आपके घर का आंगन आज हम लोगों ने नहीं खूंदा अर्थात उसके हम ऊपर होकर नहीं आये, कारण कि आज पर्व का दिन था ॥ १९ ॥

इस प्रकार उनके वचन सुनकर ऐश्वर्यशाली राजा भरत ने जो चक्रवर्ती थे व्रतों में दृढ़ रहने वाले उनकी प्रशंसाकी और दान मान आदि सत्कार करके उन्हें सम्मानित किया ॥ २० ॥ और भी कहा है—

"फल फुल्लछल्लिवल्ली अणगलएहाणं च धोवणा ईहिं"
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मे दुक्कडं हुज ॥ १८ ॥
कंदफलमूलवीयी सचित्तरयणीय भोयणाहार ।
अण्णाणे जे विकिया मिच्छा मे दुक्कडं हुज २० ॥ [कल्याणालोचना]

अर्थ—फल, पुष्प, छाल, लता आदि को काम में लाने में विराधना हुई हो तथा विनाछने जल से स्नान करने में विराधना हुई हो और विना छने पानी से वस्त्रादि धोने में जो जीवों की विराधना हुई हो उन सब से होने वाले मेरे सब पाप मिथ्या हों ॥ १८ ॥

यदि मैंने अपने अज्ञान से कन्द, मूल, और बीज खाये हों, या अन्य सचित पदार्थों का भक्षण किया हो, वा रात्रि में भोजन किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या होवें इस प्रकार आचार्यों ने वर्णन किया है। मूलाचार प्रदीप में कहा है—

" तृणपत्रप्रवादीनां हरिताऽङ्कुरजन्मिनां ।
कन्दबीजफलादीनां वनस्पत्यखिलाङ्गिनाम् ॥ ५१ ॥
पादाद्यै र्मर्दनं नूनं छेदनं वातिपीडनम् ।
स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न संयताः ॥ ५२ ॥ अ० ८

अर्थ—संयमी चारित्रवान मुनिराज, तृण, घास, पत्ते, पेड़, तथा हरे अङ्कुरों को उत्पन्न करने वाले, कन्द, बीज, और फलादि सब प्रकार के वनस्पति कायिक जीवों को पैरों से नहीं कुचलते और न छेदन करते हैं एवं यन्त्र वगैरह मे नहीं पेलते, यहां तक कि वे उसे स्पर्श तक नहीं करते, और न ऊपर लिखे कार्य किसी दूसरे से कराते है।

वनस्पति में जीव है यह विनाजीव के नहीं होती इस बात का शास्त्रों के प्रमाण द्वारा समर्थन करते हैं—

"बीयफलकंदमूलाछिण्णाणि मला चउद्दसा होंति" [मूलाचार पिण्ड ४८४]

अर्थ—अङ्कुर होने योग्य गेहूँ वगैरह बीज, आम्र आदि फल और कन्द मूल ये सचित हैं। जो कि १४ मल दोषों में आये हैं।

"सचित्तपद्मपत्रादौ क्षिप्तं निक्षिप्तसंज्ञितं,
सचित्तेनाब्जपत्रादिनाऽवृत्तं पिहिताशनं ॥ ४७ ॥ [वीरनन्दिकृत आचारसार अध्याय ८]

अर्थ—तोड़ा हुआ कमल का पत्र सचित्त है, इस पर भोजन रखना या ढकना यह सचित्त निक्षेप नामक अतिथिसंविभाग व्रत का अतिचार है। अतः सिद्ध है कि फल पुष्प और पत्रादि सचित्त हैं। कहा भी है।

"हरितांकुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्" [सागार धर्मामृत ७ अध्याय]

अर्थ—पंचम प्रतिमाधारी दयालु श्रावक अग्नि में नहीं पके हुए हरे अङ्कुर जो बोने से पैदा हो सकें ऐसे हरे बीज गेहूँ आदि, पानी और नमक आदि शब्द से कन्द, मूल, फल, पत्र करीर आदि पदार्थों का त्याग करता है। अर्थात् अप्रासुक हरे पदार्थों को नहीं खाता वह सचित्त व्रत श्रावक कहलाता है। कहा भी है—

"फलमूलाम्बुपत्राद्यं नाश्नात्यप्राशुकं सदा।
सचित्तविरतो गेही दयामूर्तिर्भवत्यसौ ॥ ५३७ ॥ [भावसंग्रह]

अर्थ—जो श्रावक सचित्त, फल, मूल, जल, पत्रशाक आदि नहीं खाता वही सचित्त विरत पांचवी प्रतिमावाला समझना चाहिये। और भी कहा है—

"फलकन्दमूलवीयं अणग्गिपक्कं तु आमकं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं णविय पडिच्छंति ते धीरा: ॥ ५९ ॥ [मूलाचार]

अर्थ—अग्नि से नहीं पके, ऐसे कन्द, मूल, बीज फल तथा अन्य भी जो कच्चे पदार्थ हैं उन्हें अभक्ष्य जान कर धीर वीर मुनिराज खाने की इच्छा नहीं करते। और भी कहा है—

"मूलाबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादय:।
न भक्ष्या: दैवयोगाद्वा रोगिणामप्यौषधिच्छलात् ॥ ८० ॥
तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात्।
सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद् दर्शनीयं दृगङ्गिभि: ॥ ८१ ॥ [लाटी संहिता द्वि० अधि०]

अर्थ—मूल, बीज, फल, और अदरख, आदि वस्तु सचित्त कच्चे नहीं खाने चाहिये। जो कदाचित् दैव योग से बीमार हो जावे और वैद्य औषधि में बतावे तब भी नहीं भक्षण करे क्योंकि उसके खाने से महान् पापबन्ध होता है, जीवों के समूह की हिंसा होती है। सर्वज्ञ

भगवान की आज्ञा का भंग होता है। कारण कि भगवान ने कहा है कि कच्चे फलों तथा बीजों में अनेक निगोदियों की राशि रहती है। अतः एव उनके खाने से सर्वज्ञ की आज्ञा भंग करने का भी महान पाप बन्ध होता है। और भी कहा है—

"आम्रनारंगखजूरकदल्यादि भवं फलं।
सर्वक्षीरादिजं पुष्पं निम्बादिप्रभवं तथा ॥ ६४ ॥
गोधूमतिलसच्छालिमुद्गमरुचणकादिकम् ।
एलाजीरादिजंबीजं पृथक् जीवसमन्वितम् ॥ ६५ ॥
शृङ्गवेरादिजं कन्दमूलं वृक्षादिसंभवम् ।
आर्द्रां तरुत्वक् शाखां कोपलादिकमेव च ॥ ६६ ॥
नागवल्यादिजं पत्रं सर्वजीवसमाकुलं ।
सचित्तं वर्जयेद्धीमान् सचित्तविरतो गृही ॥ ६७ ॥
अनग्निपक्वमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितं ।
सचित्तविरतैर्धीरैर्नादेय प्रतिमाप्तये ॥ ६८ ॥
अत्यक्तात्मीयसद्वर्णरसशार्दिकमंजसा ।
अप्रासुकमथाततं नीरंत्याज्यं व्रतान्वितैः ॥ ६९ ॥
वारिआत्मीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगतः ।
तप्तंवावाग्निनाऽदेयं नयनाभ्यां परीक्ष्य भोः ॥ ७० ॥
अपक्वमर्द्ध पक्कं वा कन्दबीजफलादिकं ।
सचित्तं नात्ति यस्तस्य पंचमीप्रतिमाभवेत् ॥ ७१ ॥
सचित्तं नात्ति योधामान् सर्वप्राणिसमायुतं ।

दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफल जीवितं भुवि ।. ७२ ॥

सचित्त जीवसंयुक्त ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः ।

स्वजिह्वालंपटात् किं सः स्वं वेत्ति मरणच्युतं । ७३ ॥

अश्नात्येवसचित्त यस्तस्य स्यान्निर्दयं मनः ।

मनोनिर्दयतः पापं जायते श्वभ्रसाधकम् ॥ ७४ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अ० २२]

तात्पर्य यह है कि वनस्पति में जीव है । अप्रासुक वनस्पति को खाना महा पाप बन्ध का कारण है और उसके भक्षण का त्यागी सचित्त त्याग प्रतिमावाला कहल ता है । और भी कहा है—

"सचितव्रतो दयामूर्तिर्मूलफलशाखाकरीरकन्दपुष्पबीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोगपरिमाणशीलव्रतातिचार व्रतं भवतीति" [चारित्रसार चामुण्डराय कृत]

तात्पर्य—फल फूल जीव सहित होता है । और भी कहा है—

"दयार्द्र चित्तो जिनवाक्यवेदी, न वल्भते किंचन यः सचित्तम् ।

अनन्यसाधारणधर्मपोषी, सचित्तमोची सकषायमोची ॥ ७१ ॥ [अमितगति श्रावकाचार ७ वां परिच्छे०]

अर्थ—दयाकर भीगा है चित्तजाका, जिनेन्द्र के वचननि का जानने वाला, ऐसा पुरुष कछु भी सचित्त को न खाय है ।

"मंचित्त पत्रफलं छल्ली मूलं च किसलयबीजं ।

जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरओ हवे सोऽवि ॥ ३७९ ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जीवकर सहित होय ताको सचित्त कहिये । सो पत्र, फल, छाली, मूल, बीज, कोंपल इत्यादि हरित वनस्पति सचित्त कूं न खाय सो सचित्त विरत प्रतिमा का धारक श्रावक होय है ।

"न भक्षयति योऽपक्वं कन्दमूलफलादिकं ।
संयमासक्तचेतस्कः सचित्तात् स परांमुखः ॥ ८३७ ॥ [सुभाषितरत्नसंदोह]

उक्त ग्रन्थ में भी कच्चे फलों को जीव सहित माना गया है ।

"शाकबीजफलाम्बूनि लवणाद्यप्रासुकं त्यजेत् ।
जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान् भवेत् ॥ १५ ॥
हरितेष्वंकुराद्येषु सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिनः ।
निगोता इति सार्वज्ञं वचः प्रमाणयन् सुधीः ॥ १७ ॥
पदाऽपि संस्पृशंस्तानि कदाचित् गाढतोऽर्थतः ।
योऽत्ति संक्लिश्यते प्राणनाशेऽप्येष किमत्स्यति" ॥ १८ ॥

अर्थ—जिसके हृदय में दया है, जो जीवों की हिंसा से भयभीत है उसे शाक, बीज, फल, जल, लवण आदि अप्रासुक वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिये । १५ । जो भव्यात्मा हरित अंकुरादिक में निगोदिया अनन्ते जीव हैं, ऐसे सर्वज्ञ भगवान के वचनों को प्रमाण करता हुआ अपने चरणमात्र से भी अंकुरों का स्पर्श करता हुआ अत्यन्त दुखी रहता है वह पुण्यशाली पुरुष उन्हें किस प्रकार भक्षण करेगा ? कदापि नहीं ।

"फलपलासपल्लवकुसुमादिकायं स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिकं तनूकृत्य छेदनेन भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, दहनेनच, क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि" [भगवती आराधना गाथा १६८ विजयोदयटीका पेज ४१४]

अर्थ—जब मैंने अग्नि शरीर को छोड़ कर फल पुष्प, पत्र, कोंपल आदिको शरीर रूप से धारण किया । तब तोड़ना, खाना, मर्दन करना, दांतों से चबाना, अग्नि पर भूंजना, इत्यादि प्रकारों से मुझे जनता ने दुःखदिया । जब मैं झाड़ लता, छोटे पेड़ इत्यादि रूप से जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाड़ना, एक जगह से उठाकर दूसरे स्थान में रोपना, जलाना, इत्यादि के जो दुःख भोगने पड़े, उन का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है । इस प्रकार से टूटे हुए पत्र, फल, पुष्पों, बेल, लता, वगैरह तथा अंकुरों में जीव होते हैं । यह बात जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में स्वीकार की है ।

"हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमंगणं।
सम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥ ११ ॥
तेष्वव्रता विनासंगात् प्राविक्षन् नृपमन्दिरं।
तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वययत् प्रभुः ॥ १२ ॥
ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमानाः महान्वयाः।
नैषुः प्रवेशनं तावद्यावदार्द्राङ्कुराः पथि ॥ १३ ॥ [आदि पुराण अ० ३८]

अर्थ—इधर राजा भरत ने उन सब की परीक्षा करने के लिये अपने घर में आंगन को हरे अंकुरे, पुष्प और फलों से खूब भरदिया जो लोग अव्रती थे, वे विना कुछ सोच विचार किये उन्हीं हरे अंकुरों पर होकर राजा के महल में घुस गये। परन्तु भरत ने उन सब को एक ओर निकाल कर जो लोग नहीं आये थे, बाहर खड़े थे उन्हें बुलाया। १२। परन्तु बड़े २ कुलों में उत्पन्न हुवे और अपनी व्रतों की सिद्धि की पूर्ण रूप से चेष्टा करते हुए उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुरे रहे तब तक प्रवेश करने की इच्छा नहीं की।

यह कथन आदि पुराण के ३८ वें पर्व का है कि भरत चक्रवर्ती ने आंगन में हरित काय फैलादी। उस समय दयावान पुरुष नहीं आये थे। इसे ही स्पष्ट किया गया है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि राजवार्तिककार अकलंकस्वामी ने बतलाया है कि (१) वनस्पति (२) वनस्पति काय (३) वनस्पति कायिक और (४) वनस्पति जीव ये ४ भेद किये हैं।

"कायः शरीरं वनस्पतिकायिकजीवपरित्यक्तः वनस्पतिकायः मृतमनुष्यादिकायवत्" [राजवार्तिक पा. ८८ हि. टीका.]

अर्थ—मनुष्य की कायवत् माना है, अर्थात् मनुष्य की काय में जब पञ्चेन्द्रिय मनुष्य का जीव रहता है। तत्पश्चात् आयु क्षय होने पर मृतक मनुष्य के शरीर में अनन्त सैनी पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हे और होते रहते हैं। अतः टूटी हुई वनस्पति चाहे साधारण हो, या अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो या सप्रतिष्ठित प्रत्येक हो उसमें जीव है। अर्थात् जब तक वह हरी है, तब तक उसमें जीव है।

सूखे विना, या पकाये विना, उसमें से जीव नहीं जाते। आगे वनस्पति का स्पष्ट विवेचन किया जाता है अर्थात् उसके भेदों प्रभेदों की व्याख्या करते हैं।

वनापति के भेद

वनस्पति नामा नाम कर्म के उदय से जो जीव संसार में वनस्पति शरीर को धारण करता है उसे वनस्पति कायिक कहा गया है।

वनस्पति के दो भेद हैं (१) साधारण (२) प्रत्येक।

(१) साधारण वनस्पति—इसके दो भेद हैं (१) बादर (२) सूक्ष्म। इन दोनों भेदों में निगोदिया जीव हुआ करते हैं। सूक्ष्म साधारण निगोदिया जीव तो घी के घड़े के समान समस्त संसार में ठसाठस भरे हुए हैं। कहीं भी जगह खाली नहीं है। बादर साधारण वनस्पति काय चित्रा पृथ्वी से सुमेरु पर्वत के नीचे ७ राजू आकाश है, जिस में ६ राजू में तो ७ सात नरक हैं; फिर एक राजू के नीचे स्थान में यह बादर साधारण निगोद है जो कि ठसाठस भरी हुई है।

भगवान सर्वज्ञ देव ने इसकी संख्या अक्षयानन्त बतलाई है। वहां भी वनस्पति कायिक वृक्ष उत्पन्न होते हैं। तथा उगने के बाद या जल वगैरह का सम्बन्ध मिलने पर वैसी लक्षण वाली वनस्पति बहुतायत से पैदा होती है—

"एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वपमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीतकालेण ॥ १९५ ॥
साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ १९१ ॥
जत्थेक मरई जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थइक्को चक्कमणं तत्थणं ताणं ॥ १९२ ॥ (गोमट्टसार जीव कांड)

अर्थ—एक साधारण वनस्पति निगोदिया के शरीर के आश्रित, सिद्ध राशि से अनन्तगुणे, या भूतकाल के जितने समय व्यतीत होगये हों उन से भी अनन्त गुणे जीव हैं। उन जीवों का आहार, श्वासोच्छवास, जीवन मरण, एकसा है। अर्थात् एक जीव के जीवन या मरणादि कार्य होने पर उसके आश्रय रहने वाले अनन्त जीवों का जीवन एवं मरणादि कार्य होता है। यही साधारण निगोदिया जीवों का लक्षण है। प्रत्येक वनस्पति कायिक के (१) सप्रतिष्ठित (२) अप्रतिष्ठित, ये २ भेद जीव काण्ड गोमट सार में निर्दिष्ट किये हैं।

सप्रतिष्ठित वनस्पति का विवेचन

"मूलग्गपोरबीजा कंदा तहखंदबीजबीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाऽणंत कायाय ॥ १८५ ॥
गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ १८६ ॥
मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदिहोंति पत्तेया ॥ १८७ ॥
कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वाविबहुलतरी ।
छल्लीसाणंतजिया पत्तेय जिया तु तणु करी ॥ १८८ ॥
बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णोवा ।
जो विय मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९ ॥ [गोम्मटसार जीवकाण्ड]

अर्थ—जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीज से ही उत्पन्न होती है तथा सम्मूर्च्छन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दो प्रकार की होती हैं।

भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकार की होती हैं। कोई तो मूल से उत्पन्न होती है जैसे अदरख हल्दी आदि। कोई अग्र से उत्पन्न होती है जैसे गुलाब। कोई पर्व (पंगोली) से उत्पन्न होती है जैसे ईख बेंत आदि। कोई कन्द से उत्पन्न होती है जैसे ढाक। कोई अपने २ बीज से उत्पन्न होती है; जैसे गेहूँ, चना आदि। कोई मिट्टी जल आदि के सम्बन्ध से ही उत्पन्न हो जाती है जैसे घास आदि। परन्तु ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकार की होती हैं। १८५।

जिनका सिरा, संधि, पर्व अप्रकट हों, और जिसका भंग करने पर समान भंग हों, और दोनों भंगों में पर परस्पर तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिस की पुनः वृद्धि हो जावे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और इससे विपरीत को अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। १८६।

जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल (नवीन कोंपल) क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र, फूल, तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं, और जिनका भंग समान हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। १८७।

जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा, या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं। १८८।

जिस योनीभूत जीव में वही जीव, या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो, वह और मूलादिक प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होता है। १८९।

इनगाथाओं से सिद्ध है कि प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं। (१) सप्रतिष्ठित प्रत्येक (२) अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

"तहाँ प्रत्येक वनस्पति के शरीर, बादर निगोदजीवनिकरि आश्रित संयुक्त होय, ते सप्रतिष्ठित प्रत्येक जानने, जे बादर निगोद के आश्रय रहित होइ ते अप्रतिष्ठित प्रत्येक जानने" [पं० टोडरमलजीकृत गोम्मट सार भाषा]

आगे पं० टोडरमलजी की भाषा टीका के आधार से इसकी विशद व्याख्या करते हैं—

(१) "जिनकी मूल जो जड़ सोई बीज होई, ते अदरख हल्दी आदि मूल बीज जानने। जिसको पूर्व स्पष्ट किया है। वे मूल-बीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज आदि वनस्पति ऐसे ये कहे, सर्व ही प्रत्येक वनस्पति हैं ते अनन्त जे निगोद जीव तिनके काय कहिये शरीर जिन विषैं पाइये ऐसे अनन्त काय कहिये प्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। बहुरि चकार इस गाथा में आया है तासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। ऐसे प्रतिष्ठित कहिये साधारण शरीरनिकरि आश्रित हैं प्रत्येक शरीर जिनका ते प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं। बहुरि तिनिकरि आश्रित नाहीं हैं प्रत्येक शरीर जिनका ते अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर हैं। ऐसे यह मूलबीज आदि संमूर्छित पर्यन्त सर्व दोय दोय अवस्था लिये जानना। ते ऊपर कहे सर्व ही प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव सम्मूर्छन जन्म वाले हैं।

"बहुरि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यात भाग मात्र ही है। तातैं पूर्वोक्त आदा अदरख को आदि देकर एक २ स्कन्धविषैं असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाईय है। कैसे ? घनांगुल को दोयबार पल्य का असंख्यात वां भाग, अर नव बार संख्यात का भाग दिये जो प्रमाण होई तितने क्षेत्र विषैं जो एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होई, तो संख्यात घनांगुल प्रमाण आदा मूलादिक स्कन्धविषैं केतेक पाइये ? यह कथन बहुत सूक्ष्म है, समझ मे आयेगा नहीं, तातैं बढ़ाकर नहीं लिख्यो। बहुरि एक स्कन्ध विषैं अप्रतिष्ठित वनस्पति जीवनि के शरीर यथा संभव असंख्यात भी होय वा संख्यात भी होय। बहुरि जेते प्रत्येक शरीर रहे तितने ही तहां प्रत्येक वनस्पति

जीव जानने, जातें तहां एक २ शरीर प्रति एक २ ही जीव होने का नियम है"

"मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ १६ ॥
कंदामूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं ।
गुच्छा गुम्मावल्ली तणाणि तह पव्वकाया य ॥ १७ ॥ [मूलाचार पंचमाध्याय]

अर्थ—वनस्पति के दो भेद हैं। प्रत्येक और साधारण। एक शरीर में एक जीव है। उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। और जिसमें एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वह साधारण वनस्पति है। साधारण को ही निगोद कहते हैं और अनन्त काय भी कहते हैं। हल्दी आदि मूलबीज, मल्लिका आदि अग्रबीज, ईख वेत आदि पर्वबीज, पिंडालू आदि कंदबीज है। पलास आदि संमूर्छन जीव ये सब प्रत्येक वनस्पति और अनन्त काय साधारण वनस्पति होती हैं।

सूरण आदि कंद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कन्ध, पत्ता कोंपल, पुष्प, फल, गुच्छा, करंजा आदि, गुल्म, वेल, तिनकों और वेंत आदि ये सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनन्त कायिक हैं। और भी कहा है—

"गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ १८ ॥
होदि वणप्फदीवल्ली रुक्खतणादि तहेव एइंदी ।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरे दव्वा ॥ २० ॥ [मूलाचार पर्याप्ति अधिकार]

अर्थ—जिन की नसें नहीं दिखती, बंधन वा गांठ नहीं दिखती, जिन के टुकड़े समान हो जाते हैं, जो वक्र रहित सीधे हैं और भिन्न करने पर भी जो ऊगते हैं ऐसे सब साधारण शरीर कहलाते हैं। इन से जो विपरीत होवें वे प्रत्येक शरीर हैं। वनस्पति, वेल, वृक्ष, तृण इत्यादि स्वरूप हैं। ये एकेन्द्रिय हैं। ये सब प्रत्येक और साधारण हरित काय हैं। ऐसा जान कर इन की हिंसा का त्याग करना चाहिये।

"भागमसंखेज्जदिमं जं देहं अंगुलस्स तं देहं ।
एइंदियादि पचेंदियं तं देहं जहएणेण" ॥ १०६६ ॥

अर्थ—वनस्पति कायिक के शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है। सोभी प्रतिष्ठित प्रत्येक की है। सो जानना।

आगे इन जीवों के आश्रित जीवों की संख्या बतलाते हैं—

"खंधा असंखलोगा अंडर आवास पुल वि देहावि ।
हेट्ठिल्लजोणिगा ओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ १९३ ॥ [गोम्मटसार]

अर्थ—वनस्पति काय के स्कन्ध में स्कन्धों का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण है और अंडर, आवास, पुलवि, तथा देह ये क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यात लोक गुणित हैं।

यहां जंबूद्वीप का दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। एक आम्र या ककड़ी या और किसी प्रकार के फल को लीजिये।

एक आम्ररूप फल स्कन्ध में कितने जीव रहते हैं ? सो देखें। जैसे आम्रस्कन्ध में (जंबूद्वीप में) अंडर में (भरतक्षेत्र में) आवास में (कौशलदेश में) पुलवी (साकेतनगर में)उस में देह (जैसे साकेतनगरी अयोध्या के घरों की गिनती होवे) वैसेही एक आम्ररूपफल में असंख्याते देहहोते हैं। जिस प्रकार जम्बू द्वीप आदि एक २ द्वीप में भरत आदि अनेक क्षेत्रएक २ भरतादिक्षेत्र में कौशल आदि अनेक देश, एक २ देश में अयोध्याआदि अनेक नगरी, और एक २ नगरी में अनेकघर होते हैं। उसी प्रकार एक २ स्कन्ध में, असंख्यात लोक प्रमाण अंडर, एक २ अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास, एक २ आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी और एक २ पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण निगोदिया जीवों के शरीर होते हैं। इसी दृष्टान्त के द्वारा वनस्पति काय का स्वरूप फलों में आम्र हो, या जामुन हो, नारंगी हो या ककड़ी हो, भिंडी, तुरैया, टींडसी, खरबूजा, सेव, नासपाती, निम्बु, मिर्च, अनार, अमरूद, अंगूर आदि कोई भी जाति का स्कन्ध हो, उसमें संख्याते, असंख्याते, वा अनन्त जीवों का शरीर है। इस लिये शास्त्रकारों ने वनस्पति कायिक फलों को स्पर्श करना, दाबना, तोड़ना, रांधना, पीसना, कूटना, आदि जो भी क्रिया जावे उसमें हिंसा मानी है। इसी कारण गृहस्थ लोग पूर्ण संयमी नहीं हो सकते। संयम के विचार करने वाले होते हैं। क्योंकि गृहस्थ अवस्था में श्रावकों को कोई प्रकार का आपत्तियां हुआ करती हैं। इसलिये यदि पूर्णरूप से संयम

न पाला जावे, तो चार पर्व-दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के दिनों में तो, अपनी शक्ति अनुसार संयम पालना, यही आत्मीक उन्नति का, एवं पुण्य बंध का कारण है। इसलिये संसार के दुःखों से छुटकारा पाकर, आत्मीक सद्गुणों की वृद्धि करना हो तो जीव रक्षा का उपाय करो।

और भी कहा है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृंगवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ८५ ॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

अर्थ—जिस वनस्पति को कार्य में लेने से, फल तो थोड़ा हो और बहुत स्थावर जीवों की हिंसा हो, ऐसे गीले सचित्त अदरख मूलो, गाजर, मक्खन, नीम के फूल, केतकी फूल, इत्यादि वस्तुएं जिन में फल थोड़ा और हिंसा ज्यादा है, त्यागने योग्य हैं। क्योंकि जरासा जिह्वा का स्वाद और असंख्यात गुणी हिंसा होने से, दुर्गति का बन्ध होता है। और कहा भी है—

"नीलीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादिवर्जयेत्।
आजन्मतद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥ १६ ॥ [सागारधर्मामृत अध्याय ५]

अर्थ—धर्मात्मा पुरुषों को नाली (कमल की नाल) सूरण, कालिन्द (तरबूज) द्रोण पुष्प (द्रोण वृक्ष का फूल) और आदि शब्द से मूली अदरख, नीम के फूल, केतकी के फूल, आदि पदार्थों का जीवन पर्यन्त त्याग करदेना चाहिये। क्योंकि इन पदार्थों के खाने वालों को एकक्षण भर के लिये जिह्वा इन्द्रिय को संतुष्ट करनेमात्र का थोड़ा सा फल मिलता है, परन्तु उसके खाने से उन पदार्थों के आश्रित रहने वाले अनेक जीवों का घात होता है। और यह व्रत भङ्ग कर संसारताप को बढ़ाने वाला है। इसलिये ऐसे पदार्थों का जीवन पर्यन्त त्याग करदेना चाहिये।

फल पत्र स्वरूप वनस्पति कोई अभक्ष्य नहीं है, परन्तु इनमें जीवों की बहुत प्रचुरता रहती है। इस लिये इनके भक्षण में जीव हिंसाका पाप लगता है। विशेष कर वर्षा ऋतु में हरी वनस्पति को त्यागना ही उचित है।

गोभी कचनार के पुष्पों में बहुत जीव होते हैं, इनमें स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की अधिक हिंसा होती है। पोदीना की पत्ती, पत्तेवाले, शाक, पालक की शाक, मूली के पत्ते, नोनियां के पत्ते, गंवार पाठा और उसकी फली आदिका भक्षण नहीं करना चाहिये। पत्ते वाले शाक का पत्ता मोटा होने से उसमें अनन्त काय जीव रहते हैं। अतः त्यागने योग्य है।

स्थावर जीवों के घात का त्याग आवश्यक

"स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥ [पुरुषार्थ सिद्धय पाय]

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों की न्याय पूर्वक सेवा करने वाले श्रावकों को, अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी अवश्यमेव करने योग्य है।

पृथिव्यादि चार भेद

"प्रत्येकं तस्यभेदाःस्युश्चत्वारोऽपि च तद्यथा ।
शुद्धभूर्भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः॥ ६८ ॥
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथास्याद् दग्धमृत्तिका ।
भूजीवोऽद्यैव भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥ ६६ ॥
भूरेव यस्य कायोऽस्ति यद्वानन्यगतिर्भुवः ।
भूशरीरस्तदात्वेऽस्य स भूकाय इत्युच्यते ॥ ७० ॥
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः ।
स सद्गुणघातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥
एवमग्नि जलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते ।
प्रत्येक चापि ज्ञातव्या सर्वज्ञज्ञानातिक्रमात् ॥ ७२ ॥ [लाटी संहिता]

अर्थ—(१) भू (२) भूकाय (३) भूजीव (४) भूकायिक इस प्रकार पृथ्वी के चार भद हैं। इसी प्रकार पांचों स्थावरों के जानना। प्राणों से रहित पृथ्वी जीव मरकर अन्यत्र चलागया हो उसे शुद्ध पृथिवी कहते हैं। जैसी जली हुई मिट्टी। जो जीव आजही अन्य पर्याय से आकर पृथ्वी पर्याय में जन्म धारण करेगा, ऐसे विग्रह गति वाले जीव को पृथ्वी जीव कहागया है। ६८—६६।

जिसका शरीर पृथ्वी है, अथवा जिस ने अन्य गति में न जाकर भूमि को ही अपना शरीर बना रखा है, इस पृथिवी कायिक जीव के द्वारा छोड़े हुए शरीर को पृथ्वी कायक कहते हैं। ७०।

भूमिकायिक जीव को, जोकि वर्तमान समय में भूमि में रहा है, परन्तु दूसरी गति में जाने को तत्पर है, ऐसे मारणान्तिक समुद्‌घात में रहने वाले जीव भी पृथ्वी कायिक हैं। ७१।

इसी प्रकार अग्नि, जल, वायु और वनस्पति के भी ४ भेद सर्वज्ञ भगवान ने कहे हैं। ७२।

पृथिव्यादि तीन भेद भी माने हैं।

गोमट्टसार जीव काण्ड में पृष्ठ ४१६ में जीव प्रबोधिनी टीका में तीन भेद ही माने हैं—

"पृथ्वीकायिकपर्यायाभिमुखो विग्रहगतौ वर्तमानः पृथिवीजीवः, गृहीतपृथिवीशरीरः, पृथिवीकायिकः। त्यक्तदेहो पृथ्वीकायः। तथैव अब्जीवः, अप्कायिकः, अप्कायः। तेजोजीवः, तेजस्कायिकः, तेजस्कायः। वायुजीवः, वायुकायिकः, वायुकायः इतित्रिविधत्वं ज्ञातव्यम्।

"विग्रहगतौ वर्तमानः पृथिवीत्वविशिष्टस्थावरनामकर्मोदयंवृत्तपर्यायः पृथ्वीजीवः। गृहीततच्छरीरोजीवः पृथिवीकायिकः। तेन्त्यक्तदेहः पृथ्वीकायः। एवमेव अब्जीवः, अप्कायिकः, अप्काय इत्यादि त्रिधा व्यवस्था।

अर्थ—विग्रहगति में वर्तमान पृथिवी नामक स्थावर नाम कर्म के उदय से युक्त जीव पृथिवी जीव है। जिसने पृथिवी शरीर को ग्रहण करलिया है वह पृथिवी कायिक है और उस जीव से छोड़ा हुआ शरीर पृथिवी काय कहलाता है। इसी प्रकार हरेक के तीन २ भेद जानना।

भेदास्तत्रत्रयः पृथ्व्याः कायकायिकतद्भवाः।
निर्मुक्तस्वीकृतागामिरूपा एवं परेष्वपि ॥ ६ ॥ [अमितगति श्रावकाचार]

अर्थ—पृथ्वी के ३ भेद हैं, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, और पृथ्वीजीव,। पृथ्वीकायिक जीव से त्यागे हुए शरीर को पृथ्वी काय, पृथिवी शरीर को धारण करने वाले जीव को पृथिवी कायिक, और जो जीव पृथिवी कायिक होने वाला है, वह विग्रह गति में पृथ्वी जीव है। इसी प्रकार जलदि में भी जानना।

भिन्न २ आचार्यों के द्वारा सचित्त का स्वरूप

"दुष्पक्कस्य निषिद्धस्य जन्तुसम्बन्धमिश्रयोः" [यशस्तिलक चम्पू पृ० ४०३]
"सचित्तभत्तपाणं, गिद्धोदप्पेणऽधीपभुत्त ण" ।
पत्तोमितिव्व दुक्खं अणाइ कालेण त्तं चित्तं ॥ १०० ॥
कंद मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं ।
असि ऊणमाणगव्वे भमिओसि अणंतसंसारे ॥ १०१ ॥ [भावप्राभृत-षट्प्राभृत]
"फलाणि जम्बाम्राम्बाड़क फलाणि ॥ [मूलाचार पृ० ३८०]
सचित्तेन पिहितमप्रासुकेन पिहितं ।
"अपक्काऽप्रासुकास्तथाहरितकाया पत्रपुष्पफलादयः" [मूलाचार गा. ४३ पृ० ३६७]
सचित्तेनाप्रासुकेन वर्तते इति सचित्तं । [अनगारधर्मामृत पृ० ५१६]

"सचित्तं विद्यमान जीवकम्"

"आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तं, सहचित्तेन वर्तते इति सचित्तं । [सर्वार्थ सिद्धि सूत्र ३२ पृ० १०३]

"सचित्तं पद्मपत्रादौ" [सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र ३६]

"सहचित्तेन वर्तते इति सचित्तं चित्तं विज्ञानं सहवर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यमित्यर्थः" । [राजवार्तिक पत्र १६१]

"सचित्तं चेतनावद्द्रव्यं हरितकायं फलपुष्पादिकं । [सागारधर्मामृत अध्याय ५ पृ० १३६]

"हरितमम्लानावस्थं पर्णतृणादिसचित्तानि सजीवानि अप्रासुकानि वा" [अनगारधर्मामृत पृ० ३५३]

"चित्त न-चैतन्येन आत्मना जीवेन सह वर्तमानं सचित्तम् अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीराणि यथा सम्यक्असंख्यातानि संख्यातानि वा भवन्ति। यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येकवनस्पतिजीवास्तत्र प्रतिशरीरमेकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्। १८६।

रुक्खाअ असंखजिया मूला कंदातथा य खंधाय।
सालावद्दा पवाला पुदो पुदा हुंति णायव्वा॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पत्र १३८]

अर्थ—वृक्ष असंख्यात जीववाले हैं, मूल, तना कन्द, छोटी, टहनी बड़ी टहनियां पत्रादिक में पृथक् जीव होते हैं।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्याय २२ में भी श्लोक ६४ से ७६ तक सचित त्याग प्रतिमा का स्वरूप दिया गया है। उन श्लोकों को तथा उसके विशद विवरण एवं अर्थ को पीछे दिया जा चुका है। अतः यहां नहीं लिखा है।

"अनयविरूपं व्याख्यायावयवभेदप्रतिपादनार्थमाह अथवा वनस्पतिजातिर्द्विप्रकारा भवतीति, बीजोद्भवा सम्मूर्छिमा च, तत्रबीजोद्भवा मूलादिरूपेणव्याख्याता। सम्मूर्छिमायाः स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

"कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं।
गुम्मा गुच्छावल्ली तणाणि तह पव्वकायाय॥ १७॥

संस्कृतटीका—कन्दा कन्दकः सूरणपद्म कन्दकादिः। मूला मूलं पिण्डाधः प्ररोहकं हरिद्रकाद्र कादिकं। छल्ली—त्वक् वृक्षादिबहिर्वल्कलशॅलयुतकादिकं च। खंधं—स्कन्धः पिण्डशाखयोरन्तर्भागः पालिमद्रादिकः। पत्तं पत्रम् अङ्कुरोर्ध्वावस्था। पवाल—प्रवालं पल्लवं पत्राणां पूर्वावस्था। पुप्फ—पुष्पं फलकारणं। फलं पुष्पकार्यं पूगफलतालफलादिकम् इत्यादि। अथवा मूलकायावयवः इत्यादि पूर्वाणां बीजमुपादानं कारणमेतेषां पुनः पथिवीसलिलादिकमुपादानकारणं तथा च दृश्यते शृङ्गाच्छरः गोमयाच्छालूकम् इत्यादि।

[मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १७ पृ० १८५]

अर्थ—अवयवी को बतलाकर अवयवों के भेद बताते हैं। गाथा का अर्थ—सूरण आदि कंद; अदरख आदि मूल; छालि, स्कन्ध, पत्ता, कोंपला, पुष्प, गुच्छा, करंजा, आदि गुल्म, वेल, तिनका और बेंत आदि सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनन्त कायिक हैं। यहां दृष्टान्त द्वारा प्रकृत वस्तु का समर्थन करते हैं। जैसे किसी तालाब, कुए, नदी, या बावड़ी से एक लोटा जल निकाल लियाजाय, तब भी उस पानी में छाने

बिना असंख्याते जीव हैं। ऐसे ही किसी विशाल अग्निपिण्ड में एक खण्ड तोड़ लिया जावे, तो उसमें असंख्याते अग्निकायिक जीव हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। ऐसे ही वनस्पति में समझिये, कि वृक्ष से फल पुष्पादि तोड़ लिये जाते हैं, उनमें भी अग्नि और जल की तरह असंख्याते जीव रहते हैं। कारण कि स्थावरों की प्रकृति एक सदृश रहती है, न कि त्रसजीवोंकी।

फलों में सजीवता पर शास्त्रीय प्रमाण —

"प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टावगाहनमपि घनांगुलासंख्येयभागमात्रमेवेति। पूर्वोक्तार्द्रकादि स्कन्धेषु-एकैकस्मिंस्तानि असंख्यानि सन्ति। यत्र तावत् क्षेत्रस्यैकं प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराणि स्युरिति। त्रैराशिकलब्धानि, एकैकार्द्रकादिस्कन्धसंभवानि प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराणि स्युः। अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीव शरीराणि यथा सम्भवम् असंख्यातानि संख्यातानि वा भवन्ति यावन्ति प्रत्येक-शरीराणि तावन्त एव प्रत्येक वनस्पति जीवा तत्र प्रति शरीर मेकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञा नात्।

अर्थ—प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र ही है। अतः पूर्वोक्त अदरख आदि को लेकर एक २ स्कन्ध में असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाये जाते हैं। जैसे घनांगुल को दो बार पल्य को असंख्यात का भाग, और नववार संख्यात का भाग दिये जो प्रमाण होय तितने क्षेत्र विषै एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होय, तो संख्यात घनांगुल प्रमाण अदरख मूलि आदि स्कन्ध विषै कैते पाईये? ऐसे त्रैराशिक किये लब्ध राशि दो बार पल्य का असंख्यातवां भाग, दशवार संख्यात मांडि परस्पर गुणें। जितना प्रमाण होय तितने एक २ अदरख आदि स्कन्ध विषै प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाईये। एक स्कन्ध विषै अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवनि के शरीर यथा संभव असंख्यात भी होय और संख्यात भी होय। जेते प्रत्येक शरीर हैं तितने ही तहां वनस्पति जीव जानना। जाते तहां एक शरीर प्रति एक ही जीव होने का नियम है—

"साहिय सहस्समेकं वारं कोसूणमेकमेकमश्च।
जोयण सहस्सदीहं पम्मे वियले महामच्छे॥ ९५॥

अर्थ—कमल, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय महामच्छ इनके शरीर की अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक योजन और एक हजार योजन लम्बी समझना चाहिये।

घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग जो उत्कृष्ट अवगाहना बतलाई है वह वनस्पति कायिक जीव के एक शरीर की है। और उक्त

अवगाहना सारे कमल की है; न कि एक जीव के शरीर की। इस कमल के अन्दर अनेकों वनस्पति कायिक जीव रहते है। जो एक हजार योजन कमल की अवगाहना बतलाई है, सो वृक्ष की ऊंचाई है, न कि वनस्पति जीव के शरीर की। इसके शरीर की अवगाहना तो उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही है।

"उदये दु वणप्फदि कम्मस्सय जीवा वणप्फदीहोंति, पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरोत्ति पत्तयं।

वनस्पतिविशिष्टस्थावरनामकर्मोत्तरोत्तरप्रकृत्युदये तु पुनः जीवा वनस्पति कायिकाः भवंति।

अर्थ—वनस्पति विशिष्टनाम कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति के उदय होने पर वनस्पति कायिक होते हैं।

अब धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में इस विषय को निम्न प्रकार शंका समाधान द्वारा स्पष्ट किया गया है।

"एत्थपुढवीकाओसरीरं जोसि ते पुढवी कायात्तिणवत्तव्वं, विग्गहगईए वट्टमाणाणं जीवाणम काइत्तप्पसंगादो। पुणो कथं वुच्चदे ? पुढविकाइय णामकम्मोदयवंतो जीवा पुढविकाइया त्ति वुच्चंति। पुढविकाइयणामकम्मंण कहिं वि वुत्तमिदि चे ण। तस्स एइंदियजादिणाम कम्मंत-ब्भूदत्तादो। एवंसदिकम्माणं संखाणियमो सुत्तसिद्धोण घडदित्ति वुत्ते वुच्चदे। ण सुत्ते कम्माणि अट्ठेव अट्ठे दाल सयमेवेत्ति संखंतरपडिसेह विधा-ब य एवकाराभावादो। पुणो केत्तियाणि कम्माणि होंति ? हयगयवियपुल्लं घुवसलहमक्कुणुद्देहि गोमिंदादीणि जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भंति कम्माणि वितत्तियाणिचेव। [षट्खंडागमज्जीवस्थान पृ० ३३०]

अर्थ—पृथ्वीकाय शरीर जिनका है वे जीव पृथिवी कायिक कहलाते हैं।

शंका—ऐसा मत कहो; क्यों कि ऐसा कहने से विग्रह गति में रहने वाले जीवों को पृथ्वी कायिक कैसे कहेंगे ?

उत्तर—पृथ्वी नाम कर्म के उदय से जीव पृथिवी कायिक कहलाते हैं; और उस का उदय विग्रह गति में भी पाया जाता है।

शंका—पृथ्वी कायिक नाम कर्म आपने इस का नया आविष्कार किया है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्यों कि एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म का वह अवान्तर भेद है।

शंका—ऐसा होने पर तो कर्मों की संख्या का सूत्र आगम प्रसिद्ध नियम न बन सकेगा ?

उत्तर—सूत्र में कर्म आठ या एकसो अड़तालीस ही होते हैं अन्य नहीं, ऐसा नियम नहीं, क्योंकि निषेध को सूचित करने वाले एवकारका अभाव है। एवकार (ही) द्वारा अवधारण करने से ही अन्य संख्या का निषेध होता है।

शंका—फिर कितने प्रकार के कर्म होते हैं।

उत्तर—अश्व, गज आदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियों के जितने जाति भेद दृष्टि गोचर होते हैं, तथा फूल, पत्ते, वेल, फल, वृक्ष, जल, आदि एकेन्द्रिय जीवों के जाति भेद, तथा पतङ्ग खटमल आदि एकेन्द्रिय जीवों के जाति भेद तथा पतङ्ग खटमल आदि विकलत्रय के जाति भेद रूप जितने प्रकार के कर्म विपाक लोक में देखे जाते हैं उतने ही प्रकार के कर्म है।

आगे और भी प्रमाण देते हैं—

"साहारणवणप्फदिकाइया दुविहा णिच्चणिगोदा
चदुगदिणिगोदा तेविदुविहा वादरसुहुमभेदादो ॥ [धवलसिद्धान्त पृ०]

भावार्थ—समान को ही सामान्य कहते हैं, जिन अनेक जीवों का सामान्य (एक) शरीर है, उन्हें सामान्य शरीर या साधारण शरीर कहते हैं। वे साधारण जीव दो प्रकार के हैं। (१) नित्य निदोद (२) चतुर्गति निगोद (इतर निगोद) इन के वादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद हैं।

"शाकाः साधारणा; के चित् केचित् प्रत्येक मूर्तयः।
वल्लयः साधारणाः काश्चित् काश्चित् प्रत्येककाः स्फुटम् ॥ ९८ ॥
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्ततः।
उत्सर्गात् सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यपवादतः ॥ ९९ ॥ [लाटीसंहिता]

इसी प्रकार पद्मपुराण द्वितीय खण्ड अध्याय ४१ पेज २११ में है।

"खर्जूरैरिंगुदैराम्रैः नालिकेलैः रसान्वितैः।
वादरामलकाद्यैश्च वैदेह्या सु प्रसाधितैः ॥ २६ ॥

आहार्यैर्विविधैः शास्त्रदृष्टिशुद्धिसमन्वितैः ।
पारणा चक्रतुर्गृद्धया संबन्धोज्झितचेतसौ ॥२७॥ (पद्मपुराण)

अर्थ—सीताजी के द्वारा भले प्रकार रांधे गये, खजूर हिंगोटा, आम्र, नारियल, बेर, आंवला आदि नाना प्रकार के वृक्षों से जो शास्त्रीय और लौकिक दृष्टि से शुद्ध थे उनसे लालसा रहित वे चारण मुनिराज पारणा करते भये।

आगे टूटे फलों में सचित्तता है, इस बात को श्री अकलङ्कदेव कृत राजवार्तिक पृष्ठ २६१ में स्पष्ट करते हैं।

"सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः प्रकरणात् सचित्तेनापिधानमावरणं सचित्तापिधानं । सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा। तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेपः। अतिकयस्त्रं नं परिहरेयुरिति।

अर्थ—श्रावक न तो सचित्त कमल पत्रादि में भोज्यद्रव्यरख कर दे सकता है और न मुनिराज ले ही सकते हैं, यह ऊपर के प्रमाण से सिद्ध है।

प्रश्न—बादर निगोदजीव से आश्रित प्रतिष्ठित जीव कई आगम ग्रन्थों में सुने जाते हैं। उनका ग्रहण कहां करना ?

उत्तर—प्रत्येक वनस्पति में उनका ग्रहण होता है।

प्रश्न—वे प्रत्येक वनस्पति कौन हैं ?

उत्तर—थूहा अदरख मूला आदि वनस्पतियां, जोकि मूल, अग्र, पोर, कन्द, स्कन्ध, टहनी, बीज, और अङ्कुर से पैदा हो, अथवा संमूर्छिम हों, उन्हें प्रत्येक और अनन्तकाय कहते हैं।

प्रश्न—प्रत्येक और अनन्त काय साधारण शरीर से भिन्न बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव राशि तीसरी कौनसी है?

उत्तर—प्रत्येक और साधारण से भिन्न तीसरी राशि वनस्पति कायिक जीवों में नहीं है। परन्तु प्रत्येक वनस्पति दो प्रकार की है। (१) बादर निगोद जीवों के योनि भूत शरीर वाली जिसमें बादर निगोद जीव पैदा होते हैं (२) इससे विपरीत शरीर वाली जिसमें बादर निगोद जीव पैदा नहीं हुए हैं अथवा वर्तमान में नहीं हो रहे हैं। उसमें जो राशि प्रत्येक वनस्पति बादर निगोद जीवों की योनि भूत शरीर

वाली है उसे बादर निगोद प्रतिष्ठित या सप्रतिष्ठित कहते हैं। जैसे मूला, गिलोय, सूरण आदि अनन्त काय कही जाने वाली वनस्पतियां हैं। इसीको पुरातन आचार्यों ने इस प्रकार कहा है कि मूल से बीज पर्यन्त समस्त योनि भूत जिसमें अङ्कुर नहीं रहते; प्रत्येक वनस्पति के आश्रित रहते हैं, और कोई भी वनस्पति ऐसी नहीं है जिसमें केवल साधारण जीवों का ही निवास हो; प्रत्येक जीवों का न हो। हाँ यह अवश्य है कि कोई २ प्रत्येक वनस्पतियां ऐसी अवश्य हैं, जो उत्पत्ति के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में अप्रतिष्ठित रहकर बाद उनमें बादर निगोद जीव आकर अपना आश्रय आधार बना लेते हैं। तबसे वे प्रतिष्ठित हो जाती हैं। और वे सूखने या अग्नि पक्व होने के पहिले प्रतिष्ठित नहीं होती। उन्हें हम मुख्य साधारण कह सकते हैं। जो वनस्पतियां शिरासंधि पर्व वगैरह के नहीं दिखने तक साधारण, तथा उनके दिखने पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक होजाती हैं, अथवा समभंग, अहीरूह तंतु टूटने पर लगारहे, काटने आदि पर ऊगे सो साधारण विपरीत असाधारण अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। ये उपचार से साधारण कही जा सकती हैं। क्योंकि इन के भीतर साधारण पन के जो चिह्न बतलाये जाते हैं वे जब तक पायेजायेंगे तब तक तो वे साधारण कही जायंगी बाद में अप्रतिष्ठित। अत एव जिन वनस्पतियों में अप्रतिष्ठित पूर्व सप्रतिष्ठित उत्तर रूप. दो भंग पाये जांय, वे मुख्य अनंत काय या साधारण मानना चाहिए। और जिनमें (१) अप्रतिष्ठित (२) सप्रतिष्ठित (३) अप्रतिष्ठित रूप तीन भङ्ग पाये जांय वे उपचरित अनन्त काय हैं। इसी भाव को हृदय में रखकर महा पण्डित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत के चौथे अध्याय २२ श्लोक की टीका में अनन्त काय शब्द के मुख्य और उपचरित इस तरह दो अर्थ किये हैं। और उन दोनों के भिन्न २ दो उदाहरण दिये हैं। मुख्य अर्थ में लिखा है कि "अनन्तकायः अनन्तः साधारणः कायो येषांते साधारणाङ्गाः स्नुहीगुडुच्यादयः" और उपचरित अर्थ में लिखा है कि "अनन्तनिगोदाश्रितत्वादनन्तकाय. येषा तेऽनन्तकायाः मूलकादयः प्रतिष्ठितांगाः प्रत्येकभेदाः" उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनन्त काय वनस्पति दो प्रकार की हैं। और उनका अवस्थान भी दो प्रकार का भिन्न २ है। स्नुहि (थूहर) गुडुची (नीमगिलोय) आदि साधारण अनन्तकाय हैं। पणक, किण्व, कवक और कुहण आदि भी इसी भेद के अन्तर्भूत है।

पणक —गीली ईंट, मिट्टी, दिवाल, पर हरे आदि रंग की उत्पन्न होती है, उन्हें पणक कहते हैं।

किण्व —वर्षाकाल में जो छत्राकार वनस्पतियां होती है उनको किण्व कहते हैं।

कवक— शृङ्ग से उत्पन्न हुए जटाकार अङ्कुरों को कवक कहते हैं।

कुहण—आहार कांजी आदि के ऊपर जो सफेदी फूलन आजाती है उसे कुहण (उल्लम) कहते हैं।

ये सब वनस्पति के सप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप या मुख्य साधारण रूप भेद हैं।

"नैव पुष्पं द्विधा कुर्यात् न छिन्द्यात् कलिकामपि ।
चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमंफलम् ॥१३०॥ (उमास्वामिश्रावकाचार)

अर्थ—फूल के दो टुकड़े कभी नहीं करने चाहिये । तथा कली को भी नहीं मोड़ना चाहिये । कली के दो टुकड़े नहीं करने चाहिये चम्पा कमल आदि की कली के दो टुकड़े करने से मुनि हत्या के समान पाप लगता है ।

उक्त प्रमाण से सिद्ध होता है, कि यदि टूटे हुए फल पुष्पादि अचित्त होते तो उमास्वामि श्रावकाचार में उक्त श्लोक के द्वारा फूल की एक कली को तोड़ने में मुनि हत्या का पाप क्यों बताया जाता ? इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि टूटे फल पुष्पादि सचित्त हैं ।

सार चतुर्विंशतिका में सचित्तत्याग प्रतिमा को धारण करने वाले का स्वरूप लिखा है कि—

"यो नात्ति कृपया सर्वं सचित्तं जीवसंकुलं ।
स दयापरिणामेन मोक्षदं धर्ममाचरेत् ॥२२॥
इति ज्ञात्वा बुधैस्त्याज्यं हालाहलमिवानिशं ।
कृत्वा जिह्वावशे कृत्स्नं सचित्तं स्वकृपाप्तये ॥२३॥ (अध्याय ४)

अर्थ—जो दया से अनन्तजीव सहित सभी सचित्तकाय जलादि को भक्षण नहीं करता वह दयामय परिणामों से मोक्ष को देने वाले धर्म का आचरण करता है ।

इस प्रकार निश्चय कर जिह्वा इन्द्रिय को वश में करके अपने ऊपर दया करने के लिये समस्त जीव सहित वस्तु (वनस्पति या जलादि) को विष के समान जान कर त्याग देवें ।

हरितकाय वनस्पति जो वृक्ष से तोड़ी हुई है या काटी हुई, बनाई हुई है, उस हरित काय नाम वनस्पति में अनन्त जीवों की संभावना बहु ज्ञानियों ने बतलाई है । यह वनस्पति सकल पाप के बन्ध को करने की खान, महा पाप के संग्रह की एक मोह पाश, अनन्त जीवों के घात संसार बढाने वाली है । इस हरित काय वनस्पति के दो भेद है । जैसे साधारण और प्रत्येक जिसमें साधारण तो कार्य में नहीं

जाती प्रत्येक के दो भेद हैं। १ सप्रतिष्ठित २ अप्रतिष्ठित। जिस एक शरीर का स्वामी एक ही वह तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। और जिस शरीर के आधार में असंख्यात तथा अनन्त जीव रहें वह से प्रतिष्ठित है। ऐसा समझ कर उसकी दया पाले वही दया मूर्ति श्रावक कहलाता है।

दृष्टांत द्वारा सचित्त विचार

पद्मपुराण के ६४ वें पर्व में बताया गया है मेघकूटपुर का राजा द्रोण मेघ था उसकी अनंगकुसुमा नाम की पुत्री को एक विद्याधर हर कर लेगया। कारण पाकर वह उस कन्या को एक ऐसे अरण्य (जंगल) में छोड़ गया जिसकी खबर उसके पिता चक्रवर्ती को तीन हजार वर्ष तक भी नहीं मिली। तब उस कन्या ने अपने जीवन की आशा छोड़कर ऐसा घोर तप किया कि उस अरण्य में सूखे फल और पत्र खाकर ३००० तीन हजार वर्ष तप किया, अन्त में समाधिमरण कर वह राजा द्रोण मेघ के विशल्या नाम की सुपुत्री हुई। जो कदाचित् हरित् काय में तोड़ने पर जीव नहीं रहते तो वह सूखे फल और पत्र भक्षण करके क्यों तप करती? इससे यह ही सिद्ध होता है कि हरित काय को तोड़ ने मरोड़ने काटने पर भी जीवों का सम्बन्ध नहीं मिटता है।

पद्मपुराण नामा ग्रन्थ से त्रिलोक मण्डन हाथी का कथानक भी उद्धृत करते हैं।

भरत को त्रिलोक मण्डन हाथी को देख कर जातिस्मरण हो गया, उसने श्रावक के व्रत धारण कर लिये तथा वह शुष्क पत्र और और ढोला हुआ पानी ही ग्रहण करने लगा।

जो हरे पत्तों मे टूटने पर जीवराशि न होती तो वह तिर्यञ्च हरे पत्तों को छोड़ कर शुष्क पत्र क्यों खाता?

इससे यह ही ज्ञात होता है कि वनस्पति तोड़ी हुई और बिना तोड़ी हुई सब जीव सहित है। कहाँ तक दृष्टांत दिया जावे वनस्पति में एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं ही।

अष्टम्यादि पर्व के दिनों में हरित का त्याग

इस हरितकाय के सम्बन्ध में लोक व्यवहार में जैनियों के वास्ते इस प्रकार की न मालूम कितने काल से रीति चली आई है कि आज जैनियों के अष्टमी और चतुर्दशी नाम की तिथियां पर्व रूप मानी जाती हैं। इस दिन जैन लोग प्राण जाते हुए भी हरित, शाक, तरकारी, भाजी, पाला आदिक भक्षण नहीं करते। इससे राज दरबार में पंच-पंचायत में इस प्रकार के आचरण से लोक कितनी उच्चता की दृष्टि

से देखे जाते थे। और ऐसे जैनियों की जाति की पूर्व में सत्यता समझते थे कि जैनी लोग इन पर्वतिथियों में एकेन्द्रिय जीव को भी नहीं सताते हैं तो फिर दोइन्द्रिय आदि पञ्चेन्द्रिय जीवों को कैसे सतावेगें ? ऐसी संसार भर के प्राणियों में जैनियों के प्रतिश्रद्धा थी। किन्तु आज कल के संयमियों तक में भी कतिपय पुरुषों में ऐसी शिथिलाचारिता आगई है कि जो अपनी जिह्वाइन्द्रिय की लोलुपता में आकर सभा में ऐसा उपदेश देने लग गये हैं कि वृक्ष से फल पुष्प तोड़ लिये गये पश्चात् हरित में जीव नहीं है। इस उपदेश को सुन कर लोगों में जो पचासों वर्ष से जिनके त्याग व्रत था वे लोग ऐसे वेष धारी मुनियों के वचनों को सुनकर व्रत, त्याग तोड़ दिया। उन वेषधारी त्यागियों ने गृहस्थों के त्याग को पूर्ण रीति से प्रयत्न कर तुड़वा दिया। और ऊपर से ऐसी साक्षी दी कि इसमें जितना भी दूषण पाप होगा सो हमारे सिरपर है इस प्रकार सुदृढ़ वचनों से गृहस्थ लोगों ने ऐसे वेषधारी मुनियों को सच्चे मुनि समझकर जो धर्म रूपी त्यागमर्यादा थी वो सब तोड़दी।

अभक्ष्य वनस्पति

प्रश्न—शास्त्रों में इस प्रकार का लेख मिलता है कि निम्न लिखित वस्तुएं अभक्ष्य हैं ? सो इनका स्पष्टीकरण कीजियेगा। १ तरबूज (मतीरा) २ कोहला (काशीफल–कुमड़ा–कदू) ३ सोड़ावाटर (लेमन) ४ बिस्कुट ५ गढेलू (लोकी, केदार तुमड़ी, घीया) ६ बाजरी के सिट्टे ७ जुवार के भुट्टे ८ पत्ती का शाक ९ सेम १० भिण्डी ११ पाल के आम १२ मक्की के भुट्टे (पत्ते रख कर सिके हुए) १३ बेर मकोय १४ जामुन १५ अचार १६ मिर्ची मिश्रित कोहला आदि का रायता १७ कलोंजी या हल्दी मिश्रित आचार।

उत्तर—(१) तरबूज को केवल पं० आशाधरजी ने जो कि पीत और लाल वर्ण का है परिणामों में घृणित विकल्पों के आने के कारण अभक्ष्य बताया है। श्वेत के विषय में कोई निषेध नहीं किया है (२) कोहला अत्यन्त उष्ण है अतः सफेद बच्चे की संभावना से तथा बड़े फल को पूर्ण न खाने के कारण से प्रतिदिन सड़ते रहने के कारण अभक्ष्य कहा है। वस्तुतः खटाई डाल कर साग बनाकर खाया जावे तो कोई दोष नहीं है ऐसा रसायन सार वैद्यक की पुस्तक में लिखा है। (३-४) सोडावाटर-बिस्कुट (चाय दूध पानी-भोजन आदि भी जो कि होटल आदि में मिलते हैं) तथा स्टेशन पर खोमचे आदि के पदार्थ हैं ये भी सब शुद्ध रीति से न बनाये जाने से अभक्ष्य हैं। इनके खाने से लौकिक निंदा तथा कम वचन भी होता है अत: त्याज्य हैं। (५) लोकी के गूदे में रूखापन है अतः अभक्ष्य है। (६-७) बाजरी तथा जुवार के सिट्टों पर सेकते समय चतुरिन्द्रिय जीव चलते फिरते और उड़ते दृष्टिगत होते हैं। उनके सेकने में बहु संख्यक त्रस जीवों का घात होता है अतः त्याज्य एवं अभक्ष्य हैं। (८) पत्ती के शाक के विषय में चतुर्मास में सर्वथा अभक्ष्य माना है, पं० आशाधरजी ने तथा क्रिया कोष में भी अभक्ष्य लिखा है, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में अभक्ष्य कहा है, किन्तु जिसका पत्ता जाड़ा हो उसे अभक्ष्य कहा है जैसे पालक लूणीया मूलि के पत्ते, थूवर के पत्ते

पोदीने के पत्ते आदि। जाड़े पत्ते होने के निमित्त से चलते फिरते जीवों का सम्बन्ध रहता है। अतः दयामयी जैनों को त्याज्य ही हैं। (९-१०) सेम और भिण्डी सचिक्कण तथा पौष्टिक है इसके आश्रित कोई जीव होतो मर सकता है, अतः खूब सोच कर खा सकते हैं (११) आम पाले में विशेष गर्मी देकर जो पकाये जाते हैं उनमें गर्मी तथा वर्षात के कारण अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है अतः अभक्ष्य हैं। (१२) पत्ते रखकर सिके हुए मक्का के भुट्टों में जीव हिंसा होती है। अतः पत्तों से सिके भुट्टे अभक्ष्य हैं। (१३-१४-१५) बोर-मकोए-जामुन अचार ये पदार्थ भी अनन्त जीवों के पिण्ड रूप होने से अभक्ष्य है (१६) मिर्च के बीज दो फड़े होते हैं अत: दही के साथ विदल हो जाता है अतः वह रायता आदि अभक्ष्य है (१७) अचार में कलोंजी और हरी हल्दी डालने से अभक्ष्यता आजाती है और अनन्त जीवों की भी उत्पत्ति हो जाती है। अतः अभक्ष्य है।

प्रश्न—पर्वणी में (अष्टमी–चतुर्दशी में) हरित वस्तु क्यों नहीं खाते ?

उत्तर—जैनधर्माचार्यों ने इस पर्वणी के विषय में जो महत्व बतलाया है उसको बतलाते हैं—

अष्टम्यादी पर्व का महत्व

"यः पर्वण्ययुपवासं हि विधत्ते भावपूर्वकं।
नाकराज्यं च संप्राप्य मुक्तिनारीं वरीष्यति ॥२७॥
प्रोषधं नियमेनैव चतुर्दश्यां करोति यः।
चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥२८॥ (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अ० १६)

अर्थ—जो पुरुष पर्व के दिनों में भाव पूर्वक उपवास धारण करते हैं, वे स्वर्ग के राज्य का उपभोग करके अन्त में अवश्य मुक्तिरूप स्त्री के स्वामी होते हैं।

जो चतुर्दशी के दिन नियम पूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह चौदह गुण स्थानों को पारकर मोक्ष में जा विराजमान होता है।

"अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमाः।
हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्तिं सुदृष्टयः ॥३३॥

अष्टमे दिवसे सारे यः कुर्वन्प्रोषधं वरम् ।
इन्द्रराज्यपदं प्राप्य, क्रमाधाति स निर्वृत्तिम् ॥३४॥ (प्रश्नो श्रा० श्र० १६)

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमी के दिन उपवास करते हैं, वे आठों कर्मों को नष्ट कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं

अष्टमी का दिन सब में सार भूत है, उस दिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है, वह इन्द्र का साम्राज्य पाकर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

इन अष्टमी और चतुर्दशी पर्वों का माहात्म्य शास्त्रकारों ने बहुत ही महत्व पूर्ण बताया है और भी वैसा ही। अगर ऐसा नहीं होता तो जैनाचार्य में शास्त्रों में कदापि नहीं कहते। इससे यह ही सिद्ध होता है गृहस्थों को सदा पर्वों में उपवास ही करना चाहिये।

प्रश्न—जब जैनाचार्यों ने अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना ही गृहस्थों के लिये कहा है किन्तु ये लोग उपवास करने में दुर्बलता दिखाकर अष्टमी और चतुर्दशी को हरितकाय का परित्याग करने लग गये, फिर उसको भी इन्होंने क्यों छोड़ दिया ?

उत्तर—गृहस्थों ने यह जो उपवास करना छोड़ दिया वह अपनी नासमझी से छोड़ा। किन्तु उसके बदले में पर्वणी में हरितकाय का परित्याग किया यह भी अच्छी ही बात थी, उसके करने में भी इनकी कीर्ति थी कि जैन पर्वणी में एकेंद्रिय जीव तक को नहीं सताते हैं। इससे इनकी जैनेतर समाजपर छाप थी किन्तु आजकल जैनों में बहुत से ऐसे लोग होगये, जो कहने लग गये कि अष्टमी और चतुर्दशी से प्रथम तो हरित में जीव नहीं था अष्टमी और चतुर्दशी में कहां से आगये। उनको यह पता नहीं है कि भगवान् आदीश्वर ने क्या उपदेश दिया है—

"हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणं ।
सम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥११॥ (आदिनाथ पुराण पर्व ३८)

अर्थ—यहां भरत ने उन सब आये हुए जैनों की परीक्षा करने के लिये अपने घर में आंगन को हरे अंकुरे पुष्प और फलों से खूब भर दिया।

"ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमानाः महान्वयाः ।
नैषुः प्रवेशनं तावद्यावदार्द्राङ्कुराः पथि ॥१३॥ (आदि० पु० प० ३८)

अर्थ—वह बड़े २ कुलों में उत्पन्न हुए और अपनी व्रतों की सिद्धि की पूर्ण रूप से चेष्टा करते हुए जब तक मार्ग में हरे अंकुरे थे तब त० उन्होंने उसमें प्रवेश करने की चेष्टा नहीं की।

सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणं ।
निश्चक्रमुः कृपालुत्वात् के चित् सावद्यभीरवः ॥१४॥
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणिव्यपरोपणं ।
न कल्पते ऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥१७॥(आदि. ५,३८)

अर्थ—पापों से डरने वाले कितने ही दयालु लोग जो राजा का आंगन हरेधान्यों से भरा हुआ था। उसे बिना उलंघन किये ही वापिस लौटने लगे। तब फिर अत्यन्त आग्रह करने पर दूसरे प्रासुकमार्ग से राजा के आंगन को उलंघ कर चक्रवर्ती के पास पहुंचे तब चक्रवर्ती ने उनसे पूछा कि आप लोग किस कारण से पहले नहीं आये थे। तब वे चक्रवर्ती से बोले कि आज पर्व के दिन (अष्टमी या चतुर्दशी में) नये कोमल पत्ते और पुष्पादिकों का घात नहीं कर सकते और अपना कुछ बिगाड़ नहीं करने वाले ऐसे पत्ते फूलों में उत्पन्न हुए जीवों का घात नहीं कर सकते।

"सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८॥
तस्मान्नास्माभिरा क्रान्तमद्यत्वेत्वद्गृहाङ्गणं ।
कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥ (आदि. ५. ३८)

अर्थ— हे देव ? अंकुरे आदि हरितकाय में निगोद राशि के अनन्त जीव रहते हैं, इस प्रकार सर्वज्ञ देव के वचन हमने सुने हैं। इस लिये अत्यन्त गीले ऐसे फल पुष्प और अंकुरे आदि से सुशोभित ऐसा आपके घर का आंगन आज हमलोगों ने नहीं खूंदा अर्थात उसके ऊपर होकर हम लोग नहीं आये।

इस प्रकार जैन धर्म के आदर्श रूप भगवान् परमदेव आदिनाथ स्वामी के वचन हैं कि जब तक हरित काय में गीला पन है तब तक वह सचित्त (सजीव) है। इसलिये जैनों को चाहिए कि पूर्वजों के वचनों को आदर्श दृष्टि से देख कर तदनुकूल आचारण करें और उनकी आज्ञा का उलंघन न कर शिथिलाचारी एवं पापी न बने; जिससे धर्म के बदले अधर्म न हो।

प्रश्न—इन बातों में जो सिद्धांतों में बताई हैं, इतना परिवर्तन इतने से वर्षों में ही नहीं हुआ है। सुनते हैं कि पंचम काल का आधा समय व्यतीत हो चुका तब इतना विपरीतता फैली है-यह कहां तक ठीक है ? और हरी शाक तथा वनस्पति के खाने से ऐसी कौनसी हानि हो गई है जिससे आप इतना कह रहे हैं ?

उत्तर—अष्टमी और चतुर्दशी को जो जैन लोग हरित वनस्पति आदि खाने लगे हैं उससे बड़ी भारी हानि हुई है। प्रथम तो हानि यह हुई है कि जैन समाज को जो अन्य समाज दयालु और सत्यवादी समझता था अब प्रतिज्ञा तोडने से वे लोग उसे असत्य वादी तथा दया विहीन समझने लगे हैं। दूसरी सिद्धांत दृष्टि से यह हानि है कि जो एक माह में कम से कम ४ दिन संयम पल जाता था वह नहीं पलता, पुण्य लाभ के बदले पाप ही होता है। और आज कल पंचम काल के माहात्म्य से जो संयमी साधु कहलाते हैं वे ही असयमी हैं जो संयम से लोगों को च्युत करके स्वयं भी संयम च्युत होते हैं। अधिक क्या लिखें ? यह पंचम काल का माहात्म्य है कि सिद्धांत विपरीत संयम छुड़ाने के आचरण करने वाले भी संयमी माने जाते हैं तथा जैन लोग फिर भी उनके भक्त ही बने हुए हैं।

प्रश्न—इस पंचम काल ने साधुओं को भी इतना क्यों ग्रसित कर लिया ? सुनते हैं कि अभी तो पंचम काल के २५०० वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं ?

उत्तर—तुमारा कहना ठीक है ! परन्तु सिद्धांत ही यह बताता है कि इस पंचम काल में जो महात्मा पुरुष कहलाने वाले हैं वे ही विपरीत आचरण करेंगे। इसके प्रमाण में राजा चन्द्र गुप्त मौर्यने जो १५ वां स्वप्न देखा था तथा भद्रबाहु स्वामी ने उसका फल सुनाया था वह नीचे लिखा जाता है—

"शशिरत्न ढकी पांशु से, याको मुनिवर अर्थ बताय, यतिवर झगड़ा करें परस्पर, महानीति आगे ठहराय।

तो यह बात कैसे असत्य हो सकती थी ?

पंचम काल का कितना समय व्यतीत हुआ

आगे पंचम काल का कितना समय व्यतीत हुआ है इसका निर्णय निम्न प्रमाणों द्वारा करते हैं—

"पंचयमासा पंचयवासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया वे यव्वो स तदो रासी ॥ १ ॥ [धवल सिद्धान्त आचार्य वीर सेन स्वामी]

अर्थ—"तावदिकालो कुदो ६०५-५ एदम्मिकाले सगणरिंदकालपक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदि कालगमणादो वुत्तं च—
छह सौ पांच वर्ष और पांच महीने शक नरेन्द्र के काल में जोड़ देने पर वर्द्धमान का निर्वाण काल माना जाता है।

"गुत्तिपयत्थ भयाइं चोद्दसरयणाइं समइक्कंताइं।
परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्जं सगणरिंदस्स ॥ २ ॥

टीका—अण्णे के वि आइरिया चोद्दस सहस्स सत्त सदतिणउ दिवसेसु जिणणिव्वाणादिणादो अइक्कंतेसु सगणरिंदुप्पत्ति भणंति। वुत्तंच—

अर्थ—दूसरे कोई आचार्य वीर दिन के निर्वाणदिन से लेकर १४७९३ चौदह हजार सातसौ तिराणवें वर्ष बीत जानेपर शक नरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई थी, ऐसा कहते हैं।

"सत्तसहस्साणवसद पंचाण वुदी सपंच मासाय।
अइकत्तो वासाणं जइया तइया स गुप्पत्ति ॥ ३ ॥

टीका—अण्णो केवि आइरिया एवं भणंति ते जहा सत्तसहस्सणवसयपंचाण उदिवरिसेसु पंचमासा हियेसु वड्ढमाणजिण णिव्वुदिदो अइक्कंतेसु सगणरिंदरज्जुप्पत्ती जादात्ति।

अर्थ—तीसरे कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि सात हजार नौसे पंचानवे ७९९५ वर्ष और पांच महिने वर्धमान जिनेन्द्र के निर्वाण के दिवस वाद शक नरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई था।

इनके अतिरिक्त और भी आचार्य इसी प्रकार बताते हैं ?

भगवान महावीर के निर्वाण समय के सम्बन्ध में आचार्य श्री वृषभसेन अन्य ग्रन्थों की गाथा निम्न प्रकार से बताते हैं।

"वीरजिणं सिद्धगदे चउदस इगिसट्ठगास परिमाणे ।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णमे इत्थसगरा ओ ॥ १४६६ ॥

अर्थ—भगवान वीर जिनेन्द्र के मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् चारसौ इकसठ वर्ष प्रमाण काल के व्यतीत होने पर यहां शक राजा उत्पन्न हुआ ।

"अहवावीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मिसगसयब्भहिए ।
पणसीदिम्मि यतीवे पणमासे सकणि ओजादो ॥ १४६७ ॥

[पाठान्तरं-त्रिलोक प्रज्ञप्ति चतुर्थ०]

अर्थ—वीर भगवान् के सिद्ध होने के पश्चात् ६७८५ नौ हजार सातसौ पिच्यासी वर्ष और पांच मास के बीत जाने पर शक नृप उत्पन्न हुआ ।

"चोद्दस सहससगसय तेण उदीवास कालविच्छेदे ।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पाणो सगणि ओ अहवा ॥ १४६८ ॥ [पाठान्तरम्]

अर्थ—वीर भगवान की मुक्ति के पश्चात् चौदह हजार सातसौ तिरानवें १४७६३ वर्षों के व्यतीत होने पर शक नृप उत्पन्न हुआ ।

"णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसु असंजादो सगणि ओ अहवा ॥ १४६६ ॥

अर्थ—वीर भगवान के निर्वाण के पश्चात् छहसौ पांचवर्ष और पांच महीने के चले जाने पर शक नृप उत्पन्न हुआ ।

आगे जैन बोधक समाचार पत्र वर्ष ५१ अङ्क १०–११ वां चैत्र सुदि १ अप्रेल सन १६३५ सुवर्णज्युबिली अङ्क के लेख से उद्धृत कर लिखते हैं—

विक्रम सम्वत् की उत्पत्ति

विक्रम सम्वत कबसे प्रारंभ हुआ इस विषय पर एक मत तो इस प्रकार हैं ।

"विक्कमरज्जारंभा पर ओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया ।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो विक्कमकालाउजिणकालो ॥ १ ॥

अर्थ—भगवान महावीर स्वामी निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत चालू हुआ ।

द्वितीयमत—

"वरसाणं सयछक्कातिगमीदि जुदाय जिणिंदवीरस्स ।
णिव्वाणं संपत्ते उप्पण्णो विक्कमो रायो ॥ १ ॥

अर्थ—वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद विक्रम राजा उत्पन्न हुआ ।

तृतीयमत—

"वरसाणि सयछक्के सत्तरि जुत्ताइं जिणिंदवीरस्स ।
णिव्वाणे संपत्ते उप्पण्णो विक्कमो रायो ॥ १ ॥

अर्थ—वीर निर्वाण के ६७० छसौ सत्तर वर्ष बाद विक्रमादित्य उत्पन्न हुआ ।

१—इन सब मतों में धवल का प्रथम मत और त्रिलोक प्रज्ञप्ति का चतुर्थ मत समान है ।

२—इसी प्रकार धवल का दूसरा और पांच महिने वाला तीसरा तथा त्रिलोक प्रज्ञप्ति का तीसरा मत (१४७९३ वाला) भी समान है ।

३—धवल का ७९९५ वें वर्ष और पांच महिने वाला तीसरा तथा त्रिलोक प्रज्ञप्ति का ९७८५ वर्ष और पांच महिने वाला दूसरा मत ये दोनों मत जुदे २ हैं ।

४—त्रिलोक प्रज्ञप्ति का ४६१ वाला पहला मत धवल में है ही नहीं । एवं भगवान महावीर के निर्वाण के बाद शक राजा की

उत्पत्ति के सम्बन्ध में पांच मत हैं, वे उक्त रीत्या ४६१+६७८५ वर्ष ५ महिने । ७६६५ वर्ष ५ महिने । तथा १४७६३ । और ६०५ वर्ष ५ माह ।

आज इन पांच प्रकार के मतों में से भगवान् वीर का निर्वाण संवत् कौनसा ठीक है । आज सं० विक्रम२००५ है । इन का निश्चय करने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं हैं । क्योंकि इस का वाद विवाद तीसरी तथा चतुर्थी शताब्दी की बनी हुई त्रिलोक प्रज्ञप्ति से भी निर्णीत नहीं होता है । एवं ८ वी शताब्दी के द्वारा बने हुए धवल ग्रन्थ राज से निर्णय नहीं हो सका तो फिर सामान्य व्यक्ति क्या निर्णय करेगा ?

अहिंसा तत्व के प्रदर्शक महावीर स्वामी के निर्वाण काल का प्रश्न इस कारण उठाया गया है कि उनका प्ररूपित अहिंसा मार्ग आज कल के मुनि तथा श्रावकों तक से भी आक्रमण का लक्ष्य बन गया है तथा बन रहा है। अतः मुनिलोग भी अष्टमी तथा चतुर्दशी को हरित न खाने की प्रतिज्ञायें तुड़वाने का प्रचार कर रहे हैं । तथा अष्टाह्निकाओं की चतुर्दशी तक में भी शाक के साथ भात जीमने का करोड़ों उपवासों का फल होता है ऐसा ग्रन्थों में लिख दिया गया है। पंचामृताभिषेक, रात्रि. पूजन करना, पुष्प चढाना, केसर चढ़ाना, गावों में दो पार्टी बना लड़ाई कराना आदि के प्रचार का काम निष्परिग्रही दिगम्बर मुद्रा धारियों द्वारा किया जा रहा है । यह विचार नहीं किया जा रहा है कि हमतो अहिंसा महाव्रत के धारण करने वाले हैं फिर एकेन्द्रिय जीवों का घात, शाकादि एवं वनस्पति का संहार क्यों करवावें, क्यों छिदवावे, क्यों रंधवावें आदि । अबतो मुसलमान और हिन्दुओं का सा विरोध किया जारहा है जैसे यदि हिन्दु मुंह आदि धोने का काम सीधो तरह से करें तो मुसलमान उस से विपरित करते हैं । यह ही दशा इन हरित काय वनस्पति आदि की प्रतिज्ञा तुड़वाने वाले मुनियों की है । इन बातों से ज्ञात होता है कि जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति धवल आदि ग्रन्थों में महावीर स्वामी का समय मिलता है वह ठीक है । महावीर स्वामी के निर्वाण को बहुत काल व्यतीत हो चुका है । अत एव यह पंचमकाल का प्रभाव जोरों के साथ मुनि तथा श्रावकों में होगया है तथा होता जारहा है । जो आजकल वीर निर्वाण सं० २४७५ का प्रचार में आरहा है वह सही प्रतीत नहीं होता है ।

भगवान महावीर के निर्वाण काल के सम्बध में कुछ समय पूर्वसमाचार पत्रों में इस प्रकार चर्चा चली थीः—

"अब व्यवहार में वीर निर्वाण स० २४६६ माना जारहा है इसकी पूर्णता में ७ माह की कमी है । इसलिये २४६८ वष ५ माह चैत्र कृष्णा अमावस्या तक होते हैं ।

भगवान का निर्वाण कार्तिक वदि १५ के प्रभात में तथा चतुर्दशी की रात में हुआ है । शक सं० १८६४ इसी चैत्र कृष्णा अमावस्या को पूर्ण होता है । शक सं० १८६४ में ६०५ वर्ष ५ महीने जोड देने पर वीर निर्वाण सम्वत २४६६ पर ५ माह अधिक होते हैं । जो

वर्तमान २४६६ के स्थान पर २४७० लिखा जाना चाहिये। परन्तु लिखा नहीं जाता।

इसके अतिरिक्त विक्रम सम्वत के हिसाब से भी एक वर्ष का फर्क आता है। विक्रम सम्वत् भी चैत्र वदी १५ को पूर्ण होता है। और सुदि १ से प्रारम्भ होता है। कोई शास्त्र ऐसा कहता है कि वीर निर्वाण सम्वत् से ४७० वर्षबाद विक्रम शक हुआ है। तो भी ४७० वर्ष और ५ महीना मानना चाहिये। क्योंकि पूरे ४७० लिये जावें तो कार्तिक सुदी १ से वीर सम्वत् प्रारंभ होना चाहिये। परन्तु होता है चैत्र सुदि १ से। इससे मालूम होता है कि वीर निर्वाण के ४७० वर्ष ५ महीने बाद विक्रम शक हुआ है।

करीब २४२५ से वीरनिर्वाण सम्वत् लिखा जाने लगा है। उस समय के लोगों ने उस समय के विक्रम संवत में ४७० जोड़ कर वीर निर्वाण संवत् बना लिया है। विद्वत्समाज इस पर विचार करे।"

भगवान महावीर की आयु के सम्बन्ध में मत भेद

आगे महावीर स्वामी के आयु के विषय में भी जो आचार्यों के मत भेद हैं उनको दिखाते हैं—

अनेक आचार्य भगवान महावीर की आयु ७२ वर्ष की मानते हैं।

तथा कोई अन्य आचार्यों ने ७१ वर्ष ३ माह २५ दिन की आयु मे गर्भस्थकाल, कुमार काल, छद्मस्थ काल, और केवली काल का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

"आषाढ़ सुसितषष्ट्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रितेशशिनि।
आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः॥ १॥
सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः॥ २॥
चैत्रसितपक्षफाल्गुनि शशाङ्कयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ३॥

हस्ताश्रिते शशाङ्के चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशी दिवसे ।
पूर्वाह्णेरत्नघटैर्विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—पुष्पोत्तर विमान के अधिपति अथवा पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर भगवान महावीर स्वर्गीय सुखों को भोग कर आषाढ शु० ६ दिन जब चन्द्रमा हस्त नक्षत्र पर था, भारत वर्ष के विदेह देश की राजधानी कुण्डलपुरके स्वामी, सिद्धार्थ राजा की देवी प्रिय कारिणी (त्रिशला) को शुभ स्वप्न देकर गर्भ में आये थे। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के रोज (रात में) उन्होंने जन्म लिया था। उस समय नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनी था, चन्द्रमाका योग था। सब ग्रह अपनी २ राशि के उच्च स्थान में थे और सौम्य थे, लग्न शुभ थ', दूसरे दिन चतुर्दशी को जब कि चन्द्रमा हस्ताश्रित था, पूर्वाह्ण के समय देवों ने रत्न जड़ित कलशों से त्रिलोकीनाथ का अभिषेक क्षीर सागर के जल से किया था।

द्वितीयमत—

"सुरमहिदो चुदकप्पे भोगं दिव्वाणु भागमणुभूदो ।
पुप्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदोसंतो ॥ १ ॥
बाहत्तरि वासाणिय थोव विहीणाणि लद्धपरमाऊ ।
आसाढ जोण्हपक्खे छट्ठीए जोणि मुवगादो ॥ २ ॥
कुंडपुरिपुरिस्सर सिद्धत्थ खत्तियस्सणाहकुले ।
तिसलाए देवीए देवीसद सेवमाणाए ॥ ३ ॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठय दिवसं चइत्तसित्त पक्खे ।
तेरसिए रत्तीए जादुत्तर फग्गुणीए दु ॥ ४ ॥"

अर्थ—अन्य आचार्य कहते हैं। देवों द्वारा पूज्य भगवान महावीर उत्तम २ दिव्य भोगों को भोगकर अच्युत कल्प के पुष्पक विमान से च्युत होकर कुछ कम ८ महीने ५ दिन कम बहत्तर वर्ष की आयु लेकर कुण्डल पुर के स्वामी नाथवंशी राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय की सैकड़ों देवियों द्वारा सेवित त्रिशला (प्रियकारिणी) देवी के गर्भ में आषाढ़ सुदि ६ दिन आये थे। और नौ महीने ८ दिन तक गर्भ में रहकर चैत्र सुदि तेरस की रात में उत्तरा फाल्गुन नक्षत्र में जन्मे थे। इस प्रकार आषाढ़ सुदि ६ से चैत्र सुदि १३ तक नौ महीने और ८ दिन गर्भवास के होते हैं।

"भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाण्यनन्तगुणराशिः ।
अमरोपनीतभोगान् सहसाऽभिनिबोधितोऽन्येद्युः ॥ १ ।
नानाविधरूपचितां विचित्रकूटोच्छ्रितां मणिविभूषां ।
चन्द्रप्रभाख्यां शिविकामारुह्य पुराद्विनिष्क्रान्तः ॥ २ ॥
मार्गशिरकृष्णदशमी हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे ।
षष्ठे नत्वपराह्णे भक्तेन जिनः प्रवव्राज ॥ ३ ॥

अर्थ—ऊपर गर्भवास का वर्णन किया। अब कुमार काल से वर्णन करते हैं। एक आचार्य लिखते हैं कि गुणों के पुंज भगवान महावीर कुमार काल में ३० वर्ष पर्यन्त देवों द्वारा आनीत गन्ध माल्य आदि भोग वस्त्र आभरण आदि उप भोग भोगकर एक दिन विरक्त हुए और शीघ्र ही लोकान्तिक देवों द्वारा प्रबोधित हुए। वे नाना प्रकार के रूपों से युक्त तरह २ के कूटों से ऊंची मणियों से जड़ी हुई चन्द्र प्रभा नामकी शिविका (पालकी) में बैठ कर नगर से निकले और मगसिर वदि १० दशमी के दिन चन्द्रमा के हस्त नक्षत्र पर होने पर षष्ठ भक्त (दो उपवास वेला) धारण कर अपराह्न के समय दीक्षित हुए।

"मणुवत्तणसुहमतुलं देवकयं सेविऊण वासाई ।
अट्ठावीसं सत्तयमासे दिवसे य वारसयं ॥ १ ॥
आभिणिवोहिय वुद्धो छट्ठेण य मग्गसीस बहुलाए ।
दसमीए णिक्खंते सुरमहिदो णिक्खमण पुज्जो ॥ २ ॥

अर्थ—देवकृत अनुपम मनुष्यत्व सुखको अट्ठाईस वर्ष ७ माह १२ दिन पर्यन्त भोगकर अपने आप बोधित हुए उसी समय देवों ने आकर पूजा की, षष्ठोपवास धारण कर मंगसिर कृष्णा दशमी को वे निकले और निष्क्रमणक कल्याणक द्वारा पूजित हुए अर्थात् मंगसिर वदि १० को उन्होंने दीक्षाली।

जिनेन्द्र महावीर का जन्म चैत्र शु० १३ रात्रि को हुआ था इसलिये चैत्र के दोदिन वैसाख से लेकर अट्ठाईस वर्ष पुनः वैसाख से लेकर कार्तिक तक ७ मास और मगसिर वदि १० तक के १० दिन एव अट्ठाईस वर्ष ७ मास और १२ दिन कुमार काल के हुए।

पहला मत जो कि कुमार काल के ३० तीस वर्ष कहता है वह गर्भ काल के नौ महीने ८ दिन सहित मालूम पड़ता है। अर्थात् गर्भ काल और कुमार काल दोनों मिलाकर ३० वर्ष मालूम होता है।

दूसरा मत जो गर्भ काल के नौ महीने और ८ दिन और कुमार काल के २८ वर्ष सात ७ मास २२ दिन प्रमाण है दोनों को मिला देने पर २९ वर्ष ४ माह २० दिन प्रमाण होता है। फिर भी ७ माह १० दिन का अन्तर स्पष्ट है। ये कुमार काल की विवेचना हुई।

आगे निष्क्रमण काल को कहते हैं—

"ग्रामपुरखेटकर्वटमटंबघोषाकरान् प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥ १ ॥
ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमे संश्रिते शिलापट्टे।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जंभिकाग्रामे ॥ २ ॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रितेचन्द्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—दीक्षाके अनन्तर वे अमर पूज्य भगवान अनेक प्रकार ऊँचे तपश्चरणों को करते हुए बारह वर्षों तक ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटंब, घोष और आकारों में विहार करते रहे थे। एक दिन जंभिका ग्राम के समीप वर्तिनी ऋजु कुला नदी के तीर पर शाल वृक्ष के नीचे शिला पट्ट पर अपराह्ल के समय दो दिन का आतपन योग धारण कर स्थित होगये थे। और वैसाख सुदी १० के दिन जब चन्द्रमा हस्तोत्तर मध्यामाश्रित था तब क्षपक श्रेणि आरूढ हुए थे और तभी उनको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था।

"गमइयं छेदुमत्थत्तं बारसवासाइं पंचमासे यं।
पण्णरसाणि दिणाणि च तिरयणसुद्धो महावीरो ॥ १ ॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादविंते अवरण्हे पादछायाए ॥ २ ॥

वइसाह जोण्ह पक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो ।
हंतूण घाईकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥ ३ ॥

अर्थ—अन्य आचार्य कहते हैं–कि दीक्षा ग्रहण के अनन्तर त्रिरत्न शुद्ध भगवान महावीरा बारह वर्ष पांच माह १५ दिन छद्मस्थ अवस्था को व्यतीत कर जंभिका ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के तीर पर शिलापट्ट के ऊपर दो दिन का आतपन योग धारण कर ध्यानोन्मग्न होगये थे। वैसाख सुदी १० के दिन अपराह्न के समय जब की जंघा की छाया पाद प्रमाण थी क्षपक श्रेणी में आरुढ़ हुए थे। और चार घातिया कर्मों को ध्वंस कर केवल ज्ञान को प्राप्त हुए थे।

भगवान महावीर ने मगसिर वदि १० को दीक्षा धारण की थी वैसाख सुदी १० को आपने केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इसलिये मंगसिर वदि ११ से लेकर सुदि १५ तक २० दिन, फिर पौष से चैत्र तक चार महीने और वैसाख सुदी १० तक के २५ दिन, इस तरह पांच माह और १५ दिन प्रमाण होता है।

"चातुर्वर्ण्यसंघस्तत्राभूत् गोतमप्रभृतिः ।
छत्राशोकौ घोषं सिंहासनदुंदुभि कुसुमवृष्टिम् ॥ १ ॥
वरचामरभामंडलदिव्यान्यन्यानि चावपत् ।
दशविधमनगाराणामेकादशधेतरं तथा धर्मम् ॥ २ ॥
देशयमानो व्यहरन् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ।
पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डतेरम्ये–
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥ ३ ॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥ ४ ॥ [पूज्यपाद]

अर्थ—भगवान् पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—केवल ज्ञानके अनन्तर भगवान के पास गौतमादि चातुर्वर्ण्य संघ एकत्रित हुआ था। भगवान छत्रत्रय, अशोक वृक्ष, दिव्यध्वनि, सिंहासन; दुंदुभि, कुसुमवृष्टि; चामर और भामंडल इन आठ प्रातिहार्य को और भी अन्य गगन

गमनादि अतिशयों को प्राप्त हुए थे। अनन्तर वे मुनि और गृहस्थों के दश और ११ प्रकार के धर्म का उपदेश करते हुए तीस वर्ष तक विहार करते रहे। एक दिन वे भगवान दो दिन का योग निरोध कर कमलों से युक्त और जल से भरी हुई वापिकाओं के समूह से और तरह २ के वृक्षों के समुदाय से अलङ्कृत पावापुर नगर के रमणीय उद्यान में कायोत्सर्ग धारण कर जा खड़े हुए। और कार्तिक वदि १५ के प्रभात में स्वाति नक्षत्र में अवशिष्ट चार अघातिया कर्म रज को नष्ट कर अमर और अजर तथा अक्षय सुख को प्राप्त हुए।

अन्य आचार्य केवल ज्ञान का कथन निम्न प्रकार करते हैं—

"वासाणि गुणतीसं पंचय मासे य वीस दिवसेण।
चउविह अणगारेहिं बारहविह गणेहि विहरंतो ॥ १ ॥
पोच्छा पावाणयरे कत्तिय मासस्स किण्ह चोद्दसिए।
रत्तीए सेसरयं छेत्तुं महावीर णिव्वा ओ ॥ २ ॥

अर्थ—उनतीस वर्ष, ५ माह और २० दिन पर्यन्त भगवान ने चार प्रकार के अनगारों से युक्त द्वादश गण के साथ २ विहार किया। पश्चात् पावा नगर में कार्तिक महीने की कृष्ण चतुर्दशी की रात के अन्त में अवशिष्ट कर्मों का नाश कर अपनी आत्मा से पृथक् कर वे निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

उल्लिखित लेख का सार

वैसाख सुदि १० को भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ था और कार्तिक वदि १४ को रात को प्रातःकाल मोक्ष हुआ था। गणनानुसार वैसाख मास से लेकर कार्तिक वदि अमावस्या तक कुल केवलज्ञान के उनतीस वर्ष पांच महीने बीस दिन होते हैं। केवल ज्ञान तक गर्भ काल से लेकर अर्थात् गर्भ काल के भी नौ माह और आठ दिन सहित एवं कुमार के २८ वर्ष ७ माह १२ दिन आदि सब मिलाकर इकहत्तर ७१ वर्ष ३ महीने २५ दिन की आयु बनती है। ऐसा प्रथम मत का कथन है।

द्वितीय लेख के अनुसार पूर्ण ३० वर्ष तो गर्भकाल और कुमार काल के तथा पूर्ण ३० वर्ष केवल ज्ञान के और बीच के पूर्ण १२ वर्ष छद्मस्थ अवस्था के सब मिलाकर ७२ वर्ष की भगवान महावीर की आयु थी।

ऊपर इस विषय में जितना भी लेख दिया है उसमें भी आचार्यों के भिन्न २ मत हैं। विचार ने का विषय है कि हमारे पूज्य अन्तिम नेता तरण तारण श्री महावीर स्वामी के मोक्ष कल्याण एवं मोक्ष प्राप्ति के समय में ही आचार्यों के भिन्न २ मत हैं, तो हम सरीखे अल्पज्ञ इस विषय का क्या निर्णय दे सकते हैं, हां इतना अवश्य हमारा अनुमान है कि महावीर स्वामी को मोक्ष पधारे बहुत समय हो चुका है। आजकल * २४६१ वर्ष निर्वाण काल से व्यतीत हुए कहना लोगों का समुचित नहीं प्रतीत होता। कारण इतने स्वल्प समय में जैन धर्म में इतनी उच्छृंखलता होजाना तथा नये २ ग्रन्थ बनजाना एवं उद्वेग की वृद्धि होजाना, उनका मुख्य अहिंसा तत्व उठने लगना आदि बातें होना प्रतीत नहीं होता। अतः उनका निर्वाण काल जो है वह हमारी मति से अधिक है। विशेष विज्ञ विचार करें।

आगे कुछ कुन्दकुन्दश्रावकाचार के प्रथम उल्लास से कुछ आवश्यक बातों का दिग्दर्शन करते हैं—

जिन प्रतिमा और जिन मन्दिर के निर्माण का वर्णन करते हुए लिखा है कि गर्भ गृह के अर्धभाग के भित्ति द्वारा पांच भाग करे। प्रथम भाग में यक्षादिक की, दूसरे भाग में देवियों की, तीसरे भाग में जिनेन्द्र सूर्य, कार्तिकेय और कृष्ण की चतुर्थ भाग मे शिवलिङ्ग की प्रतिमायें स्थापन करनी चाहिये।

"प्रासादगर्भगेहार्धे भित्तितः पंचधाकृते।
यक्षाद्याः प्रथमे भागे, देव्यः सर्वा द्वितीयके॥ १४८॥
जिनार्कस्कन्दकृष्णानां प्रतिमास्युस्तृतीयके।
ब्रह्मा तु तुर्यभागे स्याल्लिङ्गमीशस्य पंचमे ॥ १४९॥ [कुन्दकुन्दश्रावकाचार]

विशेष विचारणीय विषय है कि यह कथन कदापि कुन्द कुन्द का नहीं हो सकता। और न जैन मत का ऐसा विधान ही है। और न प्रवृत्ति ही इसके अनुकूल पाई जाती है। श्वेताम्बर जैनों के मन्दिरों में भी यक्षादिको छोड़कर महादेव की स्थापना तथा कृष्णादिक की मूर्तियां देखने में नहीं आती। इसलिये यह अनुमानित होता है कि इस पचम काल हुंडावसर्पिणी का समय अधिक व्यतीत हो चुका है। जिससे इस जैन धर्म में इतनी उच्छृंखलता उत्पन्न होगई है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता है।

---

* ग्रन्थ की रचना कालके समय वीर निर्वाण समय २४६१ और प्रकाशन के समय २४७५ प्रचलित है।

चौका (भोजनालय) सम्बन्धी विचार

वर्तमान में चौके के सम्बन्ध में बहुत गड़बड़ी फैली हुई है। शुद्धाशुद्धि का वास्तविक ज्ञान न होने से बहुतों ने तो चौके की शुद्धता के विचार को ही उठा दिया है और बहुतों ने अनावश्यक पोंगापंथी अपना रखी है। व्यर्थ के आडम्बरों से भी लोग चौके की बात को बकवाद सी समझने लगगये हैं। ठीक यह है कि हम शुद्धाशुद्धि का सही विचार करें और शास्त्रानुकूल आचरण करें। चौके से स्वास्थ्य का घनिष्ट सम्बन्ध है और शास्त्रों में स्वास्थ्य की दृष्टि को रखते हुए पूर्ण विचार किया है। उसके अनकूल आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यहां संक्षिप्त सा विवेचन किया जारहा है।

चौका—जहां पर शुद्धता पूर्वक निर्विघ्न रूप से रसोई बनाई जासके उसका नाम चौका है। इस चौके में आचार शास्त्र के अनुसार १ द्रव्य शुद्धि, २ क्षेत्र शुद्धि, ३ काल शुद्धि, ४ और भाव शुद्धि, की आवश्यकता है। चारों शुद्धियों की स्थिति में चौका वास्तविक चौका है, अन्यथा नही ?

१—द्रव्य शुद्धि—जितनी वस्तुएँ भोजन सामग्री की चौके में लेजाई जावें उन्हें अपने हाथ से लाये हुए शुद्ध जल से धोलेना चाहिये और पहनने के कपड़े भी शुद्ध होने चाहिये। बिना धुली हुई चीज चौके में नहीं लेजानी चाहिये तथा अनाज नमक, हल्दी धनियां, मिर्च, दाल, दिन का पिसा हुआ आटा, बेसन, मर्यादा युक्त मसाला, पापड, मगोड़ी, शाक आदि सभी शुद्ध होने चाहिये। चूल्हे में बीधी (घुनी) लकड़ी नहीं जलानी चाहिये। और कंडे चौके में नहीं लेजाने चाहिये। क्योंकि गोबर शुद्ध नहीं होता है। वह केवल बाह्य शुद्धि में काम दे सकता है। परन्तु रसोई में लेजाने योग्य नहीं है। अतः आचार शास्त्र की दृष्टि से निषेध किया गया है। और बीधी (घुनी) लकड़ियों के जलाने से त्रस जीवों की हिंसा से जन्य महा पाप लगता है।

सारांश यह है कि भोजन शाला में भोजन बनाने के लिये जो भी सामग्री काम में लाई आवे वह सब श्रावक सम्प्रदाय के आचार शास्त्रानुकूल मर्यादित तथा शुद्ध होनी चाहिये।

२—क्षेत्र शुद्धि— जहां पर रसोई बनाने का विचार हो वहां पर निम्न लिखित बातों का विचार होना आवश्यक है—

१—रसोई घर में चंदोवा बंधा हो। २ हड्डी, मांस, चमड़ा, मृत प्राणी के शरीर, मल, एवं मूत्रादि, न हो। ३ नीच लोग वेश्या डोम आदि का आवास न हो ४ लड़ाई झगड़ा मारो काटो आदि शब्द न सुनाई पड़ते हों।

तात्पर्य यह है कि रसोई के क्षेत्र में सब प्रकार से देख भाल कर रसोई बनानी चाहिये। चौके में विना पैर धोये नहीं घुसना चाहिये। क्योंकि गली आदि में मल मूत्र आदि के पड़े रहने से अपवित्रता आजाती है। अर्थात् शारीरिक अशुद्धि हो जाती है। इसलिये पैर धोने से बाह्य शुद्धि होती है। तथा ऐसा होने से क्षेत्र भी (रसोई का स्थानभी) शुद्ध रहता है। रसोई घर में अच्छा प्रकाश होना आवश्यक है। क्योंकि अन्धकार होने से स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता जीवों की उत्पत्ति विशेष होती है इसलिये दिन में भी रात्रि भोजन का दोष लगता है। एवं चौके की भूमि गोबर से न लीपी जावे, इसका ध्यान रखना चाहिये। प्राचीन आचार्यों ने श्रावकों को गोबर से चौका लीपना नहीं बताया है कहाभी है—

"चन्दनादिभिरालिप्ते भूतले दर्पणप्रभे।
पुष्पोपकारसम्पन्ने नलिनीपत्रशोभिनि ॥ १३३ ॥ [पद्म पुराण ५३ वां पर्व]

भावार्थ—जब रावण सीताजी को हर कर लेगया तब लंका में सीताजी ने पति के समाचार सुनने पर्यन्त अन्न जल का त्याग कर दिया। पश्चात् जब उन्हें हनुमानजी के द्वारा रामचन्द्रजी की खबर मिली, तब उसने लंका के महेन्द्रोदय उद्यान के मध्यगत चौके में रसोई बनाई, उस समय उसने चौके को चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों के जल से लीपा एवं शुद्ध किया।

इससे यह बात प्रमाणित होती है, कि श्रावक लोग चौके को गोबर से कदापि न लीपे। इसी प्रकार त्रिवर्णाचार में तो यहां तक लिखा है कि जहा पर गोबर पड़ा हो, वहां पर मुनि कदापि भोजन नहीं करे।

रसोई यदि चौड़े मैदान में बनाई जावे तो वहां पर चंदोवे की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जहां पर वृक्ष की छाया या मकान हो वहां पर चँदोवा अवश्य होना चाहिये। ऐसी आचार शास्त्र की आज्ञा है।

चौके की मर्यादा होनी चाहिये। विना मर्यादे का चौका नहीं होसता। अत. चौके के प्रमाण का होना आवश्यक है।

३—काल शुद्धि— जब से सूर्योदय हो और अस्त नहो, तब तक अर्थात् सूर्योदय के दो घड़ी ४८ मिनट बाद और सूर्य डूबने से २ घड़ी पहिले का समय का शुद्धि काल है। यही बात गृहस्थों के लिये उपयोगी है। रात्रि में भोजन सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करना चाहिये। जिस से जीवों का घात या उन को बाधा न पहुंचे। दूध दुहना, गर्म करना, कूटना, पीसना, छांछ बिलोना, पानी भरना आदि आरंभ जनित कार्य कदापि नहीं करना चाहिये।

४—भाव शुद्धि—भोजन बनाते समय परिणाम संक्लेश रूप, आर्त रौद्ररूप नहीं होने चाहिये। क्योंकि भोजन बनाते समय

यदि इस प्रकार संक्लेश परिणाम रहेंगे, तो उस भोजन से न तो शारीरिक शक्ति की वृद्धि होगी, और न आत्मीक शक्ति की ही, बल्कि उल्टा असर आत्मा पर पड़ेगा, एवं जिन स्त्री पुरुषों के संसर्ग से आत्मीक परिणाम मलिन या संक्लेश रूप होते हैं उनके संसर्ग का त्याग कर देना चाहिये। कहाभी है—

"दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं तादृशी जायते च धीः ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे दीपक अन्धकार को खाता है, और कज्जल को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जैसा अन्न खाया जाता है, वैसी प्रकार की बुद्धि हो जाती है।

भावार्थ—जैसे दीपक अन्धकार को खाता है, और कज्जल को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार जैसा जिसका खाद्य होता है उसको तदनुकूल ही फल होता है। जब दीपक जलता है, तब प्रकाश होने से अन्धकार उससे भक्षित हो जाता है अतः उसने पहिले अन्धकार को खालिया था। फिर वैसाही उसने काजल उगल दिया। सार यह निकलता है कि जैसा अन्न खाया जाता है वैसा फल होता है—

लोक में भी प्रसिद्ध है कि—

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी ॥ १ ॥"

इस से स्पष्ट है कि यदि भोजन में विकृत खोटे परिणाम वाले और खोटे संस्कार वान् पुरुषों का संसर्ग हो जावे, तो उस भोजन का प्रभाव आत्मापर अवश्य पड़ता है। इसी कारण शास्त्रकारों ने भाव शुद्धि का उल्लेख किया है।

वर्षा ऋतु में गुड़, खारक, दाख, पिण्ड खजूर आदि में त्रस कायिक जीवों की विशेष उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त और भी जिन वस्तुओं में जाले पड़ गये हों, उन को भी अभक्ष्य माना है क्योंकि इन में त्रस जीव राशि उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इनके भक्षण से महान् हिंसा का पाप लगता है।

वस्त्र शुद्धि

सिद्धान्त सार प्रदीप के ५ वेंअध्याय के श्लोक नं० ३१ में अर्हन्त भगवान की पूजा के प्रकरण में वस्त्र के विषय में निम्न प्रकार विवेचन किया है—

चौके के अन्दर गीले कपड़े नहीं ले जाने चाहिये। क्योंकि आचार्यों ने उनको चमड़े के समान बताया है। उनमें शरीर की गर्मी तथा बाहर की हवा की सर्दी लगने से ,अन्तर्मुहूर्त में अनन्त संमूर्छन निगोदिया जी, उत्पन्न होते रहते हैं। और वे स्वांस के १८ वें भाग में उत्पन्न होकर मरते हैं। अतः अधिक हिंसा का पाप लगता है। इस कारण चौके में कभी गीला कपड़ा पहर कर नहीं आना चाहिये। इसी प्रकार विलायती रंग से रंगा हुआ कपड़ा भी चौके में नहीं पहनना चाहिये। कारण कि रंग अपवित्र है। परन्तु केशर हल्दी दाड़िम के रंग से रंगा हुआ कपड़ा चौके में ले जाने का निषेध नहीं है। केसुला के पुष्प से भी रंग सकते हैं। सार यह है कि वस्त्र शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए।

टूंटी के जल का निषेध

जिस टूंटी से अन्य लोग पानी भरते या पीते हैं, उसीसे हमें भी पानी पीना या भरना पड़ता है। नल के पानी में अनन्त काय जीवों का कलेवर होने से वह चलित रस भी हो जाता है। क्योंकि नल में चढ़ते समय पानी ठंडा और गर्म दोनों रूप से रहता है। इसलिये ठंडे और गर्म के मिश्रित रहने के कारण जीवोत्पत्ति मानी गई है। यही कारण है कि नल के जलका त्याग कराया जाता है। इसलिये ऐसा अपवित्र जल चौके में लेजाने के अयोग्य है। इस जल का उपयोग आचार शास्त्र के प्रतिकूल होने के कारण पाप बन्ध का कारण है। नदी तालाब, कुआ, झरना, सोते का जल पीने योग्य है। क्योंकि उसकी जीवानी वापिस भेजी जा सकती है। जिस जल में गन्ध आने लगे वह जल पीने योग्य नहीं है। यदि दुर्गन्ध आने लगे तो समझ लेना चाहिये कि उसमें जीवों का कलेवर सड़ गया है। खुले जलाशयों में पत्तों आदि गिरने से त्रस जीवों की उत्पत्ति मानी जाती है। अतएव दुर्गन्ध रहित, साफ एवं छना हुआ प्रासुक जल काम में लाना चाहिये। प्राकृतिक रूपसे मिलने वाला जल ही पेय है। नल टूंटी में बंधा हुआ पानी आता है—उसकी प्राकृतिकता नष्ट हो जाती है। पराधीनता तो रहती ही है।

कण्डे

गोबर के छाणे चौके में ले जाने योग्य नहीं हैं। क्योंकि यह गाय भैंस आदि तिर्यञ्चों का मल है। यद्यपि श्री अकलङ्क देवने राज वार्तिक में तथा पं० सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा टीका में गोबर को अष्ट प्रकार की लौकिक शुद्धि में निरूपण किया है।

किन्तु यहां आचार शास्त्र के अनुकूल शुद्ध भोजन का सम्बन्ध लोकोत्तर शुद्धि से है। और गोबर लोकोत्तर शुद्धि का घातक है। क्योंकि प्रथम तो यह तिर्यञ्चों का मल है। दूसरे इससे बने हुए कण्डों-छांणों में, अनेक त्रस राशि उत्पन्न होती है। इसलिये महान हिंसा होती है। अतएव इससे बने छाणे रसोई आदि बनाने के उपयोग में नहीं लाने चाहिये। न इन्हें चौके में लेजाना चाहिये। गोबर से शुद्धि मानना लोकरूढ़ि है। और लोकरूढ़ि में धर्म नहीं होता। आयुर्वेद में कहा है कि जमीन को गोबर से लीपने पर ६ इञ्च तक के जीव उस खार से मर जाते हैं, ऐसा होने से वहां पर रहने वाले मनुष्यादि निरोग रहते हैं। इसी कारण कतिपय जैनाचार्यों ने भी गोबर को लौकिक शुद्धि में स्थान दिया है।

जमीन पर पानी फेर कर या मर्यादा की लाइन लगाने मात्र से चौका बनगया, यह बात नहीं है, परन्तु द्रव्य शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि का पूरा विचार रखना चाहिये। बिना इन दोनों शुद्धियों के चौके की शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये जब कि कण्डों में अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते हैं तब उनको रसोई के काम में लाना महान् हिंसा व पाप बन्ध का कारण है। इसलिये गोबर के छांणे चौके में नहीं लाने चाहिये। गोबर को जलाने के काम में लेना देश में खाद की कमी करना भी है।

सचित्त को प्रासुक करने की विधि

"सुक्कं पक्कं तत्तं अंविललवणेहिं मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेणइ छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥ १ ॥"

अर्थ—सुक्कं-सुखाया गया, पक्कं-कहिये अग्नि से पकाया हुआ, तत्तं-कहिये आग से गर्म किया हुआ-जल दूध आदि द्रव्य, नमक और खटाई से मिला हुआ, यन्त्र से छिन्न भिन्न किया हुआ हरित काय प्रासुक है। गन्ने का रस यन्त्र से निकालने पर प्रासुक हो जाती है। ऐसे ही अन्य पदार्थों को भी समझना चाहिये। और भी है—

"नीरन्तु प्रासुकं ग्राह्यं मुनिभिः शुद्धमेवतत् ।
षष्ट्यंशं स्थापयेद् द्रव्यं प्रासुकं च जिनोदितम् ॥ १ ॥"

अर्थ—जल को प्रासुक करने की विधि यह है कि हरड़, आवला, लोंग, या तिक्त द्रव्यों को जल प्रमाण से ६० वें भाग मिलाना चाहिये, ऐसा प्रासुक जल मुनियों के ग्रहण करने योग्य है। यदि इससे कम द्रव्य मिलाया जावे, तो वह जल प्रासुक नहीं होगा, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

ककड़ी, खरबूजा, आम, नाशपाती, सेवआदि को जो प्रासुक कियाजावे तो सबको दाल बराबर गट्टे कर अग्नि पर तपालेने चाहिये। ध्यान में रखना चाहिये कि गट्टों को नमक मिर्च मसाला मिलाकर यदि अग्नि में तप्त नहीं किया जावेगा अथवा पत्थर आदि से एवं यंत्र से नहीं पीसा जावेगा तो वह प्रासुक नहीं होवेंगे।

बनाई हुई वस्तुओं की मर्यादा

दो प्रहर की मर्यादा की वस्तु

पानी से बनी हुई दाल, भात, कढ़ी जो अमचूर आदि द्रव्य से बनी हो, खिचड़ी (चावल-दाल, बाजरा, मक्की आदि का) रायता एवं झोलवाला शाक आदि, राबड़ी तथा सचित्त जल से बिलोई हुई छाछ (मट्ठा) आदि पदार्थों की दो पहर की मर्यादा है।

चार प्रहर की मर्यादित वस्तु

रोटी, पूड़ी, परांवठे, हलुवा, कचौड़ी भुजिया, मालपूवा, ववरा (चीलड़ा) खीर, मोहन भोग, अचार, अथाना, सिमैया, दाल की पूरी, कच्चे पापड़ मंगोड़ी, और दाल के बड़े आदि चार पहर तक खाने योग्य हैं।

अष्ट प्रहर मर्यादित वस्तु

सुखाकर तली हुई पूड़ी, पपड़ियां, शक्करपारे, खजूर, गुणा, खाजा, खारेसेव, बुंदी (मोतीचूर) नुक्ती के लड्डू, मर्यादा के तले पापड़, बड़ी, दूध, दही, खोया, खोये की मिठाई, कचौड़ी, बर्फी, बेसन की चक्की, खोपरे की चक्की, गुलाब जामुन, रस गुल्ले, पेड़े कलाकंद, गुंजा, फैनी, दोहठा, सीकरपारे, रबड़ी, आदि की आठ पहर की मर्यादा है।

पिसे हुए पदार्थों की मर्यादा

आटा, बेसन, नमक को छोड़कर बाकी मसाले की मर्यादा तथा मगद की मर्यादा, वर्षा में ३ दिन, गर्मी में ५ दिन, और सर्दी में ७ दिन की है।

इन को तैय्यार कर जब बरतन में भरे तब पहले के बर्तन को अच्छा साफ पोंछ कर शुद्ध कर भरे, जिससे मर्यादा से विपरीतता न होवे।

बूरा तथा गिनोडे की मर्यादा

"हेमंते तीसदिएणा, गिएहे पणरस दिणाणि पक्कवण्णं।
वासासु पसत्तदिणा, इय भणियं सुयजंणेहिं ॥ १ ॥"

अर्थ—बूरे तथा गिनौड़े की मर्यादा शीत ऋतु में १ माह, ग्रीष्म में १५ दिन और वर्षा ऋतु में ७ दिन की है।

घोरवड़ा

जिन पदार्थों का पहिले घोर (चलितरस) बनाकर माल (पक्वान्न) बनाया जाता है, उसे घोर कहते हैं। इस वस्तु में अनेक त्रसजीव उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होते हैं, इसलिये दयालु श्रावक को इसका त्याग करना अत्यावश्यक है।

यहां पर जलेबी के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण किया जाता है। जलेबी, मैदा को गलाकर बनाई जाती है। उसका जब घोर उठकर तैयार होगा, तभी जलेबी बन सकेगी, अन्यथा नहीं। वह घोर क्या चीज है इसे सोचना चाहिए।

जब जलेबी बनाने की इच्छा होती है, तब मैदाको किसी वर्तन में गला देते हैं। वह मैदा जब गल जाती है तब उसमें चिकना पन तथा खट्टापन आ जाता है, तभी स्वादिष्ट जलेबी बन पाती है। अतः उसमें खट्टापन तो मैदा के सड़ने से और चिकनापन जीवों की उत्पत्ति होने से मैदा लथ पथ हो जाती है, और जब जलेबी बनाते हैं तब उस मैदा को गर्म २ घृत में कढाई के अन्दर छोड़कर बनाते हैं। उसमें अनेक त्रस जीव (कीटाणु) पैदा हो जाते हैं। वे कढ़ाई में डालते ही मर जाते हैं। प्रत्यक्ष में हलवाई की दुकान पर सड़ी हुई मैदा को देख सकते हो। उस मैदा में से एक तोला मैदा निकाल कर एक मल-मल के टुकड़े पर रखकर, पानी डालना चाहिये जिस से तुम को उस कपड़े पर चलते फिरते सफेद जीव नजर आवेंगे। इनको प्रत्यक्ष में देखकर भी जिह्वा के वशीभूत होकर खाने के लोभ से महान् जीव हिंसा का संपर्क मिला कर कार्य करते हो जिससे महान् पाप का बन्ध होता है और ऐसा होने से जिह्वा इन्द्रिय के वशी भूत जीव, चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर अनन्तानन्त काल तक दुःख उठाते हैं। अतः ऐसे (जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति और विनाश होता है ऐसे जलेबी आदि)

पदार्थों का त्याग करदेना चाहिये; जिससे भयानक दुर्गति के कष्ट न उठाने पड़े। अतः निकृष्ट चीज को त्याग कर, दयाधर्म का पालन कर, अहिंसा धर्म के पालक बनना चाहिय।

द्विदल

"गोरसेन तु दुग्धेन दध्ना तक्रेण सूरिभिः।
द्विदलान्नं सुसम्पृक्तं काष्टं द्विदलमुच्यते ॥ १ ॥
द्विदलभक्षणं ज्ञेयमिहामुत्र च दोषकृत्।
यतो जिह्वायुते तस्मिन् जायन्ते त्रसराशयः ॥ २ ॥
पाक्षिकैः श्रावकैर्न हि त्यक्तव्यं द्विदलं सदा।
यद्भक्षणे फलं तुच्छमपापं भूरिदुःखकृत् ॥ ३ ॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

आमेन पक्वेन च गोरसेन मुद्गादियुक्तं द्विदलं सुकाष्टम्।
जिह्वायुतं स्यात्त्रसजीवराशिः सम्मूर्छिमानश्यति नात्र चित्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन पदार्थों का (अनाज या काष्ट) की दो दालें-फाड़े होती हों ऐसे अन्न को (मूंग, उड़द, चना, मटर चमरा, (चौंला) कुलथी, आदि अन्न) या काष्ट को (मेथीदाणा, खाने की लाल मिर्च के बीज, तथा भिंडी तुरई आदि के बीजों को) दूध दही और छाछ मठ्ठा से मिश्रित करना आचार्यों ने द्विदल कहा है। १॥ उक्त द्विदल का जीभ के साथ सम्बन्ध होने पर त्रसजीव पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। इसलिये त्रसहिंसा का इसमें महान् पाप होने से इस को खाने वाला प्राणी इस लोक तथा परलोक में दुःख उठाता है ॥ २ ॥ इसलिये पाक्षिक श्रावक को द्विदल खाना सदा छोड़ देना चाहिये क्योंकि इसके खाने से जरा सा जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद का ही लाभ है किन्तु त्रसहिंसा होने के कारण महान् दुःख उठाने पड़ते हैं ॥ ३ ॥ गोरस चाहे कच्चा हो या पक्का हो उसके साथ में जिन अनाजों या बीजों (वनस्पति काय के बीजों) की दो दाल हों, उनको मिलाकर भक्षण करने में त्रस जीवों की हिंसा का भागी होकर अनेक प्रकार के दुःख इस भव में तथा पर भव में उठाने पड़ते हैं। ऐसा सिद्धान्त का मन्तव्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ—काष्टद्विदल, जिनमें तेल वा घी नहीं निकलता ऐसे मेथी दाणा, लालमिर्च के बीज आदि पदार्थ भिंडी, तुरैया, ककड़ी खरबूजे आदि के बीजों को गोरस–दूध, दही और छाछ में मिश्रित करने से होता है। गोरस चाहे कच्चा और पक्का क्यों न हो, तो भी द्विदल होता है। एवं अन्न द्विदल जिन अनाजों की दो दालें–फाड़े होती हैं, ऐसे मूंग, उड़द, चना, मटर, चमरा, कुलथी आदि को कच्चे या पक्के दूध, दही और छाछ में मिश्रित करने से होता है। उक्त प्रकार के द्विदल को जिह्वा इन्द्रिय से सम्बन्ध करने पर तत्काल सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव पैदा होकर मर जाते हैं। इसलिये इसके भक्षण में त्रसहिंसा का महा पाप लगता है जो कि दुर्गति के दुःखों को देता है, इसलिये श्रावक को द्विदल अवश्य यावज्जीवन छोड़ देना चाहिये।

अब हम आपको प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा द्विदल में त्रसहिंसा का महान् पाप लगता है, यह बताते हैं।

प्रायः वर्षात अधिक होने पर यवन लोग तीतर पालते हैं। तीतर का ऐसा स्वभाव है, कि वह कीटाणुओं के सिवाय अन्य चीजें कम खाता है। अतएव वे लोग बरसात होने पर उसके खाने के लिये छाछ और वेसन की कढ़ी बनाकर उस में थूक देते हैं, फिर उसे जमीन पर डाल कर ढक देते हैं, पीछे उघाड़ने से वह तीतर उस द्विदल में से जीवों को उठाकर खालेता है। इसलिये गोरस चाहे कच्चा हो या पक्का, उसमें जिह्वा के साथ सम्बन्ध होने पर त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। और उसके खाने में महान् त्रसहिंसा का पाप लगता है। यह बात ध्रुव सत्य समझ कर द्विदल खाना छोड़ देना चाहिये।

प्रश्न—आपका लिखना है कि गरम किये हुए अथवा कच्चे दूध से तैयार किये हुए छाछ या दही अथवा दूध से द्विदल होता है, परन्तु शास्त्रों में तो हमने पढ़ा है कि कच्चे दूध से या कच्चे दूध से जमे हुए दही या छाछ को द्विदल अन्न में मिलाने से द्विदल होता है, न कि पक्के गोरस से। इसी की पुष्टि सागार धर्मामृत के पांचवें अध्याय के १८ वें श्लोक द्वारा होती है:—

"आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकंच नाहरेत्॥ १८॥ [सागार धर्मा अ० ५]

अर्थ—कच्चे दूध से मिला हुआ द्विदल–दो फाड़वाले अनाज एवं कच्चे दूध से बनाये गये दही और मट्ठा से मिला हुआ द्विदल नहीं खाना चाहिये तथा पुराने द्विदल और वर्षा ऋतु में विना दलेहुए द्विदल नहीं खाने चाहिये। क्योंकि आचार शास्त्र के प्रमाण से उनमें अनेक त्रस जीव पैदा हो जाते हैं। यहां पर 'गोरस' उपलक्षण है उसमें कच्चा और पक्का दोनों का समावेश है। परन्तु सागार धर्मामृत में कच्चे गोरस से मिश्रित द्विदल अन्न खाने का निषेध है न कि पक्के का। फिर आप पक्के का निषेध कैसे करते हो?

उत्तर—उक्त प्रकार का प्रश्न करना योग्य है; क्योंकि यह विषय विवादग्रस्त है इसलिये इसका निर्णय होना चाहिये, जिससे द्विदल के त्यागी त्रस हिंसा से बच सकें। अतः इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जैन धर्म के उपदेष्टा तीर्थङ्कर सर्वज्ञ प्रभु हैं, इसलिये उनके सिद्धान्तों में किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि उनके केवल ज्ञान में समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थ समस्त पर्यायों सहित, करतलामलकवत् प्रत्यक्ष झलकते हैं। फिर उसमें गड़बड़ी किस प्रकार हो सकती है। परन्तु थोड़े दिनों से जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत कतिपय व्यक्तियों ने अपनी बुद्धि के अनुसार शिथिलाचार प्रवर्तक शास्त्रों की रचना कर डाली है। अतः इन ग्रन्थों में विरोध की प्रतीति हो रही है। जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनमें शिथिलाचार को रंचमात्र भी स्थान नहीं मिला है। गोरस चाहे पक्का हो या कच्चा, उसके साथ में जिन पदार्थों की दो दाले होती हैं उनको मिलाने से तथा अपने मुख की लार के पड़ने से त्रस जीवराशि पैदा हो जाती है; इसको हमने तीतर के प्रत्यक्ष उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है।

आयुर्वेद के विद्वान् आचार्यों ने कहा है कि यदि इस प्रकार के पदार्थों का भक्षण किया जावे, तो महान् भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति होती है—

"शीतोष्णं गोरसे युक्तमसाधद्विकं फलं।
तस्मात् भक्ष्यमाणं एकं रोगोत्पत्तिः प्रजायते ॥ १ ॥ [रसायनसारप्रदीपक]

अर्थ—जो शीत या उष्ण गोरस में मिश्रित एक भी द्विदल का भोजन करता है उस पुरुष के रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

सागारधर्मामृत का कथन श्वेताम्बर ग्रन्थों से मिलता है। जैसे श्री जिनदत्तसूरि ने स्वरचित "संदेह दोहावली में कहा है कि—

"उक्कालियम्मि तक्के विदलक्खे वेवि णत्थि तद्दोसो"

अर्थ—उकाली हुई -गरम की हुई छाछ से बने हुए द्विदल के खाने में कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में श्री प्रबोधचन्द्र विरचित "विधिरत्नकरण्डिका" की पीठिका में इस प्रकार कहा है कि—

"उत्कालितेऽग्निनाऽत्युष्णीकृते तक्रे गोरसे उपलक्षणाद् दध्यादौ च द्विदलं–मुद्गादिस्तस्य क्षेपो द्विदलक्षेपस्तस्मिन्

पि सति, किं पुनः द्विदलभक्षणानन्तरं प्रलेहादिपाने इत्यरोऽर्थः नास्ति तद्दोषो द्विदल दोषो जीवविराधनारूपः"

अर्थ—अग्नि से गरम किये हुए, गोरस दूध दही और छाछ में मूंग वगैरह को दो दाल वाला अन्न मिलाने पर द्विदल का दोष नहीं होता—अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर त्रस जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। अतः इससे सिद्ध है कि सागार धर्मामृत का कथन श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार ही है। इसलिये यह कथन दिगम्बर धर्म के अनुकूल नहीं है। आर्षग्रन्थों से प्रतिकूल—विरुद्ध है। इससे दिगम्बरों को मान्य नहीं है।

जैन सिद्धान्त आचार शास्त्र के अनुसार गाय, भैंस आदि के दुहते समय थन धोये जाना चाहिये। अन्यथा वह दुग्ध उच्छिष्ट होने के कारण अपेय है, क्योंकि बछड़े के पीने के कारण थन झूठे रहते हैं। दूध को दुहने के बाद ४८ मिनट के भीतर २ छान कर गर्म कर लेना चाहिये। यदि अधिक देर हो जावे तो उस ठंडे, बिना गरम किये हुए दूध में अनेक त्रस जीव राशि पैदा हो जाती हैं। सो वह अपेय ही है इसलिये वह दूध फिर गरम करने योग्य भी नहीं रहता। अतः बिना गरम किया हुआ दुग्ध दो घड़ी के बाद त्रस जीव पैदा हो हो जाने से अपेय ही रहा। फिर उसका जमाया दही और छाछ अभक्ष्य एवं अपेय ही है, तब उसमें द्विदल अन्न का मिश्रण करके खाना कैसे हो सकता है। अर्थात् कभीभी भक्ष्य नहीं हो सकता। इसलिये सागार धर्मामृत का कथन अमान्य है। क्योंकि अन्य आचार शास्त्रों से मिलान नहीं खाता। डाक्टर लोग भी कच्चे दूध में दो घड़ी के बाद जीवराशि की उत्पत्ति मानते हैं। अतः उस कच्चे दूध एवं उस कच्चे दूध से बनी छाछ दही आदि से अभक्ष्य के कारण दूर रहना चाहिये। उसके भक्षण से उन्होंने अनेक प्रकार के भयंकर रोगों की उत्पत्ति मानी है। आर्ष आचार शास्त्रों में आचार्यों ने पक्का दूध और उसमें बना हुआ दही तथा छाछ में द्विदल अन्न के मिश्रण करने को द्विदल माना है। अत एव सागार धर्मामृत का कथन अश्रद्धेय है।

प्रश्न—जब आपने यहां यह सिद्ध कर दिया, कि दो फाड़ों वाले मूंग, उड़द, चने की दाल आदि अन्नको तथा तेल निकलने वाले बादाम, पिस्ता, चिरोंजी, मूंगफली व धनिया आदि के अतिरिक्त जिनमें तेल नहीं निकलता ऐसे धनियां, मेथीदाणा, लालमिर्चकेबीज, एवं भिण्डी, तुरई, ककड़ी, खरबूजा, हरीमिर्च के बीज, इन्हें गोरस में मिलाकर खाने से द्विदल भक्षण का दोष लगता है तब रायता, दहीबड़े, पीतोड़ी या छाछ दही में मिर्च डाल कर खाना भी बंद होगया।

उत्तर—मुमुक्षु, धर्मात्मा लोग जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत नहीं होते। वे तो जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्मा को पाप कर्मों से लिप्त नहीं करना चाहते, प्रत्युत वास्तविक निराबाध अतीन्द्रिय आत्मीक सुख की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। ककड़ी, कुम्हड़ा, तुरैया एवं मिर्च वगैरह के (मिर्च के बीजों को निकाल कर) गोरस में मिश्रित कर भक्षण करने में द्विदल भक्षण करने का दोष नहीं है। इसी प्रकार दही

बड़े तथा पीतोड़े बताये गये हैं—अर्थात् ये भी द्विदल–दो फाड़ों वाले अनाज के बनाकर गोरस में डाले जाते हैं, इसलिये इनका भक्षण करने से द्विदल भक्षण का दोष होता है।

किन्तु खटाई तो इमली, नीबू, कैंथ, आवला, कोकम, काचरी, कमरख, आदि की होती है–अर्थात् इन चीजों की खटाई में बड़े आदि दो दाल की चीजें बना कर मिलाकर खाने में द्विदल का दोष नहीं होता। यहां पर दूध, दही, छांछ खाने का निषेध नहीं किया गया है। परन्तु इन्हें दो फाड़वाली चीजों के साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से द्विदल भक्षण का पाप लगता है।

अब द्विदल की सिद्धि के लिये दिगम्बर आचार्यों के प्रमाण निर्दिष्ट किये जाते हैं।

गोरसे तक्र े द्विदलं सेवनीयं कदापि न।
शीतमुष्णं विवर्जेत दोषा द्विदलसंभवः ॥ १३९ ॥ [माधवचन्द्र त्रिविध देव रचित वि. वो. रत्न. प्रदीप]
"द्विदलं नैव भोज्यं स्यात् मन्थदध्नाच गोरसैः।
रसनया तत्स्पर्शेन घोरदोषोऽभिजायते ॥ १ ॥
गोरसे ननु शीतादौ सम्पृक्तं द्विदलं जिनैः।
प्रोक्तं मुद्गादिकाष्टं वा द्विदलं भूरिदोषकृत् ॥ २ ॥"

भावार्थ—ठंडे, गरम और ठंडे गरम या ठंडा गरम दो फाड़ोंवाला अन्न या काष्टादिक किराना (जिनमें तेल वा घी नहीं निकलता है) उनको कभी भी जीभ पर मतरखो। क्योंकि इस द्विदल के खाने से मुख की लार के मिलने से जिस पशुका वह गोरस है। उसी जाति के संज्ञी संम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव पैदा होकर नष्ट हो जाते हैं, इसलिये द्विदल के भक्षण से त्रस जीव राशि का घात होगा, इसलिये द्विदल खाने वाले को मांस भक्षण दोष लगेगा तथा त्रस हिंसा का महान् पाप बन्ध होगा। और भी कहा है—

"द्विदले भक्ते काष्ठे गोरसः शीतशीतलः।
उष्णमुष्णं च वर्जेत दोषो द्विदलजागरः ॥ ६३ ॥
रसनास्पर्शतः जीवाः जायन्ते मूर्छनोद्भवाः" [संयमसारप्रदीप अ० ५]

"गोरसे तक्र पौदाम्बौ भक्ते काष्टे समागमे।
रसनया स्पर्शेणाशु दोषोद्विदलसर्जनः ॥ २०३ ॥ [त्रिवर्णाचार अ० ६]
द्विदलभक्तकाष्टेषु वर्ज्यः शीतोष्णगोरसः।
स्याज्जिह्वया तत्स्पर्शेन दोषः संमूर्छनोद्भवः ॥ १ ॥
द्विदलभक्तकाष्टेषु त्याज्यः शीतोष्णगोरसः।
रसनयास्पर्शेन स्यादाशु संमूर्छनोद्भवः ॥ २ ॥

भावार्थ—कच्चे अथवा पक्के दूध दही और छाछ में मूंग, उड़द, आदि दो फाड़ों वाला अन्न या काष्टादिक किराना मिलाकर खाने से मुख की लार के मिलने से संमूर्छन त्रसजीव पैदा होते हैं। इसलिये द्विदल खाने का त्याग करदेना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो जैन उल्लिखित कथन के अनुसार क्यों नहीं चलते ?

उत्तर—इस प्रकार की उच्छृंखलता शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति शिथिलाचार की पोषक है। उसे जिह्वा इन्द्रिय के लोलुपी एवं लम्पटी लोगों ने चलाई है। और उन बुद्धिमानों ने इसकी पुष्टि करने के लिये श्लोक रचकर लिखडाले हैं। उन्होंने विचारा कि वीतराग के उपासक मुनि गणों का उपदेश है ऐसा समझ कर लोग स्वीकार करलेवेंगे। अतः रुढि या पक्ष पकड़जाने से फिर छद्मस्थ उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। इस कारण योग्य पुरुषों को पक्ष पात छोडकर शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करना यही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है।

जो हठवाद की गहरी दलदल में फंसे हुए हैं। उनकी आत्मा में ऐसे अशुभ कर्म मौजूद है; जो कि उन्हें आर्ष मार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने से रोकते हैं। करने नहीं देते। ऐसे पदार्थ नहीं खाना ही योग्य है।

"आमेन पक्केन च गोरसेन मुद्गादियुक्तं द्विदलं सुकाष्टं।
जिह्वायुतं स्यात्त्रसजीवराशिः संमूर्छिमा नश्यति संशयो न ॥
शीतादि गोरसे युक्तमन्नं साद्र्ध द्विकं फलं।
द्विदलं रसनास्पृष्टं जायन्ते त्रसराशयः ॥"

जितना भी ऊपर कथन आया है, वह सब कच्चे और पक्के दूध, दही, और तक्र के लिये आया है। काष्ट द्विदल हो या अन्न द्विदल, शीत हो (ठंडा हो) या उष्ण–गरम हो, जिह्वा के स्पर्श मात्र से विदल दोष हो जाता है। इसलिये इसको कदापि नहीं सेवन करना चाहिये।

जैसे—उमास्वामि श्रावकाचार (जोकि १६ वी शताब्दी के बाद किसी विद्वान् ने बनाया है, क्योंकि उसमें १० वीं शताब्दी के सोम देवाचार्य विरचित यशस्तिलक चम्पू के श्लोक लिखे हुए हैं) उसमें लिखा है कि पूजन में पुष्प चढाओ पर फूलों की कलीपांखुड़ी नहीं टूटनी चाहिये। कदाचित् कली टूट जावे तो मुनि हत्या के समान पाप लगता है, ऐसा बताया है। तथापि पक्षपाती लोग पुष्प टूटने का अनुभव नहीं करते और तोड़ करही पुष्प चढ़ाते हैं।

"नैवं पुष्पं द्विधा कुर्यात् न छिन्द्यात् कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमं फलं ॥ १३० ॥ [उमास्वामि श्रावकाचार]

इस प्रकार का पुष्प विषय में निषेध देखकर भी हठी हठ नहीं छोड़ते फिर क्या किया जावे। धर्मात्मा पुरुषों को आगम पर ध्यान देना अत्यावश्यक है तथा तदुक्त आज्ञा उपादेय है। आगे और भी प्रमाण देते हैं।

"नवनीतं सदा त्याज्यं कन्दमूलादिकं यथा।
पुष्पितं द्विदलं चैव धान्यमनन्तकायिकम् ॥ १४५ ॥[सोमकिर्ति भट्टारक कृ. प्रद्युम्न चरित स. १३

अर्थ—जैन धर्म के उपासकों को, नवनीत (लूनी) अनन्त काय, कन्दमूल, आदि द्विदल और जिसमें फूलन आगई है–अर्थात् जो धान्य सड़ गया हो ऐसे सभी पदार्थों को सदा त्याग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अजैन ग्रन्थों में भी द्विदल भक्षण का निषेध है।

"गोरसमाममध्ये तु मुद्गादिषु तथैव च।
भक्ष्यमाणं कृतं नूनं मांसतुल्य युधिष्टिर ! ॥ १२३ ॥ [महाभारत शान्ति पर्व]

अर्थ—हे युधिष्टिर ! गोरस के साथ, जिन पदार्थों की दो दालें होती हैं जैसे (मूंग, उडद, बरबटी, चंवला, चणा आदि) उनके सेवन करने से मांस भक्षण के समान पाप लगता है। अतएव इससे सिद्ध है कि उत्तम कुल में द्विदल काम में नहीं आता था, इसकी प्रवृत्ति यवन

काल से चल पड़ी। अर्थात् धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता आगई। और भी कहा है—

"द्विदलैर्विदलानीयात् कथितं च जिनेश्वरैः।
तद्द्विधापि च ज्ञातव्यस्त्यजन् सुश्रावको भवेत्॥ १॥
काष्ठाकाष्ठयोर्विदले त्यजनं क्रियते बुधैः।
येन द्विधा त्यजितं जिनवाक् तेन पालितः॥ २॥
द्विदलं दधि निष्ठीवं चीरं तक्रं त्रयोऽपि च।
एकत्रीमिलिते यत्र जीवाःपञ्चेन्द्रियाः मताः॥ ३॥ [संस्कृक्रियाकोषके मरकत विलास में]

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने द्विदल पदार्थों से विदल बतलाया है। वह दो प्रकार का (अर्थात् काष्ट—वनस्पति बीज द्वारा और अकाष्ट दाल आदि द्वारा) भावार्थ काष्ठ विदल और अकाष्ट विदल भेद से कहागया है। उसको छोड़ने से ही श्रावक हो सकता है। इस कारण योग्य पुरुष इसका परित्याग कर देते हैं। जिसने दोनों प्रकार के विदल को छोड़ दिया है वह ही पुरुष जिनागम की आज्ञा एवं जिन वचन का प्रतिपालक हो सकता है। द्विदल पदार्थ और दही तथा लार अथवा द्विदल पदार्थ दूध और लार या छाछ द्विदल पदार्थ (काष्ट रूप-अथवा अकाष्ट रूप अन्नादि) मे और लार से इस प्रकार तीनों के सम्मेलन से अर्थात् तीनों पदार्थों के मिलने पर पञ्चेन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः द्विदल को मुख पर नहीं आने देना चाहिये।

प्रश्न—आपने दुग्ध दही और छाछ के साथ ही द्विदल के संयोग से विदल बताया, घी भी तो गोरस है। उसके साथ विदल क्यों नहीं माना ? वह भी तो दूध से ही बनता है तथा दूध का ही एक भाग है।

उत्तर—लौकिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से एवं आगम, कोष और शास्त्र प्रमाणों से गोरस शब्द का अर्थ दूध, दही और छाछ निश्चित है।

शास्त्रकार आचार्यों ने शब्द–पद के ४ भेद माने हैं वे निम्न प्रकार से हैं।

"शक्तपदं तच्चतुर्विधं, क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढं, क्वचित् यौगिकरूढम्।

तथाहि—यत्रावयवार्थ एव बुद्धयते तद्यौगिकम् । यथा पाचकादिपदम् । यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुद्धयते तद्रूढम् । यथा गोमण्डलादिपदम् । यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढं । यथापङ्कजादिपदम् । तथाहि पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनि कर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति, न च केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादितिवाच्यं, रूढिज्ञानस्य केवलयोगिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः । यत्रावयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येणबोधः तद्योगरूढम् यथोद्भिदादिपदम् । तत्रहि उद्भेदकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुद्धयते यागविशेषोऽपीति ।

[सिद्धान्त मुक्तावली के शब्द खण्ड से]

अर्थ—जिसमें व्याकरण, कोष, आगम और लौकिक व्यवहार द्वारा + शक्ति-ग्रह होता हो उसे पद कहते हैं जैसा कि परीक्षा-मुख में माणिक्यनन्दि स्वामी ने लिखा है—

"सहजयोग्यतासङ्केतवशात् हि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः"

अर्थ—शब्दादिक में स्वाभाविक वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप शक्तिग्रह होता है, इसलिये इस शब्द का व्याकरणादि द्वारा यह अर्थ है ऐसा निश्चय हो जाने पर उसके द्वारा पदार्थ ज्ञान होता है ।

उक्त पद के चार भेद हैं ।

(१) यौगिक (२) रूढ (३) योगरूढ (४) यौगिकरूढ !

यौगिक शब्द वे हैं, जिनका अर्थ व्याकरण की धातु प्रकृति और प्रत्ययों द्वारा निश्चित होता है, जिनमें रूढि की कोई अपेक्षा नहीं

+ " शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च ।
सानिध्यतः सिद्धपदस्यवृत्याः वाक्यस्य शेषात् विवृत्तेर्वदन्ति" ॥

अर्थ—व्याकरण-उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, सिद्धपद की समीपता और वाक्य के शेष से पद एवं वाक्य में शक्ति ग्रह होता है ।

होती। जैसे पाचक आदि पद यौगिक हैं। अर्थात् पचतीति पाचकः। इस शब्द में पच् धातु से कर्ता में एवुल् प्रत्यय हुआ है, जिसका अर्थ है रसोई बनाने वाला रसोईया।

रूढि शब्द वे हैं, जहाँ पर व्याकरण की अपेक्षा न कीजावे, और जो लोक या शास्त्र में किसी विशेष (खास) अर्थ में रूढ होकर उस अर्थ को द्योतन करते हैं, जैसे गोमण्डल आदि पद। गोमण्डल शब्द गायों के समूह में रूढ होने से रुढि है। यहां पर गच्छतीति (अर्थात् चलती है) वह गौ गाय है। यह व्याकरण–अर्थात् शब्द विशेष की व्याकृति से कियागया अर्थ अपेक्षित नहीं है। योग रूढ शब्द वे हैं जिनका व्याकरण द्वारा प्राकरणिक अर्थ निकलता हो, तथा कोष या आगम में किसी अर्थ में रूढ हो जैसे पङ्कज-आदि पद। यहाँ पर पङ्के जायते अर्थात् जो (कीचड़ में पैदा होता है) उसे पङ्कज कहते हैं इस अर्थ को व्याकरण बताता है। किन्तु रूढ–कोष और आगम कमल रूप अर्थ को प्रकट करते हैं। भावार्थ–कीचड़ में पैदा होने वाली और चीजें भी व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार पङ्कज हो सकती थी किन्तु कोषादि बल से कमल में लेना निश्चित है यह रूढि अर्थ है।

यौगिक रूढ शब्द वे हैं जिन शब्दों का अर्थ व्याकरण और रुढि दोनों द्वारा निश्चित किया जाता हो। जैसे उद्भिद् आदि पद। भूमिं (भूमिको) उद्भिनत्ति (जो भेदता है) वह उद्भिद् है ऐसे वृक्ष लता आदि को उद्भिद् कहते हैं) यह शब्द योग और रुढि दोनों द्वारा निष्पन्न होता है अतः यह यौगिक रूढ है।

प्रकरण से यहां पर "गोरस" शब्द योगरुढ है अर्थात् गवां (गौका) रस गोरस है। व्याकरण की व्युत्पत्ति से गोरस शब्द का अर्थ केवल दूध ही निकलता है जो कि आगम से पूर्ण रूप से संगत नहीं होता। अतः गोरस यह शब्द लोक एवं शास्त्र–कोष और आगम में दूध दही और छाछ अर्थ में रूढ है अतएव योग रुढ है। इसलिये गोरस शब्द का आगमानुकूल अर्थ दूध दही और छाछ निकलता है; घी अर्थ कदापि नहीं निकल सकता है।

कोष का प्रमाण—

"दण्डाहतं कालशेयमरिष्टमपि गोरसः।
तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम्॥ [अमरकोष]

उक्त प्रमाण से गोरस शब्द दूध, दही, और छाछ में रूढ है।

गोरसेन—क्षीरेण, दध्ना, तक्रेण च [सागारधर्मामृत की टीका से]

उक्त प्रमाण से निश्चित है, कि गोरस शब्द से दूध, दही और छाछ ही आगम में निबद्ध है। गोरस शब्द का अर्थ घी कभी नहीं हो सकता।

"आत्मनोऽशुभशुभशुद्धभाववत् एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मवच्चेति । दुग्धदधितक्रात्मके गोरसे ज्ञेयम् ।"

अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के शुभ और अशुभ भाव संसार के कारण हैं और शुद्ध भाव (वीतरागपरिणति) मोक्ष का कारण है, उसी प्रकार दूध, दही, और छाछ रूप गोरस में द्विदल पदार्थ (अन्न या काष्ठ) के मिश्रण कर भक्षण करने से द्विदल दोष होता है।

जिस प्रकार शुद्ध भाव संसार के कारण नहीं हैं उसी प्रकार घी में द्विदल अन्न और काष्ठ के मिश्रण से द्विदल दोष उत्पन्न नहीं होता।

इसी प्रकार जीवके बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें से बहिरात्मा और अन्तरात्मा संसारवर्ती हैं। और परमात्मा मोक्ष मार्गी है। उसी प्रकार दूध, दही, और छाछ रूप गोरस में द्विदल पदार्थ के मिश्रण से द्विदल दोष उत्पन्न होता है। और परमात्मा जिस प्रकार मोक्ष मार्गी है, उसी प्रकार घी में द्विदल पदार्थ के मिश्रण करने से द्विदल दोष उत्पन्न नहीं होता।

मरकत विलास नामक ग्रन्थ में ३ श्लोक आये हैं—जिनसे अन्न और काष्ट दोनों प्रकार के द्विदल भक्षण से महान् पाप होता है ऐसा निर्दिष्ट किया है। यह पहले लिख आये हैं।

राई और सरसों का सम्बन्ध

राई–सरसों—इन का तेल काम में आता है। रायता तथा आचार में डाल कर जीमने की मर्यादा अन्तर्मुहूर्त की भी नहीं है। कारण कि त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

इक्षु रसनिर्मित शक्करादि से दही का सम्बन्ध

"इक्खुदहीसंजुत्तं भवंति सम्मूच्छिमा जीवा।
अन्तोमुहुतमज्झे, तम्हा भवंति जिणनाहो" ॥ १ ॥

अर्थ—इक्षुर रस से बनी हुई जैसे शक्कर तथा गुड़ दही में मिलाकर शीघ्रखालेनी चाहिये क्योंकि वह थोड़ी देर बाद ही जीवों की उत्पत्ति होने से अभक्ष्य हो जाती है।

वर्तनों की शुद्धि

कांसी, पीतल चांदी, सोने, लोहे, शीशे, कतीर, एलुमोनियम, जर्मन सिलवर व तांबे के वर्तन होते हैं।

कांसी के वर्तन अपनी जाति के सिवाय, अन्य के काम में नहीं लाने चाहिये। जंसे महाजन, ब्राह्मण, आदिको। इन्हें विदेश में नहीं लेजाना चाहिये।

पीतल के वर्तन—इन को मद्यपी, मांसभक्षी, मधुसेवी को नहीं देना चाहिये। घर में यदि रजस्वला स्त्री से सम्पर्क हो जाय तो इन्हें खूब गर्म करलेना चाहिये।

रांगा तथा लोहे के वर्तनों की शुद्धि कांसे समान जानना। बाकी वर्तनों की मर्यादा पीतल के वर्तनों के समान जानली चाहिये।

मिट्टी के वर्तन—इन्हें चूल्हे पर चढ़ाने बाद दुबारा नहीं चढ़ाना चाहिये। पानी भरने के वर्तनों को आठ पहर बाद सुखा लेना चाहिये। जिससे काई न जमने पावे। कहा भी है—

"मिटे न सरदी कटे न काय, माटी के वासन की माय"

कांच के वर्तन—मिट्टी के वर्तनों के समान जानना। यद्यपि इनमें काई नहीं जमती, तथापि इन्हें चौके में लेजाना हो तो इनमें भोजन नहीं जीमना चाहिये। शुद्ध रखने चाहिये।

पत्थर के वर्तन—इन्हें उपयोग कर जल से धोकर सुखा लेने चाहिये तथा दूसरों को नहीं देने चाहिये।

काष्ठ के वर्तन—काम में लेकर पानी से धोकर सुखा लेने चाहिये और दूसरों को नहीं देने चाहिये। अन्यथा काम के न रहेंगे।

विशेष—जिन वर्तनों पर कलई हो, उन्हें टट्टी पेशाब के लिये नहीं ले जाने चाहिये। यदि कभी ऐसा अवसर आपड़े तो उन्हें अग्नि से संस्कारित कर फिर काम में लेने चाहियें।

ध्यान में रखने की बात है कि चौके में जितनी भी सामग्री लेजानी चाहिये वह सब श्रावकों के सम्पर्क की ही होनी चाहिये अन्य के सम्पर्क की नहीं होनी चाहिये।

आगे प्रमादचर्या बतलाते हैं

जिस शास्त्र में हिंसा में धर्म कहा है जैसे प्रयोजन विना दौड़ना, कूदना, जलसे सीचना, आग जलाना, काटना, ब्यादे दीपक लगाना, पवन का उड़ावना, वनस्पति का छेदना, इत्यादि निष्फल व्यापार करना प्रमादचर्या नामा अनर्थदण्ड है।

अपनी भोगोपभोग सामग्री से राग भाव घटाना चाहिये।

जिसमें फल स्वल्प हिंसा अधिक हो उनका परित्याग करे, जैसे—मद्य, मांस, मधु, नवनीत (लूणियां) कन्दमूल, हल्दी हरी, अदरख, निम्ब-केवड़ा और केतकी आदि के फूल।

जिन में जीवों की विराधना भी न हो किन्तु उत्तम कुल से जो अनुपसेव्य हों उनका परित्याग करे जैसे—शंख चूर्ण, हाथी के दांत। और भी कोई प्रकार के हाड़, गाय का मूत्र, ऊँट का दूध, उच्छिष्ट भोजन, म्लेच्छ-स्पृष्ट-भोजन, अस्पृश्य शूद्र से लायाजल। ताम्बूल की उद्गाल, मुख की लार, मूत्र मल, कफ, तथा शूद्रादिक से बनाया हुआ भोजन, मांस भक्षी के हाथ का भोजन, मांस भक्षियों के वर्तन में बनाया भोजन आदि अनुपसेव्य है।

जो भोजन प्रासुक, हिंसा रहित हो, वह ही ग्रहण करे अन्यथा न करे।

आगे दौलतरामजी कृत क्रिया कोष से लिखते हैं—

चौपाई

"चाकी अर उखली प्रमाण—ढकणादीजै परम सुजान।
श्वान विलाव न चाटे ताहि, तब श्रावक को धर्म रहाहि ॥ १८१ ॥
मूसल धोय जतन सो धरैं, निशि खोटन पीसन नहिं करैं।

छाज तराजु अर चालणी, चरमतणी भविजन टालणी ॥ १८२ ॥
निशि को पीसै खोटै दलै, जीवदया कबहू नहिं पलै।
चाकी गालै चून रहाय, चींटी आदि लगै तसु चाय ॥ १८३ ॥
निशि पीसत खबर न परै, तातै निशि पीसन परिहरैं।
तथा रात्रि को भी जो नाज, खावौ महा पाप को साज ॥ १८४ ॥
अंकुरे निकसे ता मांहि, जीवा अनंता संसै नाही।
तातै भी ज्यौं नाज अखाज, तजौ मित्र अपने सुख काज ॥ १८५ ॥
सूल्यो सड्या गडियो जो धान, फूली आयो होय न खान।
स्वाद चलित खावो नहि वीर, रहिवो अति विवेकयुत धीर ॥ १८६ ॥
नहि छीवे गोवरणों मूत, मल मूत्रादिक महा अपूत।
आंणा ईंधन कान अजोगि, लकड़ी हू बिधी नहि जोग ॥ १८७ ॥
जेती जात सुरब्यो होय, लेणा एक दिवस को सोय।
पीछे लागे मधु को दोष, ता सम और न अघ को पोष ॥ १८८ ॥
अथाणा को नाम अधार, भखैं अविवेकी अविचार।
यासम अणाचार नहि कोय, या का त्याग करे बुध सोय ॥ १८९ ॥
राह चल्यो भोजन मतिखाहु, उत्तम कुल को धर्म रखाउ।
निकट रसोई भोजन करो अणाचारि सबही परिहरो ॥ १९० ॥
करो रसोई भूमि निहारि, जीव जन्तु की बाधा टारि।
इस विध श्रावक धर्म बखाण, उत्तम कुल की यही पिछाण ॥ १९१ ॥

दोष खोटि मति करो रसोई, जहां जीव की हिंसा होई ।
नरम पूजवि सो प्रति लेलई, करे रसोई चर्मन देखई ॥ १९२ ॥
रोमादिक को स्पर्श होवे, सो भोजन श्रावक नहीं जोवे ॥ २१४ ॥
नीला वस्त्र न भींटे सोई, नाही रेसमी वस्त्र हु कोई ।
विन धोयाहू कपड़ा नाहीं, इह आचार जैन मन मांही ॥ २१५ ॥
विन उज्वलता भई रसोई, त्याग करे ताकूं विधि जोई ।
पञ्चेन्द्रिय पशुहू को छूयो, भोजन तजै अविधितै हूयो ॥ २१७ ॥
सोधतनी सब वस्तु लेई, वस्तु असोधी त्यागे तेई ॥

इस प्रकार ऊपर जो क्रिया बताई है, सो जैनियों को मान्य है। इसके अतिरिक्त जो क्रिया कोष किशनसिंहजी पाटणी का है उसमें निम्न प्रकार भोजन प्रकरण दिया है—

"होत रसोई थानक जहां, खीचड़ी रोटी भोजन जहां ।
चावल और विविध परकार, निपजै श्रावक कै घर सार ॥ १ ॥
जीमण थानक जो परमाण, तहां जिमिए परम सुजाण ।
रांघण के भाजन है जेह, चौका बाहिर काढि न तेह ॥ २ ॥
असन रसोई बाहिर जाय सो वट वोपो नाम कहाय ॥ ३ ॥
अन्य जाति जो भींटे कोय जीह भोजन को जी में सोय ।
शूद्रनि मिले जीमें तिसो दोष बखान्यो है वह तिसो ॥ ४ ॥

कहा तक कहा जावे पूर्व प्रथम द्वितीय और तृतीय काल में जैसे यहां भोग भूमियां मन्द कषायी, शान्त परिणामी थे एवं जैन धर्म में अनादि काल से अहिंसा पूर्वक शुद्धता का आधिक्य था अब हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से उससे विपरीत क्रूर परिणामियों की अधिकता

है। तथा तीव्र कषाय का अभिनिवेश होगया है। प्रथम आचरण विषयक उपासकाध्ययन सूत्र में इसका विवरण मिलता था अब उसका लोप होगया तथा तदनु कूल सार रूप कुछ सिद्धान्त सार प्रदीप में था वह भी लुप्त होगया अब रहा उसका कुछ कथन भाषा के ग्रन्थ क्रिया कोष आदि में मिलता है सो आजकल के गोबर पंथी शिथिलाचारी उसको मानने को तैय्यार नहीं होते एवं कहते हैं कि विना मूल संस्कृत के आधार ग्रन्थ को इन्हें क्या माने ? अब किया क्या जावे ? जैसी समाज की होनहार वैसा होगा अन्यथा नहीं हो सकता। कहाभी है—

"ज्यों ज्यों देखी वीतरागने त्यों त्यों होसी वीरारे।
अण होनी नहीं होवे भैया काहिको हात अधीरारे ॥

और भी कहा है—

"यस्मिन्देशे यदाकाले यन्मुहूर्ते च यद्दिने।
हानिवृद्धियशोलाभस्तत्तत्काले भविष्यन्ति ॥

किस को पता था कि धर्म का सहसा इतना ह्रास होगा। किन्तु रामचन्द्र के समान राज्य गद्दी के बजाय उससे विपरीत होगया।

कहा भी—

"प्रातर्भजामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि जटिलः विपिने तपस्वी ॥
यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति।
यच्चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति ॥ १ ॥

फिर भी अपने धर्म में दृढ़ रहना जीव मात्र का कर्तव्य है जिससे संसार समुद्र से पार हो सकें ?

शूद्रों के सम्बन्ध में विवेचन

प्रश्न—शास्त्रों में शूद्रों के घर भोजन विधान भी अनेक स्थलों पर देखा जाता है ? क्या यह ठीक है ?

उत्तर—शूद्रों के घर श्रावक को भोजन करना विहित नहीं है। शूद्र दो प्रकार के माने गये हैं भोज्य और अभोज्य। भोज्य शूद्रों का दूसरा नाम और (शोभन शूद्र) भी है। उनके लिये श्रावकों के उच्च व्रत अर्थात् क्षुल्लक पद तक के व्रत देने का विधान हैं नकि उनके यहां भोजन करने का। श्रावक व्रत देने की अपेक्षाही शोभन शूद्र ग्राह्य हैं सो जानना। कहा भी है—

"कारिणो द्विविधाः सिद्धाः भोज्याभोज्यप्रभेदतः।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥ १५४ ॥ [प्रायश्चित चूलिका]

अर्थ—शूद्र, भोज्य और अभोज्य भेद से दो प्रकार के हैं। सदा क्षुल्लक व्रत भोज्य शूद्रों को ही देना चाहिये।

नोट—यहाँ पर पं० पन्नालालजी ने उनके साथ भोजन करना आदि लिखा है वह समुचित नहीं मालूम होता क्योंकि प्रकरण श्रावक व्रत काही है। वह ही अपेक्ष्य है। और भी कहा है—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥ ११ ॥ [नीतिवाक्यामृत पृ० ८४]

टीका—ये सच्छूद्राः शोभनशूद्राः भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारकृतविवाहा द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः तथा च हारीतः—

"आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शरीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसुयोग्यम्।

टीका— यः शूद्रोऽपि सदेवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्यः यस्य किं शूद्रस्याचारानवद्यत्वं व्यवहारनिर्वाच्यता, तथोपस्कारो गृहपात्र समुदायः सशुचिनिर्मलः, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृतासीत्। एषाऽपिशूद्रं करोति, किं विशिष्टं ? देवद्विजतपस्विभक्तियोग्यं। तथा च चारायणः।

"गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥

अथ सर्वेषां वर्णानं, यः समानो धर्मस्तमाह—

इस प्रकार सोमदेव सूरि भी लिखते हैं। इसके अतिरिक्त पं० सदासुखदासजी कासलीवाल भगवती आराधना नामा ग्रन्थ में

इस प्रकार ही लिखते हैं—

प्रश्न—आप शूद्रों के भोजन के लिये निषेध करते हो और निम्न लिखित अनेक ग्रन्थों में इनके भोजन का विधान मिलता है ? सो किस प्रकार है ?

अनगार धर्मामृत अध्याय ४ श्लो. नं० १६७ की टीका पत्र ३१६ (२७ वीं. पंक्ति) में लिखा है "अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः स्वदातृ गृहात्" ।

सागार धर्मामृत पृ० ५६ के नोट में यशस्तिलक का निम्न लिखित पद्य दिया है—

"भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा शूद्रो दानेन शुद्ध्यति ॥ १ ॥

उल्लिखित प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है कि शूद्र भी मुनियों को आहार दान दे सकता है ?

उत्तर—शूद्र दो प्रकार के हैं १ सत्शूद्र २ असत्शूद्र । जिनका कुल तो शुद्ध "ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य" हो और कार्य सुनार जड़िया दर्जी आदि का करें वे सत्शूद्र हैं-जैसे स्मृतिसार नाटक में कहा है—

"सकृद्विवाहनियताः व्रतशीलादिसद्गुणाः ।
गर्भाधानाद्युपेता ये सच्छूद्राः कृषिजीविकाः ॥ १ ॥

अर्थ—जिन के एक ही बार स्त्री-विवाह होता हो, और व्रत शीलकर युक्त हो गर्भाधानादि क्रिया जिन की शुद्ध हों और खेती करता हो ऐसे त्रिवर्णी उत्तम कुली को सत्शूद्र कहते हैं ।

"पात्रदानं च सच्छूद्रैः क्रियते विधिपूर्वकैः ।
शीलोपवासदानार्चाः सच्छूद्राणां क्रियाव्रतैः ॥ १ ॥ [माघनन्दिकृत कुमुदचंद्रसंहिता]

इस का तात्पर्य ऊपर के अनुकूल ही है।

धर्म संग्रह श्रावकाचार में तो आजकल के भट्टारकों ने अंटसंट लिखा है। जैसे—

"ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधाशूद्राः प्रकीर्तिताः।
तेषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः परथापरे ॥ २३३ ॥ [ध. श्रा. अध्याय ६]

अर्थ—उन शूद्रों के सत शूद्र और असत् शूद्र दो विकल्प हैं। जिन शूद्रों के एक ही बार विवाह होता है, वे सत्शूद्र हैं और जिनके पुनः २ विवाह होता है, वे असत् शूद्र हैं।

"सच्छूद्राः अपि स्वाधीनाः पराधीनाः अपि द्विधाः।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः ॥ २३४ ॥ [ध श्रा. अ. ६]

अर्थ—सत्शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन ऐसे दो विकल्प हैं। जिन शूद्रों के एक ही समय विवाह होता है और दासी तथा दास हैं, वे पराधीन हैं। और जो दासी दास न रहकर अपनी आजीविका का निर्वाह स्वयं करते हैं, उन्हें स्वाधीन सत्शूद्र कहा है।

"असच्छूद्राः तथा द्वेधा कारवोऽकारवः स्मृताः।
अस्पृश्याः कारवश्चान्त्यजादयोऽकारवोऽन्यथा ॥ २३५ ॥ [ध. श्रा. अ. ६]

अर्थ—असत शूद्रों के भी कारु तथा अकारु इस प्रकार दो भेद हैं। जो स्पर्श करने योग्य नहीं उन्हें कारु असत् शूद्र कहते हैं। और अन्त्यज आदि अकारु असत् शूद्र हैं।

इस प्रकार आपके कहे हुए कथन का शास्त्रों में प्रमाण मिलता है। आपके कथनानुसार उत्तम वर्ण वालों को सत शूद्र कहना ठीक नहीं। पं० सदासुखजी काशलीवाल का कहना है कि शूद्रों में जो उत्तम हो उनको हाथ का जल पीना तो ठीक परन्तु उन के हाथ का भोजन करना महा विपरीत है।

उत्तम कुली को नीच बताना कितना पाप कार्य है। कारण भट्टारक लोगों को ऐसी विपरीतकृति हुआ करती थी।

आपने लिख दिया कि कृषि करने वाले सत्शूद्र हुआ करते हैं सो कैसे मान लिया जावे। आदिनाथ पुराण में भगवानजिनसेन स्वामी ने कहा है कि वैश्य के तीन कर्म है– १ व्यवसाय २ पशुपालन ३ और कृषि करण। तो क्या यह वाक्य झूठ है ? ये वाक्य कदापि झूंठे नहीं हो सकते। निष्कर्ष है, यह है कि आजकल के शास्त्र मनगढन्त बहुत से हैं, जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पानी फेर दिया है। उनके कथन को जरा विचार से देखो तो पता लग सकेगा कि कितना तथ्य है। परीक्षा प्रधानियों का कर्तव्य है की सत्य कथन ग्रहण करें और असत्य कथन का परित्याग कर देवें।

सकरा नकरा विवेचन

प्रश्न—अपनी समाज मे जो सकरे और नकरे की कल्पना एवं विचार है। सो क्या है ? स्पष्ट की जियेगा।

उत्तर—जैन शास्त्रों में सकरे और नकरेका कोई विचार नहीं मिलता है, केवल मर्यादित भोजन का विचार मिलता है। वैष्णव सम्प्रदाय के शृङ्ग ऋषि कृत 'रससार संग्रह' में ऐसा विषय अवश्य मिलता है कि जिन २ पदार्थों में घी और तेल का सम्बन्ध मिलजावे वह नकरा है और जो इससे विपरीत हो वह सकरा है। जैनों में भी देखादेखी यह रिवाज एवं परिपाटी चल पड़ी है। इस विषय में ठीक यही है कि स्थान शुद्धि का ध्यान रखें-भोजन बनाने व करने का स्थान शुद्ध पवित्र होना चाहिए, स्वास्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

जैनेतर धर्म के देखादेखी अनेक रिवाज जैनों में भी चल पड़े हैं और वे अभी तक बराबर जारी हैं नहीं मिटे हैं। जैन धर्म में तो भोजन के विषय में केवल द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव शुद्धि के अतिरिक्त अन्य विचार अपने देखने में नहीं आया है, विशेष ज्ञानी जाने।

भोजन के अन्तराय

शास्त्रकारों ने निम्न प्रकार से भोजन के अन्तराय बताये हैं—

''मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत्।
मृताङ्गिवीक्षणादन्नं श्रावको विबुधस्सदा ॥ १ ॥
मातङ्गश्वपचादीनां दर्शने तद्वचः श्रुतौ।
भोजनं परिहर्त्तव्यं मलमूत्रादिदर्शने ॥ २ ॥

अर्थ—मांस रक्त (खून) गीला चमड़ा, हड्डी, पीव, मरे हुए त्रसजीव के कलेवर के देखने से विवेकी श्रावक को भोजन छोड़ देना चाहिये ?

और चाण्डाल आदि के भोजन काल में दिखाई देने पर या मारो, काटो आदि भयङ्कर शब्द सुनाई देने पर तथा मल मूत्र आदि के दिखाई देने पर श्रावक को भोजन छोड़ देना चाहिये। और भी कहा है—

"चर्मादिपशुपञ्चाक्षव्रत मुक्तरजस्वला ।
रोमपचनखादीनां स्पर्शनाद्भोजनं त्यजेत् ॥
श्रुत्वामांमादिनिन्द्याह्वां मरणाक्रन्दनस्वरं ।
वह्निदाहादिकोत्पातं न जिमेत् व्रतशुद्धये ॥ ४१ ॥ [धर्म संग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—चमड़ा आदि अपवित्र पदार्थ, पंचेन्द्रिय पशु, व्रत रहित पुरुष, रजस्वला स्त्री, रोम, नख, आदि पदार्थों का स्पर्श हो जाने से भोजन छोड़ देना चाहिये।

मांस मदिरा, हड्डा, मरण, रोने का शब्द, वह्नि दाह, तथा उत्पात आदि सुनने के बाद व्रत शुद्धि चाहने वालों को भोजन नहीं करना चाहिये ।

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रंथ के उत्तरार्द्ध की 'गार्हिकाचाराधिकार' नामक
द्वितीय किरण (सम्पूर्ण ग्रंथ की ७ वीं किरण) समाप्त हुई ।

संयम प्रकाश ग्रंथ का प्रथम भाग

श्री रघुवीर सिंह जैन (पिता) एवं श्रीमती गौरा देवी जैन (माता)

की प्रेरणा से

श्रीपाल जैन-उर्मिला जैन एवं धनपाल जैन-चन्दनबाला जैन (गोहाने वाले)

BN-23 & 24, वेस्ट शालिमार बाग, दिल्ली-110 052 द्वारा

सूची दान दाता	राशि
श्री धर्मपाल सिह जैन सतीश कुमार जैन गली न० १२ कैलाश नगर	१५१०१/-
स्वर्गीय छोटो दवी धर्मपत्नी स्वर्गीय लक्खी गम जैन द्वारा	
सुभाष चन्द जैन गली न० २ कैलाश नगर	१५००१/-
श्रीमती रशम जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिह जैन दरियागज	५१०१/-
श्री जयपाल सिह सुनिल कुमार जैन (अरिहत ट्रेड)	
गली न० १० कैलाश नगर	५१०१/-
श्रीमती कलावती जैन धर्मपत्नी स्वर्गीय श्री बी० एल० जैन	
गली न० १० कैलाश नगर	५१०१/-
ला० आशाराम सोहनपाल जैन सर्राफ छपरौली	५१०१/-
रिषभ जैन महिला मडल कैलाश नगर दूरभाष २२०१८२० २२८१४४७	५१००/-
हिना ड्रेसिज ६६६४ जनता गली गांधी नगर	५१००/-
गुप्त दान बडौत	५१००/-
श्रीमती सुनीता जैन धर्मपत्नी श्री पवन कुमार जैन (जोहडी वाले)	
कैलाश नगर	५०००/-
श्रीमती नीरा जैन धर्मपत्नी श्री बिपुल जैन भारत नगर	५०००/-
डा० अनिल कुमार जैन (रिषभ मेडिकल सेटर)	
गली न० १२ कैलाश नगर	५०००/-
ला० सुमत प्रसाद प्रदीप कुमार जैन (जोहडी वाले) कैलाश नगर	४४००/-

	राशि
स्वर्गीय सेठानी मैनावती धर्मपत्नी आशाराम जैन के सपुत्र	
सुरशचन्द जैन बागपत	३१००/-
स्व० ला० दीप चन्द जैन (अछाड) वाले स्मृति मे द्वारा श्रीमती दीपा जैन	
धर्मपत्नी श्री विनोद कुमार जैन गली न० १२ कैलाश नगर	३१००/-
श्री चमन लाल जैन (रोबिट हौजरी) गली न० २ कैलाश नगर	३१००/-
श्रीमती सरोज जैन धर्मपत्नी श्री जे० के० जैन साउथ कैलाश नगर	३१००/-
ला० जगदीश प्रसाद जैन सर्राफ बडौत	३१००/-
श्रीमती मगन माला जैन धर्मपत्नी सुरेन्द्र कुमार जैन (पानीपत वाले)	
कैलाश नगर	२१११/-
पदम सेन विजेन्द्र कुमार जैन गली न० १० कैलाश नगर	२१०१/-
ला० शिखर चन्द तरस चन्द जैन, जैन नगर मेरठ कोल मर्चेंट	२१०१/-
श्रीमती शान्ति जैन धर्मपत्नी ला० सुखवीर सिह जैन	
गली न० १० कैलाश नगर	२१००/-
श्री रमेश चन्द नीरज कुमार जैन गली न० ८ कैलाश नगर	२१००/-
श्रीमती तिलका देवी जैन धर्मपत्नी स्व० ला० काशीराम जैन	
गली न० ८ कैलाश नगर	२१००/-
श्री तरस चन्द दीपक जैन गली न० १५ कैलाश नगर	२१००/-
श्रीमती सलोचना देवी जैन धर्मपत्नी फेरूमल जैन गली न० ८ कैलाश नगर	२१००/-

श्रीमती रत्नो जैन धर्मपत्नी स्वर्गीय ला० जुगमदर दास जैन कैलाश नगर	२१००/-
श्री सुखपाल सिह जैन प्रवीण कुमार जैन गली न० १० कैलाश नगर	२१००/-
श्रीमती छिमावती देवी जैन धर्मपत्नी रोशन लाल जैन (सरधना)	२१००/-
श्री धनपाल सिह सजय कुमार जैन अग्रवाल मडी (टटीरी)	२१००/-
श्री महेन्द्र कुमार विकास जैन जैन इटर प्राइजिस शहादरा	२१००/-
एम०आर ट्रेडर्स	२१००/-
गुप्त दान	२१००/-
गुप्त दान	१३००/-
श्री सुभाष चन्द जैन फोटो वाले कैलाश नगर	११११/-
ला० मुरारी लाल जयचन्द राय छपरौली	११०१/-
केशो राम एड सस बिनौली	११०१/-
श्रीमती सब्जकली जैन धर्मपत्नी श्री सुमत प्रसाद जैन राठधने वाल कैलाश नगर	११०१/-
श्री बृजभूषण जैन गली न० २ कैलाश नगर	११०१/-
ला० पदम सैन कवर सैन जैन गली न० १०कैलाश नगर	११०१/-
श्री निवास जैनगली न० १०कैलाश नगर	११०१/-
श्री प्रकाश चन्द हेम चन्द जैन सलावे वाले कैलाश नगर	११००/-
श्रीमती त्रिशला जैन धर्मपत्नी नरेश चन्द जैन गली न० ४ कैलाश नगर	११००/-
श्री नरेश चन्द सुनील कुमार जैन चन्द्र नगर	११००/-
श्रीमती सीमा जैन धर्मपत्नी श्री राजबाबू जैन गली न० ३ कैलाश नगर	११००/-
श्रीमती उषा देवी जैन धर्मपत्नी श्री विनाद कुमार जैन गली न० ६ कैलाश नगर	११००/-
श्रीमती राजरानी जैन धर्मपत्नी देवेन्द्र कुमार जैन गली पाठशाला कैलाश नगर	११००/-
ला० रूपचन्द राजेन्द्र कुमार जैन मीतली वाल गली न० २	११००/-
श्री सुरेश चन्द जैन रामपुर वाले कैलाश नगर	११००/-
ला० सलेक चन्द आदीश्वर कुमार जैन गली न० १२ कैलाश नगर	११००/-

ला० कान्ता प्रसाद अशोक कुमार जैन (बावली वाले) गली न० ३ कैलाश नगर	११००/-
श्रीमती रेखा जैन धर्मपत्नी श्री अरूण कुमार जैन गली न० ८ कैलाश नगर	११००/-
स्वर्गीय महेन्द्री रानी जैन धर्मपत्नी श्री मेलूराम जैन कैलाश नगर	११००/-
श्री हेमचन्द अजय कुमार जैन गली न० ११ कैलाश नगर	११००/-
श्रीमती रेहती दवी जैन धर्मपत्नी श्री पालो राम जैन कैलाश नगर	११००/-
श्री जयचन्द रमेश चन्द जैन (बिनौली वाल) कैलाश नगर	११००/-
ला० सलेक चन्द सुरेश कुमार जैन (टिकरी वाले) कैलाश नगर	११००/-
ला० शिखर चन्द मुकेश कुमार जैन बावली	११००/-
ला० श्याम सुन्दर सुनील कुमार जैन छपरौली (मोटर वाले)	११००/-
श्री रघुबर दयाल महेन्द्र कुमार जैन (बिनौली वाले)	११००/-
श्रीमती विमला देवी जैन धर्मपत्नी प्रेम चन्द जैन कैलाश नगर	११००/-
शशी बाला जैन चूड़ी वालान दिल्ली	११००/-
श्रीमती सतोष जैन धर्मपत्नी श्री पवन कुमार जैन गली न० १० कैलाश नगर	११००/-
प० धनराज सिह सुखवीर सिह जैन अमी नगर सराय	१००१/-
ला० जुगल किशोर सुखवीर सिह जैन अमी नगर सराय	१००१/-
श्रीमती निर्मला देवी जैन धर्मपत्नी रिषभ कुमार जैन गोहाना	११००/-
श्री वीर सैन मनाज कुमार जैन गली न० १२ कैलाश नगर	११००/-
ला० सुमत प्रसाद सुखमाल चन्द जैन छपरौली	५०१/-
ला० खेम चन्द विनाद कुमार जैन छपरौली	५०१/-
श्रीमनी रूपकली धर्मपत्नी श्री प्रेम चन्द जैन छपरौली	५०१/-
पदम चन्द जैन नारायण गढ अम्बाला	५०१/-
नानूमल विनोद कुमार जैन बडौत	५०१/-
श्रीमती राजबाला धर्मपत्नी भोपाल सिह जैन छपरौली	५०१/-
गुप्तदान	५०१/-
गुप्तदान	२५०/-